

आर्य सन्देश साप्ताहिक



डॉ. सत्यकेतु स्मृति अंक

सूखी सब्जियों के लिये बेहतरीन मसाला



एम डी एच

चना मसाला

मसालेदार सफेद चनों का आनन्द लेना हो या आलू, प्याज, भिंडी, करेला, बैंगन आदि का मसाले से भरी सूखी सब्जी का स्वाद...

एम.डी.एच. चना मसाला से पिंडी चने बनाइये या अन्य सूखी सब्जियां और फिर देखिये अपने मेहमानों को और घर वालों को....

अगले खाने का बेसब्री से इन्तजार करेंगे।

महाशियां दी हट्टी प्राइवेट लिमिटेड
के अन्य उत्कृष्ट उत्पादन

एम.डी.एच. किचन किंग, चाट मसाला गरम मसाला, देगी मिर्च आदि





आर्यसन्देश



डा० सत्यकेतु विद्यालंकार स्मृति अंक

१७ व २४ सितम्बर १९८६

वर्ष : १२

अंक : ४५ व ४६

दयानन्दाब्द : १६५

सृष्टि संवत् : १९७२९४९०९०

प्रकाशक :

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

१५ हनुमान् रोड, नई दिल्ली-११०००१

दूरभाष : ३१०१४०

- परामर्श
डा० धर्मपाल

- सम्पादन सहयोग
पं० क्षितीश वेदालंकार
पं० नरेन्द्र विद्यावाचस्पति
श्री विद्यासागर विद्यालंकार
श्री सुभाष विद्यालंकार
श्री अजय भल्ला
श्री वेदव्रत शर्मा
पं० यशपाल 'सुधांशु'

- प्रधान सम्पादक
सूर्यदेव

- प्रबन्ध सम्पादक
मूलचन्द गुप्त

“आर्यसन्देश” साप्ताहिक
१५, हनुमान् रोड, नई दिल्ली-१

वार्षिक मूल्य : २५ रुपये
इस अंक का मूल्य : २० रुपये

मुद्रक :
वैदिक प्रेस

गली नं० १७, कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१



श्रेष्ठ विद्वानों

के प्रति

हमारा कर्त्तव्य

“मनुष्य को चाहिए कि जो इस जगत् में श्रेष्ठ विद्वान् हैं, उनके प्रति सदैव प्रिय वचन कहें, और अनुकूल आचरण करें और उनके गुण कर्म स्वभावों को अपने में ग्रहण करें।”

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

अनुक्रम

सम्पादकीय

६

सन्देश

स्वामी आनन्दबोध सरस्वती	६
प्रो० शेरसिंह	१०
श्री छोटूसिंह एडवोकेट	११
श्री महाशय धर्मपाल	१२
श्री रामनाथ सहगल	१३
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	१४
श्री दरबारी लाल	१५
डा० नारायणदत्त पालीवाल	१६

जीवन वृत्त

कोटि प्रणाम (कविता)
जीवन-पथ पर

श्री राघेश्याम 'आर्य'	१८
	१९

व्यक्तित्व—संस्मरण—श्रद्धांजलि

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार (कविता)

सत्यभूषण 'शांत'	४२
प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार	४३
प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार	४६
श्री मनोहर विद्यालंकार	५०
डा० जवरसिंह सेंगर	५४
डा० प्रभात शास्त्री	५८
डा० जयदेव वेदालंकार	६०
डा० रघुराज गुप्त	६३
डा० महेश विद्यालंकार	६८
डा० रामनाथ वेदालंकार	७१
पं० क्षेमचन्द्र 'सुमन'	७३
श्रीमती कमला सांकृत्यायन	७५
डा० कमला प्रधान	८०
श्रीमती लता गुप्ता	८१
श्रीमती शान्ता 'अमरनाथ'	८३
डा० प्रशान्त वेदालंकार	८४
पं० श्यामसुन्दर स्नातक	८७
श्री सूर्यमोहन	८८
श्री एस० एन० गुप्त	९०
श्री शशि शेखर	९१
श्रीमती सुशीला देवी	९२
श्री विश्व रजन	९५
डा० (श्रीमती) महास्वेता चतुर्वेदी	९८

श्रद्धा सुमन समर्पण (कविता)

आर्यसमाज का इतिहास—सामान्य परिचय एवं मूल्यांकन

सत्यकेतु की प्रेरणा का मन्त्रगीत (कविता)

देवनारायण भारद्वाज १००

आर्यसमाज का इतिहास—क्या, क्यों, कैसे

पं० क्षितीश वेदालंकार १०१

साहित्य—चिन्तन

आर्यसमाज इतिहास रचयिता (कविता)

श्री कस्तूरचन्द 'धनसार' १६६

एक दीप्त प्रतिभावान् व्यक्ति

वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत १६७

कालजयी मंजुल अनुबन्ध (कविता)

प्रो० सारस्वत मोहन 'मनीषी' १७२

डा० सत्यकेतु विषयक संस्मरण

स्व० राहुल सांकृत्यायन १७३

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की साहित्य साधना

प्रो० भवानीलाल भारतीय १७६

सत्यकेतु सप्तक (कविता)

प्रणव शास्त्री १८४

डा० सत्यकेतु के ऐतिहासिक उपन्यास

डा० विष्णुदत्त राकेश १८५

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार का दार्शनिक पक्ष

प्रो० रत्नसिंह २०२

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार और पूर्व मध्यकालीन इतिहास

विनोदचन्द्र सिन्हा २०८

डा० सत्यकेतु का राजनैतिक दर्शन

डा० शान्ता महोत्रा २११

डा० सत्यकेतु और विश्व इतिहास की प्रस्तुति

नरेन्द्र विद्यावाचस्पति २१६

वैदिक दर्शन एवं भारतीय-संस्कृति तथा सत्यकेतु

आचार्य सत्यव्रत राजेश २२१

सारस्वती के वरद पुत्र—सत्यकेतु

सुभाष विद्यालंकार २२१



सुप्रसिद्ध इतिहासकार,

लेखनी के धनी,

वैदिक विद्वान्



डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

भारतीय पुनर्जागरण में आर्यसमाज का योगदान अद्वितीय है। आर्यसमाज ने उसे एक विशिष्ट संवल एवं प्रबल प्रवाह प्रदान किया। समाज सुधार एवं जन जागरण करने में इस आन्दोलन का स्थान सदैव स्मरणीय रहेगा, क्योंकि यह आंदोलन क्रांति का तो है, पर यह अपनी परम्पराओं से सुसम्पृक्त है। इसकी विचार-धारा में वैदिक विचारणा तथा सांस्कृतिक मनीषा अनुस्यूत है। प्राचीन वैदिक ज्ञान को पुनः प्रचलित करने में इसने विशेष कार्य किया और इसका साक्षात् प्रमाण एवं अभिनव रूप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय है। इस संस्था में वेद के पारंगत विद्वानों को तो संरक्षण मिला ही, आयुर्वेद एवं अन्यान्य वैदिक विद्याओं एवं उनके स्वरूपों को भी संरक्षित करने का तथा संरचित करने का श्लाघ्य प्रयास यहाँ हुआ है। इसी परम्परा के संवाहक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार थे। वे स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के समय में ही गुरुकुल में प्रविष्ट हुए थे। यह संयोग ही है कि जहाँ से इस मनीषी विचारक ने अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ की थी, वहीं पर उनकी ऐहिक जीवन लीला समाप्त भी हुई।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध इतिहासकार, वैदिक विद्वान् एवं विख्यात साहित्यकार डा० सत्यकेतु जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे गुरुकुल कांगड़ी में छात्र रहे, प्राध्यापक रहे, विभागाध्यक्ष रहे, कुलपति रहे तथा संस्था के सर्वोच्च अधिकारी कुलाधिपति भी रहे। गुरुकुल के विषय में उनका अपना एक स्वप्न था कि यह संस्था प्राच्यविद्याओं के शोधसंस्थान के रूप में उच्चतम स्थान प्राप्त करे। के

आजीवन इसके लिए प्रयत्नशील रहे ।

डा० सत्यकेतु का जन्म 19 सितम्बर 1903 को गाँव आलमपुर, पोस्ट आफिस रामपुर, जिला सहारनपुर, उत्तर प्रदेश में हुआ था । वे गुरुकुल कांगड़ी से स्नातक तथा पेरिस से डी० लिट थे । उनका निधन १६ मार्च १९८६ को गुरुकुल कांगड़ी जाते समय सड़क दुर्घटना में हुआ । उनके सुदीर्घ जीवन की अनेक भाँकियाँ, मनोरम पृष्ठ इस विशेषांक में संगृहीत हैं । अधिकारी विद्वानों ने उनके जीवन, व्यक्तित्व, कर्तृत्व एवं कृतित्व के विषय में लेख लिखे हैं कुछ लेख देर से मिले जिन्हें हम इस अंक में सम्मिलित नहीं कर पाए । कुछ लेख अत्यधिक लंबे थे, जिन्हें सम्पादित करके छोटा करना पड़ा । कुछ लेखकों के संस्मरणों में पुनरावृत्तियाँ थीं, उनको हटा दिया गया । उसी मनीषी के लिए, आत्मीयों द्वारा लिखी किसी भी पंक्ति को छोड़ना हमारे लिए दुष्कर कार्य था ।

इस स्मृति अंक को हमने चार भागों में बाँटा है—(१) श्रद्धासुमन और संस्मरण, (२) जीवन वृत्त, (३) आर्यसमाज का इतिहास-सात खंडों में लिखे उनके इतिहास का सामान्य परिचय एवं मूल्यांकन, (४) इतिहास, राजनीति, धर्म, दर्शन तथा साहित्य संबंधी उनकी कृतियों पर आधृत शोधलेख । हम उन सभी विद्वानों का धन्यवाद करना अपना पुनीत कर्तव्य मानते हैं, जिन्होंने अपने लेखादि भेजकर हमें सहयोग दिया है ।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार को अनेक संस्थाओं की ओर से सम्मानित किया गया था । मंगलाप्रसाद पारितोषिक, पं० मोतीलाल नेहरू पुरस्कार, पं० गोविन्द वल्लभ पन्त पुरस्कार, हिन्दी अकादमी दिल्ली पुरस्कार, आर्यसमाजों व शिक्षा-संस्थाओं द्वारा प्रदत्त अनेक पुरस्कार, उन्हें प्राप्त हुए थे । हमारी हार्दिक इच्छा थी कि इन पुरस्कारों के समय के चित्रों तथा अभिनन्दन पत्रों को हम अविकल रूप से प्रकाशित करें, परंतु यह सम्भव न हो सका । उनके ये चित्र और सभी अवसरों के प्रशस्ति पत्र हमें मिल न सके । अधूरी बातें लिखना हमें अच्छा नहीं लगा । गुरुकुल कांगड़ी में कुछ विवरण एवं चित्र उपलब्ध हैं जो उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को आभावान् बनाते हैं । हमारा प्रयास रहेगा कि भविष्य में उनके विषय में अधिक शोध किए जाएँ और उन्हें प्रकाशित तथा प्रचारित किया जाए ।

डा० साहब के जीवन के कुछ आयामों को इस विशेषांक में सम्मिलित नहीं किया जा सका । वे उत्तर प्रदेश विधान परिषद् के सदस्य थे । उन्होंने कुछ कृतियों के अनुवाद किए थे । वे कुछ समय पत्रकार भी रहे थे । उन्होंने अनेक यात्राएँ की थीं । उन्होंने यायावर साहित्य का सृजन किया था । ये उनके जीवन

के ऐसे उज्ज्वल पक्ष थे, जिनके विषय में शोधसामग्री देना हमारा कर्त्तव्य था । तथापि हमने अपनी ओर से उस महान् व्यक्ति की स्मृति में श्रद्धा और अर्चना के साथ इस ग्रंथ का प्रकाशन किया है । इस ग्रंथ का प्रकाशन करके हम स्वयं को गौरवान्वित भी महसूस करते हैं । हमें इस बात की प्रसन्नता है कि डा० सत्यकेतु जैसे देदीप्यमान नक्षत्र का नाम हमारे पत्र के साथ जुड़ा है ।

उस आर्य मनीषी, गवेषक, इतिहासकार, साहित्यकार अनथक कार्यकर्त्ता एवं सफल प्रशासक को हमारे श्रद्धासुमन अर्पित हैं ।



डा० सत्यकेतु आर्यसमाज की महान् विभूति थे

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार आर्यसमाज की उन विभूतियों में से एक थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन महर्षि दयानन्द के सिद्धांतों के प्रचार और वेद के पवित्र संदेश को जन-जन तक पहुंचाने का कार्य किया। उन्होंने भारत के इतिहास का पुनर्लेखन तथा आर्यसमाज के बृहद् इतिहास को ७ खंडों में लिख कर जो कीर्तिमान स्थापित किया उसके लिए सारा आर्य जगत् उनका ऋणी रहेगा। इस ग्रन्थ के माध्यम से वह स्वयं भी इतिहास पुरुष बन गए हैं।

डा० सत्यकेतु जी ने गुरुकुल कांगड़ी का स्नातक होने के अनन्तर अनेक देशों का भ्रमण किया। जहाँ भी गए वहाँ वह महर्षि दयानन्द, वेद तथा वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में संलग्न रहे।

डा० साहव गुरुकुल कांगड़ी में कई वर्षों तक प्राध्यापक भी रहे। उसके पश्चात् उपकुलपति तथा बाद में कुलाधिपति नियुक्त हुए।

उनका सारा जीवन आर्यसमाज की सेवा करते हुए कुलभूमि के गौरव की पुनः स्थापना में समर्पित रहा। यही कारण है कि गुरुकुल कांगड़ी की पुण्य भूमि में अपनी स्मृति को वह सदैव के लिए छोड़ गए और वहीं दिवंगत होकर गुरुकुल कांगड़ी के साथ अपने नाम को भी सदा के लिए अमर कर गए उस महान् विभूति के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

आनन्दबोध सरस्वती
प्रधान-सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

अमृतवर्षी डा० सत्यकेतु

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान्, प्रख्यात साहित्यकार, गवेषक इतिहासकार, मनीषी डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के आकस्मिक निधन से हम सभी हतप्रभ रह गए। डा० सत्यकेतु का सम्पूर्ण जीवन अनवरत साधना एवं संघर्षों का जीवन था। उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं प्रज्ञा के बल पर गुरुकुल कांगड़ी के गौरव में वृद्धि की थी। उन्हें पेरिस से डी० लिट की उपाधि मिली थी और वह भी गुरुकुल कांगड़ी में प्राप्त पूर्व योग्यताओं के आधार पर। यह सभी के लिए गौरव की बात है।

डा० सत्यकेतु ने जहां भारतीय इतिहास को हिन्दी माध्यम में लिखकर उसे नये आयाम दिये, वहां आर्यसमाज के साहित्य को लिखकर भी आने वाली पीढ़ियों के लिए इस गौरवशाली अध्याय को सुरक्षित कर दिया। देश विदेश में आच्छादित आर्यसमाज के विटप-वितान का जिसकी छाया में सम्पूर्ण विश्व का जनमानस आह्लादित होता है, उन्होंने सुन्दर सरस एवं सम्यक् विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन के १८५७ के समय को भी रेखांकित किया है, जब भारत में स्वाधीनता का पहला संग्राम हुआ था। इससे सम्बन्धित अभिलेखों की खोज उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी तथा इण्डिया आफिस लाइब्रेरी और पब्लिक रिकार्ड आफिस लन्दन में अनथक प्रयास के बाद की थी।

वह मनीषी आज हमारे बीच नहीं है, परन्तु उनके विचार उनका कर्तृत्व आज भी हमारा मार्गदर्शक है। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों का मैं साधुवाद करता हूँ कि उन्होंने उस महापुरुष के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित कराने का उल्लेखनीय कार्य किया है।

—प्रो० शेर सिंह

कुलाधिपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

एम-१४ साफेत

नई दिल्ली-१७

सन्देश

आर्यसमाज का प्रमुख पत्र "आर्यसन्देश" "डा० सत्यकेतु विद्यालंकार स्मृति श्रृंग" प्रकाशित कर रहा है, यह बड़े हर्ष का विषय है। मेरा यह सौभाग्य है— कि ऐसे त्यागी, तपस्वी, विद्वान् नेता के सम्मान में, मैं दो शब्द लिखूँ। दिनांक— ३०, ३१ दिसम्बर, ८८ एवं १ जनवरी ८९ को आर्य महासम्मेलन अलवर के अवसर पर देश-विदेश के हजारों आर्य नर-नारियों के बीच उनका नागरिक-अभिनन्दन किया गया था तथा लोकसभा अव्यक्त माननीय श्री बलराम जाखड़ के कर कमलों द्वारा उनके अमर ग्रन्थ "आर्यसमाज का इतिहास" के सातों भागों का विमोचन किया गया था। श्री बलराम जाखड़ ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा था कि डा० सत्यकेतु जी ने अपने जीवन में लेखनी के द्वारा आर्यसमाज की जो सेवा की है, उसे कभी भी इतिहास भुला नहीं पायेगा। वे सदैव याद किए जावेंगे। उस अवसर पर डा० साहव ने घोषणा की थी कि उनका संकल्प है कि आर्यसमाज के इतिहास को भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित करेंगे। आज वह हमारे बीच नहीं है। काश ! भगवान् उन्हें कुछ दिन और जीवन प्रदान करते !

छोटू सिंह एडवोकेट

प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार सुप्रसिद्ध इतिहासकार, साहित्यकार तो थे ही, वे व्यावहारिक एवं सांसारिक प्राणी भी थे उन्होंने साहित्य साधना के साथ-साथ आर्य-समाज के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। उनका जीवन भारतीय अर्वाचीन शैली के अनुरूप शुद्ध एवं सात्विक था। वैदिक धर्म एवं संस्कृति के उन्नयन के लिए वे सदैव चिन्तनशील तथा कर्मशील रहे। कुलपति और कुलाधिपति के रूप में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के इतिहास में उनका योगदान सदैव स्मरण किया जायेगा।

मुझे वे क्षण स्मरण हैं जब वे मेरे पास आर्यसमाज के इतिहास के प्रकाशन से पूर्व आए थे और उन्होंने अपनी सरस तथा सरल शैली में, सौम्य मुद्रा में अपनी योजना प्रस्तुत की थी। मैं उनके व्यक्तित्व से अभिभूत रहा हूँ। वे आर्य केन्द्रीय सभा के उत्सवों में अनेक बार वक्ता तथा अध्यक्ष के रूप में सम्मिलित हुए। उस महामानव की स्मृति में आज भी हमारा हृदय भर आता है। उनकी स्मृति में दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा ने "आर्यसंदेश" का "डा० सत्यकेतु स्मृति अंक" के प्रकाशन का स्तुत्य कार्य किया है।

उस महामानव के प्रति मेरे श्रद्धा सुमन अर्पित हैं।

महाशय धर्मपाल
प्रधान आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली

सन्देश

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मुख पत्र "आर्यसन्देश" का १७-२४ सितम्बर ८९ का संयुक्तांक "डा० सत्यकेतु विद्यालंकार स्मृति के अंक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक, इतिहास के ख्यातिप्राप्त विद्वान्, मंगला प्रसाद पारितोषक विजेता, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश सरकार द्वारा सम्मानित तथा पुरस्कृत, इतिहास के विषय से अतिरिक्त राजनीति, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि के ही नहीं अपितु ऐतिहासिक उग्र्यासों के भी लेखक प्रो० सत्यकेतु जी विद्यालंकार जी का समस्त आर्यजगत् ऋणी है।

सत्यकेतु जी वर्षों गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति एवं कुलाधिपति रहे। प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के, विधान परिषद, उत्तर प्रदेश के सदस्य रहे। दलितोद्धार सभा के मन्त्री पद को सुशोभित किया। अन्तिम क्षण में "आर्यसमाज का इतिहास" सात खण्डों में प्रकाशित कर आर्यसमाज तथा स्वयं को अमर कर गये।

रामनाथ सहगल

मन्त्री

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली

सन्देश

आर्यसमाज में अनेक विद्वान् साहित्यकार हुए—कुछ आज भी हैं। उन्होंने आर्यसमाज और वैदिक धर्म की जो सेवा की उसे भुलाया नहीं जा सकता। किन्तु जिन्हें अपने साहित्य के बल पर आर्यसमाजेतर क्षेत्रों में मान्यता मिली, वे अधिक नहीं हैं। दिवंगत विद्वानों में पं० भगवद्दत्त, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, और पं० गंगा-प्रसाद उपाध्याय तथा वर्तमान में आचार्य उदयवीर शास्त्री, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी सत्यप्रकाश तथा श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जैसे विद्वानों की सूची बहुत लम्बी नहीं है। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ऐसे ही विद्वानों में एक थे।

साहित्य साधना प्रायः एकान्त में बैठ कर होती है। इस कारण वे आर्यसमाज के मंच पर बहुत अधिक दिखाई नहीं देते थे। परन्तु जिन्हें उन्हें सुनने का अवसर मिला है वे जानते हैं कि जैसी सशक्त उनकी लेखनी थी, वैसी ही प्रखर उनकी वाणी भी थी।

नेताओं के स्मारक बनते हैं, विद्वानों के नहीं। उनकी कालजयी कृतियाँ ही उनका स्मारक होती हैं, जो ईट-पत्थरों से बने वाले स्मारकों की तुलना में कहीं अधिक स्थायी होती हैं। डा० सत्यकेतु जी जाते-जाते अपना स्मृति चिह्न आर्यसमाज को दे गये हैं—स्वलिखित, स्वसंपादित तथा स्वप्रकाशित आर्यसमाज का विशाल-काय इतिहास। वही उनका कीर्ति-स्तम्भ है।

—विद्यानन्द सरस्वती

डो०-१४/१६ माडल टाउन, दिल्ली

सन्देश

डा० सत्यकेतु एक बहुत महान् शिक्षा विशेषज्ञ एवं
प्रगाढ़ पंडित थे और उन्होंने अपनी विशेष प्रतिभा से जो
“आर्यसमाज का इतिहास” लिखा है, वह वस्तुतः एक
महान् कार्य संसार भर में माना जायेगा ।

उनकी स्मृति में आर्यसन्देश के विशेषांक का प्रकाशन
अत्यन्त सराहनीय है ।

सबदीय,
दरबारी लाल
संगठन सचिव
डी०ए०वी० कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति
नई दिल्ली

सन्देश

यह बड़े हर्ष का विषय है कि "आर्यसंदेश" डा० सत्यकेतु विद्यालंकार विशेषांक प्रकाशित कर रहा है।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से हम सभी परिचित हैं। जहाँ वे ख्याति प्राप्त इतिहासकार थे, वहीं एक मूर्धन्य वैदिक विद्वान् के रूप में उनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता। उनके विचारों से नई पीढ़ी को सदैव प्रेरणा मिलेगी। हिन्दी के प्रचार और प्रसार की दिशा में भी उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सेवा की। उनके साहित्य में जहाँ लोक-मंगल की भावना है वहीं मानवीय संवेदनाओं से जुड़ी हुई अमिव्यक्ति हमें एक ऐसे घरातल पर पहुँचा देती है जहाँ अपने-पराये या छोटे-बड़े का अन्तर नहीं रह जाता। यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

यह विशेषांक उनके प्रति एक सच्ची श्रद्धांजलि के रूप में सामने आयेगा और इसमें प्रकाशित सामग्री उनके जीवन और लेखन से संबंधित सभी पहलुओं को जन-जन तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होगी। इस प्रकार का प्रयास स्तुत्य है। इन शब्दों के साथ मैं उन्हें अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और इस विशेषांक की सफलता की कामना करता हूँ।

डा० वाराणसदात्त पालीवाल

सचिव

हिन्दी अकादमी दिल्ली

जीवनवृत्त

जीवन पथ पर

रामजी दास

•
प्रद्युम्न

•
सत्यकेतु



कोटि प्रणाम

—राधेश्याम 'आर्य' विद्यावाचस्पति

हे प्रबुद्ध इतिहास सुलेखक !
पावन वेदों के विद्वान् !
उच्चकोटि के लेख तुम्हारे !
करते स्थापित प्रतिमान ॥

रहे समर्पित ऋषि चरणों में,
किया आर्ष ग्रन्थों का प्रणयन ।
मूर्धन्य विद्वत्ता तुम्हारी !
करती सत् साहित्य उन्नयन ॥

मेधा प्रखर तुम्हारी शुचितम—
देती रही नवल सन्देश ।
लौह लेखनी चली अभय हो—
देती मानवता उपदेश ।

तुमने निर्मित किया नवल पथ
“सत्यकेतु विद्यालंकार ।”
तुम ने दिया जगत् को पावन—
सच्चे साहित्य का अभिसार ।

जीवन सदा रहा सादा ही—
सत्य-शिवम्, सुन्दर ललाम ।
वैदिक पथ के अहे प्रणेता !
आज तुम्हें है कोटि प्रणाम ॥

जीवन-पथ पर

उत्तर प्रदेश की पश्चिमी सीमा जहाँ हरियाणा से मिलती है वहाँ जिला सहारनपुर स्थित है। यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है तथा यहाँ के फलों में अपूर्व मिठास होता है। सहारनपुर से चकरोता जाने वाली सड़क पर बीस मील दूर गंडेवर गाँव है जहाँ यमुना की नहर बह रही है। इस गाँव से नहर के किनारे-किनारे तीन-चार मील दूर आलमपुर गाँव है। यहाँ सड़क के दोनों ओर आम और पाकड़ के खूब घने बाग हैं। यहाँ से कुछ दूरी पर शिवालिक पर्वतमाला की चोटियाँ सिर उठाये खड़ी हैं। सड़क के साथ-साथ ही नहर जाती है। इस मनोरम परिवेश में बसे गाँव आलमपुर में डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार का जन्म आश्विन मास में १९ सितम्बर १९०३ को हुआ था। उनके पिता ला० आशाराम जी एक कर्मठ सहृदय किसान थे। उनके पास २०० बीघा जमीन में खेती होती थी। इनके यहाँ कई पुत्रों ने जन्म लिया पर दैवयोग से ये बाल्यावस्था में काल-कवलित हो गये। १८९९ में एक सुमुखि पुत्री ने जन्म लिया, उसके चार वर्ष बाद बालक रामजीदास अवतरित हुए। जो आगे चलकर “सत्यकेतु” नाम से प्रसिद्ध हुए। यद्यपि वे जन्म समय पूर्ण स्वस्थ थे फिर भी चोट खाये माता-पिता का हृदय सदा सशंकित रहता था। यह गाँव भी अन्य गाँवों के समान चिकित्सा के साधनों से शून्य था। चिकित्सा के नाम पर मस्जिद के मौलवी ही आमन्त्रित जल फूँका हुआ पानी-और ताबीज दे देते थे। उस युग में बच्चों की शिक्षा भी मस्जिद में ही हुआ करती थी। बालक रामजीदास ने मस्जिद में हिन्दी वर्णमाला और गिनती सीखी। उन दिनों स्वामी श्रद्धानन्द ने कांगड़ी गाँव में गुरुकुल की स्थापना की थी। बड़े ऊँचे आदर्शों और उद्देश्यों से यह संस्था खोली गई थी। आर्य जनता को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं कि गुरुकुल से स्नातक निकलकर एक नये आर्य संसार की रचना करेंगे। उन दिनों अनेक आर्य उपदेशक गाँव-गाँव में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के गीत गाते घूमते थे। ऐसे ही एक उपदेशक आलमपुर गाँव भी पहुँचे। ला० आशाराम जी ने जब उपदेशक जी का व्याख्यान सुना तो अपने लाड़ले बेटे को गुरुकुल भेजने का निश्चय किया। एक दिन वे सपरिवार कांगड़ी के लिए प्रस्थान कर गये। उन दिनों गुरुकुल में प्रवेश आसान न था। उस वर्ष प्रथम श्रेणी में केवल पच्चीस विद्यार्थी लिये जाने थे और प्रवेश के लिए आये हुए विद्यार्थियों की संख्या एक सौ पच्चीस थी। पंजाब और दिल्ली के संभ्रान्त परिवार बच्चों

को दाखिल कराने आए थे। उनके बच्चे खूब सजे-धजे तथा हूँट-पुँट थे। इस मीड को देखकर लाला जी का दिल परेशान होने लगा पर वे हार मानने वाले न थे। जो व्यक्ति अपने बच्चे के लिए पूरे चौदह वर्ष की फीस का रुपया अग्रिम जमा करा दे उसके बच्चे को प्रवेश अवश्य मिल सकता था। लाला जी ने इस राशि का भी प्रवन्ध कर लिया। अब बच्चों की परीक्षा शुरू हुई। बालक रामजी-दास ने हिन्दी टेस्ट में कोई शब्द छोटी 'इ' से लिखा। परीक्षक के चेहरे पर उसे देखकर एक असंतोष का सा भाव आया। सात साल का छोटा बच्चा उस भाव को समझ गया। वह बड़े आत्मविश्वास से बोला, "कोई को छोटी और बड़ी दोनों 'इ' से लिख सकते हैं, मैंने ठीक लिखा है।" परीक्षक महोदय छोटे से बच्चे की तीक्ष्ण बुद्धि से बहुत प्रभावित हुए और रामजीदास सन् १९१० के मार्च मास में गुरुकुल के ब्रह्मचारी बन गये।

अब उनका तपस्यामय जीवन प्रारम्भ हुआ। उस समय मिट्टी की कच्ची दीवारों पर फूस के छप्पर डालकर ब्रह्मचारियों के निवास के लिए लम्बे-लम्बे कमरे बना दिये गये थे। मिट्टी की दीवारों में तख्ते लगाकर अलमारियाँ लगा दी गई थीं। लकड़ी का एक तख्त सोने के लिए, अलमारी का एक खाना किताबें तथा कापियाँ रखने के लिए और भोजन के लिए एक लोटा व कटोरा। वेशभूषा के लिए कुरते और धोतियाँ मिलती थीं। पैर में लकड़ी की चट्टी—जिसका अब चलन प्रायः नहीं रहा है। इन ब्रह्मचारियों को प्रातः चार बजे जगा दिया जाता था। चाहे कड़ाके की सर्दी हो या तूफानी वर्षा अथवा गर्मी। छोटे-छोटे बच्चे हाथ में लोटा लेकर जंगल में शौच के लिए जाते थे। बहुत से बच्चे तो नींद में इतने वेसुध होते थे कि उन्हें शौच तो क्या आती भी पड़े के पिछवाड़े घास में एक नींद ले लेते थे। शौच से लौटने पर उन्हें स्नानागार ले जाया जाता। स्नानागार में पैंतीस फुट लम्बी चार फुट चौड़ी और चार फुट गहरी हौदी बनी थी, जो ठण्डे पानी से भर दी जाती थी। पास में एक कुँआ था, उसमें चरस लगा था। इस हौदी को भर दिया जाता था। स्नानागार चारों ओर से बन्द होता था। ऊपर टीन की छत थी। दीवारों में कपड़े रखने की खूंटियाँ लगी थीं। मंजन या ब्रुक के स्थान पर उन्हें नीम-बबूल की दातुन मिलती थी। जिसे उल्टा सीधा चबाकर मुख शुद्धि की जाती थी। फिर हौदी के चारों ओर कतार में खड़े होकर ब्रह्मचारी लोटे भरकर स्नान करते थे। खुरदरे कपड़े के टुकड़े से—जिसे गुरुकुल में उपरना कहते थे—शरीर पोंछकर नया सूखा लंगोट पहनकर कपड़े पहन लेते थे। एक अधिष्ठाता बच्चों की देखभाल करता था। उसका कार्य प्रातः बच्चों को जगाना, स्नानादि नित्यकर्म कराना था। स्नान के बाद सन्ध्या-हवन, अवकाश की पढ़ाई भी वही कराता था। बच्चों को मन्त्र व श्लोक याद कराना आदि

कार्य भी अधिष्ठाता को ही कराने होते थे। साधारणतया ये अधिष्ठाता कम पढ़े लिखे होते थे और कम वेतन पर रखे जाते थे। इनमें कुछ का व्यवहार बहुत कठोर होता था। एक बार बालक रामजीदास ने किसी दूसरे लड़के का लंगोट गलती से पहन लिया। हर बच्चे के कपड़े पहचान के लिए विशेष चिह्न से चिह्नित होते थे। निर्दय अधिष्ठाता ने उनके सिर पर लोटे से प्रहार करते हुए वह लंगोट उतारकर उनको अपना लंगोट पहनने की आज्ञा दी। बालकों के प्रारम्भिक दो-तीन वर्ष काफी कष्ट से बीतते थे। फिर उन्हें उसी जीवन में रस ग्राने लग जाता था। फिर उस युग में लोग “लालनाश्रयिणो दोषाः” के सिद्धान्त पर भी विश्वास करते थे।

इस तपस्यामय दिनचर्या के साथ ब्रह्मचारियों को भोजन सादा पौष्टिक एवं संतुलित मिलता था। प्रत्येक को साढ़े सात सौ ग्राम दूध पचास ग्राम शुद्ध घी, साठ ग्राम दाल, पाँच सौ ग्राम आटा, ढाई सौ ग्राम सब्जी और मौसमी फल मिलते थे। भोजन पूर्ण शाकाहारी और मिर्च मसालों से रहित होता था। दो समय भोजन और दो समय नाश्ता दिया जाता था। गणित, भूगोल, इतिहास, रसायन, भौतिक विज्ञान, हिन्दी आदि सभी विषय पढ़ाये जाते थे। संस्कृत की पढ़ाई पर विशेष जोर था। व्यायाम के लिए प्राणायाम, योगसन, हाकी, फुटबाल, तैरना आदि अनिवार्य थे। कुछ समय के लिए दो-तीन घोड़े भी रखे गये थे। कई अधिष्ठाता उनको अच्छी-अच्छी बातें सुनाते थे।

रामजीदास से प्रद्युम्न

चौथी कक्षा के बाद से ब्रह्मचारी रामजीदास—अब उनका नाम प्रद्युम्न रख दिया गया था। वे अपनी कक्षा में प्रथम ग्राने लगे। और इनका नाम आश्चर्यजनक में उन्नति पड़ गया, उनको पढ़ने तैरने और सैर का शौक था। वैसे तो वे सब विषयों में रुचि लेते थे, पर लेखन और भाषण उनके प्रिय विषय थे। आठवीं कक्षा में पहुंचने पर वे वाग्विनी सभा में बड़े ओजस्वी और सारगर्भित भाषण दिया करते थे। कई विद्यार्थी मिलकर हस्तलिखित पत्रिका भी निकालते थे। जिसमें लेखों कविताओं और कहानियों तथा रेखाचित्रों के साथ उसका मुख्यपृष्ठ रंग-विरंगी बेलों द्वारा हाथ से बनाया जाता था, तथा एक या दो चित्र भी तूलिका से बनाये जाते थे। गुरुकुल कांगड़ी के उस वन में शेर, मालू, हाथी आदि जंगली जानवर निवास करते थे। यद्यपि जंगली जानवरों को ब्रह्मचारी दूर से देख लेते थे पर उन्होंने उस वन में कभी किसी गुरुकुल निवासी पर हमला नहीं किया। हाँ—मालू आदि द्वारा चोट खाये हुए गाँवों के वासी कई बार गुरुकुल के अस्पताल में इलाज करवाने पहुंच जाते थे। गुरुकुल में अपना पूरा समय निःशुल्क देने वाले

एक डाक्टर और कम्पाउन्डर रहते थे ।

तिलक स्वराज्य फण्ड

जब १९१६ में महात्मा गांधी अफ्रीका से भारत आये तो वे अपना कार्य-क्षेत्र भारत को ही बनाना चाहते थे। वे यहाँ दक्षिण अफ्रीका के फानिक्स आश्रम जैसा एक आश्रम स्थापित करना चाहते थे।। उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी की वड़ी घूम थी। अतः एक दिन सवेरे गांधी जी गुरुकुल पहुंच गये। कुछ दिन वहाँ रहकर वहाँ के वातावरण से वे बहुत प्रभावित हुए। वहाँ का तपस्यामय सादा जीवन और वातावरण उनको बहुत भाया। देवदास गांधी समेत उनके कई पुत्र वहाँ अतिथि छात्र के रूप में रहे। संवेदनशील ब्र० प्रद्युम्न के मन पर इस काल में गांधीवादी विचार-धारा का बहुत प्रभाव पड़ा। वे गांधी जी के पत्र यंग इण्डिया और नव जीवन के नियमित पाठक बन गये। कुछ समय बाद गांधी जी ने तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए एक लाख रुपयों की अपील की। इतनी राशि तो गांधी जी का भक्त कोई भी धनपति अकेला ही दे सकता था। लेकिन गांधीजी स्वराज्य की अलख देश के घर-घर में जगाना चाहते थे। उन्होंने कहा कि वे दो पैसे से अधिक एक व्यक्ति से नहीं लेंगे। किशोर वय ब्र० प्रद्युम्न ने अपने सहपाठियों की एक टोली बनाई और गुरुकुल के उत्तर में बसे गांवों शामपुर, कांगड़ी और गाजीवाला के प्रत्येक घर से दो-दो पैसे लेकर कई सौ रुपये जमा किये, पर उनका संकल्प गांधी जी को एक हजार रुपयों की राशि भेजने का था। उन दिनों हरिद्वार में गंग-नहर निकाली जा रही थी। उस पर दूधिया बंध बन रहा था। अवकाश के समय उन्होंने अपने साथियों के साथ उस बांध पर काम करके दो आना रोज मजदूरी कर कुछ रुपया इकट्ठा किया। इसी वर्ष उन्होंने दसवीं की परीक्षा पास की। उन्हें दसवीं में सभी विषयों पर स्वर्ण तथा रजत पदक मिले। एक हजार की राशि में जो कमी रह गई थी वह उन्होंने अपने सारे पदक बेचकर पूरी की। तब गांधी जी ने नवजीवन में लिखा था—‘तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए मुझे बहुत सा धन मिला है। पर गुरुकुल कांगड़ी के एक ब्रह्मचारी प्रद्युम्न ने अपने साथियों के साथ गांव-गांव घूमकर गंग नहर पर मेहनत मजदूरी कर और अन्त में अपने पदक बेचकर जो धन-राशि मुझे भेजी है वह सबसे अधिक सात्त्विक और कीमती है।’

ग्यारहवीं कक्षा में पहुँचते-पहुँचते ब्रह्मचारी प्रद्युम्न की लेखनी खूब चलने लगी थी। ‘होनहार विरवान के होत चीकने पात’। उन्हीं दिनों सरकार की ओर से छात्रों की अखिल भारतीय निबन्ध-प्रतियोगिता आयोजित हुई। उसमें तीन सौ, दो सौ व एक सौ रुपयों के तीन पुरस्कार थे। ब्र० प्रद्युम्न ने सतरह वर्ष की अल्प आयु में इस प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार पाया। अब उनकी लेखनी और

भाषण शैली की धाक जमती गई और वे गुरुकुल के सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थियों में गिने जाने लगे ।

प्रद्युम्न से सत्यकेतु

उन्नीस सौ चौबीस के वर्ष में ब्र० प्रद्युम्न स्नातक बने । बौद्ध ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध के अनेक नामों में एक नाम सत्यकेतु भी है । ब्र० प्रद्युम्न ने इसी नाम को ग्रहण किया और उनके स्नातक प्रमाण-पत्र पर यही नाम लिखा गया । अब तक गुरुकुल के स्नातकों को रेशम के चोले मिलते थे । सत्यकेतु जी ने मांग रखी कि वे स्नातक की विद्यालंकार उपाधि खट्टर का चोला पहन कर ग्रहण करेंगे । अधिकारियों को उनकी मांग पर झुकना पड़ा और तब से कांगड़ी में स्नातकों को खट्टर के चोले में उपाधि दी जाने लगी ।

विद्यालंकार जी की उच्च योग्यता और प्रतिभा को दृष्टि में रखकर उन्हें गुरुकुल के कालेज विभाग में सहायक अध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया । उन्होंने कुछ समय तक इस पद पर योग्यता पूर्वक कार्य किया, पर उनकी तवियत में वैचैनी थी और वे गुरुकुल की दुनिया से बाहर भी विचरण करना चाहते थे । अतः उन्होंने दिल्ली से प्रकाशित समाचार पत्र अर्जुन में सहायक सम्पादक का कार्य भार संभाला ।

सरदार भगतसिंह का सान्निध्य

उन दिनों का वृत्तान्त सुनाते हुए वे कहा करते थे कि वर्तमान श्रद्धानन्द मार्ग पर पुलिस चौकी के पीछे अपने परिचितों का एक सावुन का कारखाना था, वहीं छत पर उन्हें एक कोठरी पाँच रुपया महीना किराये पर मिल गई । भोजन बाजार से होता था । एक दिन जब वे अपने समाचार-पत्र कार्यालय में बैठे थे तो एक लम्बे सुदर्शन युवक ने उनके गुरु प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का पत्र लाकर उनसे मिलना चाहा । उसमें लिखा था — कि पत्र लाने वाले सरदार भगतसिंह हैं । उनके रहने और भोजन की व्यवस्था कर दी जाय । उन्हें नाम के लिए नौकरी का प्रबन्ध भी कर दिया जाये, शेष अपने आने का प्रयोजन वे स्वयं बतायेंगे । सत्यकेतु जी अपने गुरु का आदेश कैसे टालते । उस छोटी सी कोठरी से चारपाई उठाकर बाहर रख दी गई और नीचे फर्श पर बिस्तरे लग गये । फिर वे अर्जुन के मालिक प्रो० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति के पास पहुँचे और सरदार भगतसिंह के लिए नौकरी की मांग की । पंडित जी ने कहा कि उनका पत्र घाटे में चल रहा है और उसमें उनकी आवश्यकता के लिए काफी स्टाफ है, पर भगतसिंह को तो एक आवरण मात्र की आवश्यकता थी जिससे वे पुलिस की निगाह में बेकार न समझे जायें ।

अतः पच्चीस रुपये माहवार पर वह भी केवल कागजों पर वहां काम करने लगे। एक दिन बातचीत के दौरान भगतसिंह ने सत्यकेतु जी को बताया कि वे क्रांतिकारी समाजवादी पार्टी का कार्यालय स्थापित करने दिल्ली आए हैं। उनके पास बड़ा सा लोहे का ट्रंक था जिसे खोलकर उन्होंने सत्यकेतु जी को दिखाया। वह इस पार्टी के परचों से भरा था। इसमें कुछ रिवाल्वर व कारतूस भी थे। श्री भगतसिंह सत्यकेतु जी के साथ परिस्थिति का जायजा लेते रहे, फिर एक दिन उन्होंने सत्यकेतु व जयदेव जी को लेकर लालकिले से उन परचों को बांटना शुरू किया और लाहौरी दरवाजे तक बांटते गए। कुछ बड़े सरकारी अफसरों व असेम्बली के मेम्बरो के नाम और पते लिफाफों पर लिखे गए। इन लिफाफों में ये परचे डालकर पोस्ट कर दिए। लिफाफों पर लिखे पते उलटे हाथ से लिखे गए थे ताकि लेख पहचाना न जा सके। अगले दिन सुबह 'अर्जुन' के कार्यालय में पुलिस आ घमकी। दरोगा ने पते लिखे वे लिफाफे सारे स्टाफ के सामने रख दिए और उनके लेख को मिलाने लगा। पर लेख इतना बिगाड़कर लिखा गया था कि वह पकड़ नहीं पाया। यद्यपि उसे सन्देह तो हो गया था। अब उसने सत्यकेतु जी से कहा कि हम तुम्हारे निवास स्थान की तलाशी लेंगे, तुम हमारे साथ चलो। भगतसिंह इस बीच साइकिल पर गये और उन्होंने कोठरी का ताला खोलकर बक्सा और सारा सामान पीछे कारखाने में छिपा दिया और ताला बन्द कर फिर आफिस आ गये। उन दिनों पुलिस घोड़े-तांगे से आती जाती थी। तांगे से जाने में जितना समय लगा उतने में भगतसिंह ने अपना सारा काम कर दिया था। कोठरी में पुलिस के हाथ कोई आपत्तिजनक वस्तु न आई। वह मन मसोस कर रह गई। उसने इन लोगों को चेतावनी दी कि तुम पुलिस को सूचना दिए बिना दिल्ली से बाहर कहीं नहीं जाओगे।

श्री भगतसिंह को अपने क्रांतिकारी मिशन के लिए फण्ड की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। इसके लिए दान मिलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। हथेली पर सिर लिये अत्यन्त उत्साही नौजवानों की यह टोली थी। अतः रुपये जुटाने के लिए डाका डालने की योजना बनने लगी और इसी योजना के अन्तर्गत चिर प्रसिद्ध काकोरी कांड में ट्रेन को लूटा गया। जिनमें श्री रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्लाह आदि कितने ही क्रांतिकारी पकड़े गये और फांसी पर चढ़े।

अमेरिकन प्रेसीडेंट जेम्स गारफील्ड ने एक बार अपने भाषण में कहा था कि "ह्वाइट हाउस की छत से वर्षा की एक बूंद गिरती है तो कौन कह सकता है कि वायु का भोका उस बूंद को एटलांटिक सागर में पहुँचायेगा या प्रशांत महासागर में।" मनुष्य जीवन भी पानी की उस बूंद की तरह ही है। परिस्थितियाँ किसी को कहीं और किसी

को कहीं ले जाती हैं। सत्यकेतु जी भी श्री भगतसिंह के साथ क्रांतिकारी गतिविधियों में और अधिक भाग लेते जाते, तो क्या यह प्रतिभा जेल के सीखचों में बन्द होकर नष्ट न हो जाती, पर मां सरस्वती को अपने इस पुत्र से साहित्य-साधना करानी थी। उनकी कलम अत्यन्त उच्चकोटि की रचनाएं करती थी। अतः भगतसिंह और उनके रास्ते अलग-अलग हो गये। भगतसिंह को लाहौर से बुलावा आ गया और फिर उन दोनों की मुलाकात कभी नहीं हुई। यहां एक घटना का उल्लेख अवश्य करना है। पंडित सत्यकेतु जी भी भगतसिंह को दिल्ली स्टेशन पर लाहौर की गाड़ी में बैठाने गए। उस दिन उस गाड़ी में भारी भीड़ थी, सारे स्टेशन के कई चक्कर लगाए। कहीं तिल घरने की भी जगह न थी। एक डिब्बा मिलिटरी के जवानों ने घेर रखा था। उस पर सैनिकों के लिए आरक्षण की पट्टी न लगी थी। इस डिब्बे में अपेक्षाकृत कम भीड़ थी, पर सीमा रेखा के लम्बे चौड़े, वालों के लम्बे-लम्बे पट्टे रखाए सिपाहियों को देखकर किसी की हिम्मत उस डिब्बे में चढ़ने की नहीं होती थी। भगतसिंह ने कहा “आइए पंडित जी इस डिब्बे में चढ़ते हैं। पंडित जी उस पर चढ़ते हुए झिझके, पर वह बांका जवान वेधड़क अन्दर घुस गया। उसे देखकर फ्रण्टियर का एक सिपाही मां बहन की गाली देकर बोला—“ओए सरदार किधर घुस रहा है, देखता नहीं यह डिब्बा मिलिटरी के लिए सुरक्षित है।” गाली सुननी थी कि—भगतसिंह ने अपने पैर की जूती निकाली और सिपाही के सर पर बरसानी शुरू कर दी और बोले—“मां बहन की गाली देता है।” डिब्बे के सारे लोग स्तब्ध रह गये और बोले—“आओ सरदार जी आप यहां बैठो।” भगतसिंह आराम से बैठ गये। पंडित जी ने कहा भी कि कहीं रास्ते में ये लोग आपको परेशान न करने लग जायें पर भगतसिंह बोले—“अब ये मुझे कुछ न कहेंगे आप आराम से जायें।” उस दिन के बाद भगतसिंह फिर उनके जीवन में कभी न आये। कुछ समय बाद जब असेम्बली पर बम फेंका गया, तब पंडित जी यह याद कर रोमाञ्चित हो उठे कि इसी वीर पुरुष ने उनकी छोटी सी कोठरी में कुछ महीने बिताये थे।

गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन

अब पंडित जी का मन भी दिल्ली से उचट गया। गुरुकुल कांगड़ी के खुले वातावरण में रहने वाले को दिल्ली की गलियां रास नहीं आईं। उनका स्वास्थ्य भी कुछ गिर गया था। वे कुछ दिनों के लिए गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ चले गए। वहां शुद्ध घी दूध और सात्विक भोजन कर उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। गुरुकुल कांगड़ी में लाहौर वाले पं० विश्वम्भरनाथ जी इन दिनों मुख्याधिष्ठाता थे। उनकी पं० सत्यकेतु पर बहुत कृपा थी। वे उनकी अगाध विद्वत्ता, भाषण कला और लेखन शैली पर मुग्ध थे। उन्होंने पंडित जी को कांगड़ी में इतिहास के प्रोफेसर का पद

प्रस्तुत किया। जिसे पंडित जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इन दिनों गुरुकुल में उनकी छात्र और मित्र मंडली खूब जुड़ गई। श्री अमरनाथ विद्यालंकार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० धर्मदेव वेद वाचस्पति, पं० प्रियव्रत जो आदि उनकी मित्र मण्डली थी। गुजरात के पं० शंकरदेव, पत्रकार अरुनीन्द्रकुमार विद्यालंकार आदि कितने ही सुयोग्य शिष्य थे। ये शिष्यगण आयु में उनके प्रायः समवयस्क थे। एकाध वर्ष का अन्तर था।

मौर्य साम्राज्य का इतिहास और मंगलाप्रसाद पुरस्कार

अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त, पंडित जी ने इन दिनों अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' की रचना भी प्रारम्भ कर दी। गुरुकुल की पुरानी पुण्य-भूमि में बहुत से मवन तो गिर गए हैं। पर पुस्तकालय मवन अभी भी बचा है। उसकी छत पर एक कोठरी में पंडित जी का निवास था। इस कोठरी में चारों ओर खिड़कियां होने से वह खूब खुली थी। लेकिन गर्मियों में दोपहर के समय यह कमरा तप जाता था। लिखते-लिखते पंडित जी के हाथ से पसीना बहने लगता था। पसीने से कागज गीला न हो जाये इसलिए वे अपनी कलाई पर तोलिया बांध लेते थे। उन्हीं दिनों श्री नारायण चतुर्वेदी गुरुकुल में पधारे। वे पंडित जी के कमरे में आए तो बोले—तुम लिखने के साथ-साथ पञ्चाग्नि तपस्या भी करते हो, यह यहां आकर ही पता लगा।

पंडित जी की मौर्य साम्राज्य की पाण्डुलिपि तैयार हो गई थी। अब प्रश्न था कि उसे छपवाया कहाँ जाये। उन दिनों इलाहाबाद 'हिन्दी पुस्तक प्रकाशन' का बड़ा केन्द्र था। इलाहाबाद में इंडियन प्रेस की अपनी लब्ध-प्रतिष्ठ प्रकाशन संस्था भी थी। पंडित जी ने 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' की पाण्डुलिपि इंडियन प्रेस को प्रकाशनार्थ भेज दी। हिन्दी में इतनी उच्चकोटि की पुस्तकें कम ही लिखी जाती थीं। अतः इंडियन प्रेस ने पुस्तक को सहर्ष छापना स्वीकार कर लिया। कुछ वर्ष बाद बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन भारत विषय पर एम० ए० के पाठ्यक्रम में निर्धारित हुई। सन् 1929 में इस पुस्तक पर 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' मिला। यह पारितोषिक प्राप्त करने वालों में उनकी आयु सबसे कम थी। इस पुरस्कार को प्रसिद्ध संपादक प्रवर श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी के कर कमलों द्वारा प्रदान किया गया था। इसके बाद तो पंडित जी की लेखनी अबाध गति से चलती गयी। मनुष्य विज्ञान के पथ पर कैसे अग्रसर हुआ यह प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने कुछ कहानियां लिखी थीं। इस पुस्तक का नाम था 'जब दुनिया पर पत्थरों का राज्य था'। ये कहानियां बहुत पसन्द की गई थीं।

विवाह

अब पंडित जी की आयु विवाह-योग्य हो गई थी। उनके गुरुजनों ने कहना आरम्भ किया — “कालोऽह्यं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वलोकोपकारक्षमं आश्रमं ते”। गुरुकुल कांगड़ी उन दिनों अलौकिक संस्था मानी जाती थी। विवाह योग्य कन्याओं के माता-पिताओं की हार्दिक अभिलाषा होती थी कि वे अपनी कन्या का हाथ गुरुकुल के किसी योग्य स्नातक के हाथ में सौंप दें। स्नातकों की स्वस्थ देह-यष्टि, सरलता और योग्यता उन्हें बहुत प्रभावित करती थी। यद्यपि वे जानते थे कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को सरकारी मान्यता न होने के कारण जीवन के संग्राम में स्नातक कुछ घाटे में ही रहेंगे, पर उनमें मानवीय गुणों का अभाव न था। यह बात उनको विवाह के लिए बहुत वाञ्छनीय बना देती थी। हल्द्वीर, जि० बिजनौर निवासी पं० भवानीप्रसाद जी अपने जिले के सुप्रतिष्ठित जमींदार थे। घर में धन-धान्य की कमी न थी। वे युवावस्था से ही आर्यसमाज की विचारधारा से बहुत प्रभावित थे। गुरुकुल कांगड़ी उनके लिए किसी तीर्थ से कम न था। अपनी मानसिक और आत्मिक शांति के लिए वहां जाने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देते थे वे प्रायः सपरिवार वहां जाकर रहा करते थे। अपने दो पुत्रों को भी उन्होंने गुरुकुल में प्रवेश दिलाया और पूरे चौदह वर्ष शिक्षा दिलाई। उनके बड़े पुत्र श्री मदनमोहन ने नजीबाबाद के निकट खादर की निकम्मी समझी जाने वाली जमीन पर सफल कृषि फार्म स्थापित किया और उस जमीन पर उनके अध्यक्षता से ही लोग बसने के लिए प्रेरित हुए। अब तो यह स्थान खूब बस गया है। उनके द्वितीय पुत्र पं० रामगोपाल विद्यालंकार हिन्दी पत्रकारिता के जनकों में से थे। उन्होंने नागपुर के ‘प्रणवीर’ दिल्ली के ‘अर्जुन’ और ‘नवभारत टाइम्स’ आदि अनेक पत्रों का सफलता पूर्वक संपादन किया तथा हिन्दी पत्रकारिता को उच्च-कोटि की शैली प्रदान की।

भवानीप्रसाद जी ने गुरुकुल और आर्यसमाज के प्रभाव से हिन्दी और संस्कृत में अच्छी गति प्राप्त की थी। गुरुकुल के विद्यालय विभाग में उनके द्वारा संकलित ‘आर्य भाषा-पाठावली’ बहुत दिनों तक पढ़ाई जाती रही। महाविद्यालय में संस्कृत विभाग की पाठविधि के लिए उन्होंने साहित्य सुधा संग्रह का संकलन किया था। जिसमें संस्कृत साहित्य के भंडार से सूक्ति सुधा के रत्न चयन किए गए। 1925 में श्रीमद्भयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर श्री नारायण स्वामी जी की प्रेरणा से उन्होंने ‘आर्य पर्वपद्धति’ की रचना की थी। आर्य जनता इसी पुस्तक में निर्देशित पद्धति पर आज भी अपने पर्व मनाती है। इन्हीं पंडित जी के घर एक कन्या ने जन्म लिया। बड़ी होने पर उन्होंने लड़की को बड़े चाव और प्यार से उच्च शिक्षा दिलाई। उन दिनों स्त्री शिक्षा का इतना प्रचार न था।

लड़कियों की शिक्षा संस्थाएं बहुत कम थीं। आर्यजन भी कन्याओं को घर से बाहर भेजते हुए कतराते थे। पं० भवानीप्रसाद जी ने स्वयम् अपनी कन्या को पढ़ाया। पहले बनारस की व्याकरण शास्त्री कराई फिर पंजाब की शास्त्री परीक्षा दिलाई। उन्हें अपनी पुत्री के लिए पं० सत्यकेतु जी से उचित वर नहीं जंचा। घन के प्राचुर्य के खोखलेपन से वे श्रवगत थे। वे स्वयं विद्याव्यसनी थे, उन्होंने विद्याव्यसनी जामाता ढूँढ लिया। उन दिनों गांधीवादी विचारधारा का बहुत प्रचार था। हर युवक-युवती गांधीजी के आह्वान पर देश के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने को तैयार रहता था। पं० भवानीप्रसाद की पुत्री भी मातृभूमि के उद्धार के लिए जीवन दान का स्वप्न लिया करती थी। जब व्याह की बात चली तो कच्ची आयु और अपरिपक्व बुद्धि की बालिका सोच में पड़ गई कि अब उसके मानव-सेवा के स्वप्नों का क्या होगा ? उसका मन बहुत वेचन था। एक ओर पिता की आज्ञा और आशाएँ, दूसरी ओर मातृभूमि के लिए जीवन उत्सर्ग की आकांक्षा। उसने पं० सत्यकेतु जी की विद्वत्ता और महानता की कीर्ति सुन रखी थी। विवाह से पहले उसने अपने पिता जी के सम्मुख सत्यकेतु जी से मिलने का प्रस्ताव रखा। आज से साठ वर्ष पूर्व किसी कन्या का इस प्रकार विवाह से पूर्व भावी पति से बात करना उचित नहीं माना जाता था। किन्तु भवानीप्रसाद जी ने अपनी लाड़ली कन्या की इस मांग को भी मान लिया और वे सत्यकेतु जी को बुला लाये। कन्या ने प्रश्न किया कि वह अभी अपना अध्ययन जारी रखना चाहती है। विवाह इस मार्ग में बाधा तो न होगा ? सत्यकेतु जी को इस पर कोई आपत्ति न थी। कन्या ने दूसरा प्रश्न किया कि—वह अपना जीवन देश सेवा के मार्ग पर अर्पित करने के स्वप्न देखती है। विवाह बन्धन में बंधकर उसके स्वप्नों का क्या होगा ? पंडित सत्यकेतु जी का उत्तर था—“श्री शंकराचार्य, भगवान् बुद्ध और स्वामी दयानन्द आदि अनेक महान् आत्माओं ने मानव जाति की सेवा में अपना उत्सर्ग किया, पर वे महान् व्यक्ति सारे जगत् को अपना परिवार मानते थे। वे इतना ऊँचा उठ गए थे कि समग्र मानव जाति उनकी अपनी थी। हम लोग महानता में उनकी गणना में अभी बहुत पीछे हैं। हम बोग व्याह कर अपना छोटा परिवार बनाते हैं और उस परिवार के श्रेय एवं उन्नति के लिए अपना जीवन दान देते हैं। पंडित जी की युक्ति कन्या के मन में बैठ गई। विवाह के बाद उसने अपने महान् पति के ध्येय और आकांक्षाओं के लिए जीना सीखा। उच्चकोटि के लेखक अपने पति के लिए सुख और सुविधा जुटाकर ही उसने मातृभूमि की सेवा के स्वप्न को साकार किया। अब पं० सत्यकेतु जी गुरुकुल कांगड़ी में इतिहास विभाग के अध्यक्ष हो गए थे। वे वहाँ के अवैतनिक रजिस्ट्रार भी रहे। उनके विद्यार्थी उन्हें बहुत आदर और आत्मीयता की दृष्टि से देखते थे। उनके व्यक्तित्व और रोचक पाठन शैली से प्रभावित होकर विद्यार्थी अच्छी संख्या में इतिहास विषय लेने लगे थे।

प्रथम विदेशयात्रा

पं० सत्यकेतु जी की इच्छा उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने की थी। विदेश यात्रा के लिए समस्या पैसे की थी। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में काफी सस्ता था। फिर भी एक कच्चे गृहस्थ का साहस अभी अपने बूते पर विदेश यात्रा का न था। उन दिनों बम्बई की एक संस्था 'अग्रवाल जातीय कोष' थी। उसके सदस्यों की इच्छा थी कि उनकी जाति के प्राचीन इतिहास की खोज की जाये। इसके लिए वे किसी योग्य व्यक्ति को इंग्लैण्ड-फ्रांस के जाने माने विश्वविद्यालयों में भेजकर खर्चा देने को तैयार थे। वर्धा के सेठ जमनालाल बजाज प्रायः गुरुकुल आते रहते थे और पं० सत्यकेतु जी से मिलते रहते थे। वे भी इस योजना से सम्बद्ध थे। उन्हें इस कार्य के लिए पंडित जी से अधिक योग्य व्यक्ति नहीं जंचा। फलतः इनकी सिफारिश पर पंडित जी को जातीय कोष से छात्रवृत्ति मिली और उनका चिर-पोषित स्वप्न पूरा हुआ। सत्यकेतु दम्पती अपने दोनों बच्चों साढ़े पाँच वर्ष के पुत्र और आठ महीने की कन्या को लेकर संसार सागर में कूद पड़े।

कहाँ गुरुकुल कांगड़ी का दुनिया की चकाचौंध से दूर सरल जीवन और अब इस जीवन के बाद फैशन की राजधानी पेरिस में प्रवास कैसा। अद्भुत अनुभव था। समुद्र-यात्रा का भी अपना अलग ही अनुभव था, और पैंतीस दिनों में सात समुद्र पार करके यूरोप की धरती पर पैर रखा।

पेरिस यूनिवर्सिटी में गुरुकुल कांगड़ी की विद्यालंकार उपाधि को मान्यता प्राप्त न थी। पंडित जी विश्वविद्यालय जाकर प्राचीन पूर्वी इतिहास के अध्यक्ष श्री फुशे से मिले। उन्होंने गुरुकुल की मान्यता के कानूनी पहलू की परवाह न कर पंडित जी से खूब ज्ञान-चर्चा की और उन्हें अपने यहाँ की डाक्टरेट कक्षा में प्रवेश के सर्वथा योग्य पाया। इसके बाद तो गुरुकुल के कई स्नातकों ने पेरिस से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। प्रो० फुशे की आयु उन दिनों अस्सी वर्ष से ऊपर थी, परन्तु वे रिटायर नहीं हुए थे। वे उन दिनों 'हिस्ट्री आफ गान्धार' फ्रेञ्च में कई खण्डों में लिख रहे थे। अतः यूनिवर्सिटी से अवकाश पर थे। पंडित जी प्रो० लुई रेनु के निदेशन में अपना शोध लिखने लगे। इसके लिए फ्रेञ्च का अच्छा ज्ञान अत्यावश्यक था, इसमें भी समय लगा। फ्रेञ्च और संस्कृत में व्याकरण सम्बन्धी बहुत समता है। एक बात और भी फ्रेञ्च और इंगलिश भाषा में पचहत्तर प्रतिशत शब्द समान हैं, केवल उच्चारण का अन्तर होता है। एक बार उच्चारण का अन्तर समझ लेने पर काम आसान हो जाता है। यहाँ पर एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। इंगलिश शब्द—अटेंशन, फ्रेञ्च में अतासियो बन जाता है। अर्थ वही सावधान है। स्पेलिंग भी वही, सिर्फ उच्चारण में भेद है। वहाँ अपने फ्रेञ्च मित्र हंसकर कहते थे कि केतु-दम्पती तो बिना जाने ही फ्रेञ्च बोलते हैं।

सत्यकेतु स्मृति अंक

पंडित जी बहुत व्यवहार कुशल थे। वहाँ बेकरी में ब्राउन ब्रेड मिलते थे, अतः उन्होंने बेकर से पूछा कि इसके लिए बिना छना मोटा आटा कहाँ मिलता है। उसने अपने उस स्टोर का पता दिया जहाँ बिना छना मोटा आटा मिलता था। वह आटा ठीक भारत जैसा था और केतु परिवार मजे से उस पेरिस नगरी में पूर्ण भारतीय भोजन करने लगा। वहाँ जो बेसन मिलता था, उससे पकौड़ी नहीं बन सकती थीं। अतः बिना पकौड़ी सब्जी डालकर कढ़ी बनाते थे। बेसन के लड्डू तो बढ़िया बन जाते थे। एक दिन डा० केसकर सत्यकेतु-गृह पधारे। वे भी वहाँ डाक्टरेट कर रहे थे। इतने दिनों के बाद बेसन के लड्डू खाकर वे तृप्त हो गये और बोले शायद आज ही भारत से पार्सल आया है। स्वर्गीय डा० केसकर और लक्ष्मी मेनन ये दोनों नेहरू जी के मंत्रिमण्डल के सदस्य बने थे। डा० केसकर सत्यकेतु जी से कहा करते थे कि श्री जवाहरलाल नेहरू प्रायः पेरिस आते रहते हैं। तुम उन्हें प्रभावित करो। वे एक दिन भारत के प्रधानमंत्री बनेंगे। परन्तु सन् १९३७ के उस युग में यह कल्पना बड़ी दूर की लगती थी कि भारत को हमारे जीवन काल में स्वराज्य मिल जाएगा।

पंडित जी ने अपना शोध-प्रबन्ध केवल नौ मास में ही लिखकर समाप्त कर दिया, पर उसे फ्रेञ्च भाषा में लिखना था। यद्यपि उन्हें फ्रेञ्च भाषा का ज्ञान हो गया था, पर इतना नहीं कि स्वतन्त्र रूप से उस भाषा में अपना शोध लिख सकें। अतः अनुवादक की सहायता ली गई।

अब पंडित जी का थीसिस पूरा होकर प्रोफेसरों के सामने पेश हो गया और परीक्षण व आलोचना के लिए दिन नियत कर दिया गया। तीन प्रोफेसर मंच पर बैठ गए तथा सारा कमरा दर्शनाधियों से भर गया। प्रोफेसरों ने उनके शोध पर अनेक प्रश्न किए। जिनका उत्तर डा० साहव ने बखूबी से दिया। यह सिलसिला दो घण्टे तक चला। सारा वाद-विवाद फ्रेञ्च भाषा में हुआ। उन्होंने डा० साहव के शोध-प्रबन्ध को उच्चकोटि का और पूर्णतया मौलिक पाया। वे उनसे बहुत प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हुए। उन्हें डाक्टरेट की उपाधि सम्मान सहित प्रदान की। डाक्टरेट की सम्मान सहित उपाधि बहुत कम दी जाती है। आम तौर पर लोग डाक्टरेट ही ले आते हैं। पेरिस यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डा० सत्यकेतु के संस्कृत ज्ञान की गंभीरता से भी बहुत प्रभावित थे। एक बार सत्यकेतु जी यूनीवर्सिटी के क्लास रूम के बाहर बरामदे से जा रहे थे, अन्दर कमरे में क्लास लगी थी। प्रोफेसर ने उन्हें जाते देखा तो वह क्लास से बाहर आया। उसे संस्कृत व्याकरण पढ़ाते हुए एक फक्किका—(संस्कृत व्याकरण की जटिल पहेली) का अर्थ समझ में नहीं आया था और उसने भरी क्लास के सामने उसका अर्थ डा० सत्यकेतु जी से पूछ लिया।

भारत वापस

जब वे पेरिस यूनिवर्सिटी से डाक्टर बन गये तो उन्हें महाभाष्य = (संस्कृत व्याकरण का अग्रतिम ग्रन्थ) फ्रेञ्च अनुवाद के लिए उन्होंने वहाँ के सबसे ऊँचे वेतनमान पर दस वर्ष के लिए अनुबन्धित करना चाहा। परन्तु डा० साहव संस्कृत के नीरस व्याकरण के अध्ययन में अपना समय नहीं लगाना चाहते थे। क्योंकि उनका प्रिय विषय इतिहास था। अतः उन्होंने उस पद को स्वीकार नहीं किया, और मई मास १९३८ में यात्री जहाज से बम्बई लौट आये। उन्होंने इस प्रवास में चार देशों की यात्रा की थी। फ्रान्स, इंग्लैण्ड, स्विटजरलैण्ड और इटली। फ्रान्स संस्कृति और कला की दृष्टि से बहुत उन्नत था। वहाँ के खानपान और पहनावे आदि सभी का अपना आकर्षण था। फ्रेञ्च रसोई तो उस युग में जगत् प्रसिद्ध थी। लियों का फ्रेञ्च सिल्क बेजोड़ था। इंग्लैण्ड का साम्राज्य उन दिनों सारे संसार में फैला था। अतः लन्दन के वैभव का क्या कहना, पर पेरिस वाली सफाई सुथराई और कलात्मकता का दूर-दूर तक पता न था। इटली उन देशों की तुलना में गरीब था। वहाँ ट्रेन के डब्बों में थर्ड क्लास में लकड़ी की सीटें थीं। वहाँ लोगों को तंगे पैर भी चलते देखा। रेस्तराँ में बेयरा को अपना खाना बिना प्लेट मेज पर रखकर खाते देखा। यूरोप के अन्य साम्राज्यवादी देशों की देखादेखी उन दिनों इटली अबीसीनिया पर अपना पैर जमाने की फिक्म में था और उसने अबीसीनिया पर हमला कर दिया था। —स्विटजरलैण्ड भीलों और पहाड़ियों का देश है। वह प्राकृतिक सौन्दर्य में कश्मीर से अधिक नहीं है, पर उसे मनुष्य ने अपने हाथों से बहुत संवारा है। वहाँ जगह-जगह फूलों का प्राचुर्य है और सफाई बहुत है। जबकि कश्मीर में मनुष्य गंदगी फैलाने में कोई कसर नहीं छोड़ते। अपना देश भी कभी इन पाश्चात्य देशों से अधिक उन्नत बनेगा यह स्वप्न संजोये सत्यकेतु परिवार बम्बई पहुँच गया। बन्दरगाह पर डा० साहव का स्वागत करने प० शंकरदेव आदि उनकी शिष्य मण्डली उपस्थित थी। उनके सात वर्षीय पुत्र विश्वरंजन को इतने दिन बाहर रहकर भारतीय करेंसी देखने का बहुत चाव था। उसने बन्दरगाह पर ही बैंक से पौण्ड भुनाकर रुपये ले लिये थे। उसने अपने पिता जी के हाथ से बटुआ लेकर रुपयों को देखा और एक बैग में रख दिया। किसी की उस पर निगाह थी। उसने बटुआ भट्ट अपनी जेब के हवाले किया। जब कुली को पैसे देने का सवाल आया तो, बटुआ खोजा। लेकिन बटुआ होता तो मिलता। जो सज्जन अपने स्वागतार्थ आये थे, उनसे उधार माँगकर कुली को पैसे दिए। मातृभूमि पर पैर रखते ही इस कटु अनुभव से मन को बहुत ठेस लगी। यूरोप के साफ सुथरे शहरों के बाद बम्बई की गन्दी सड़कों से जी घबराने लगा। कालबा देवी रोड पर 'आर्य निवास' के एक कमरे में वह पहली रात करवटें बदलते बीतें। ऐसा प्रतीत होता था कि मछली पानी से निकाल जमीन पर रख दी

गई है, पर अब पासा फेंका जा चुका था, अब इस देश के निवास के अतिरिक्त कोई चारा न था। मन में धैर्य बँधाया और संकल्प लिया कि यदि अपने देश को उन्नत देशों के समकक्ष न ला खड़ा किया तो हमारे शिक्षित होने का क्या लाभ ? अगले दिन रेलगाड़ी पर सवार होकर गुरुकुल के लिए प्रस्थान किया, पर वहाँ के अधिकारी डा० सत्यकेतु को रखने के लिए तैयार न थे। अतः वह परिवार सहित मसूरी चले गये। वहाँ अपने परिचितों ने उनका हृदय से स्वागत किया। अब सविन की चिन्ता थी, पर दैवयोग से जो भी नौकरी आई वह संस्कृत की थी। वाराणसेय विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार का पद भी प्रस्तुत हुआ पर उनको उसमें रुचि नहीं हुई। वे दिल्ली चले आये और किराये के मकान में रहने लगे। उन्होंने एक पाक्षिक-पत्रिका 'देश-विदेश' निकाली। उसमें देश और विदेश की राजनीतिक चर्चा-यात्रा, कहानी आदि मनोरंजक सामग्री होती थी। उन्होंने अपने निवास स्थान पर ही निचली मंजिल का फ्लैट किराये पर ले लिया। और एक स्कूल इण्डियन पब्लिक स्कूल के नाम से खोला। स्कूल पहली श्रेणी से दसवीं तक था। बाहर से आने वाले विद्यार्थियों के लिए निवास और भोजन का भी प्रबन्ध था। डेस्कालर विद्यार्थी अच्छी संख्या में आ गये, पर जो बच्चे बाहर से आकर रह रहे थे उनके खेलने और पढ़ाई के अतिरिक्त व्यस्त रखने की समस्या थी। तभी माल रोड के पास कई बीघे में फैली विशालकाय कोठी मिल गई। हितचिन्तकों ने सुझाया जैसे माल रोड से बच्चे आपके यहाँ सवारी से आते हैं वैसे कनाट प्लेस आदि से भी आ जायेंगे। फिर दिमाग में अन्तर्निहित इच्छा तो थी कि एक ऐसा गुरुकुल बनायें जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सब अपना धार्मिक भेदभाव भूलकर केवल भारतीय संस्कृति के वातावरण में पलेंगे व पढ़ेंगे। डा० साहब को इस मिशन में सफलता भी मिली। उन्हें चालीस विद्यार्थी मिल गये। उनमें हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सभी थे। स्कूल का वातावरण बहुत सौहार्दपूर्ण था, उसके आदर्श ऊँचे थे। परन्तु १९४० में जैसे ही जर्मनी ने पेरिस पर कब्जा किया और जापान बर्मा की ओर बढ़ने लगा तो माता-पिताओं ने अपने बच्चों को घर के बाहर दिल्ली में रखना सुरक्षित नहीं समझा। उन्हें भय था जाने कब दिल्ली पर हवाई हमला हो जाये। जिस दिन पेरिस पर कब्जा हुआ विद्यार्थी-संख्या घटकर बीस रह गई। परन्तु डा० साहब भी हार मानने वाले न थे। उन्होंने मसूरी में एक कोठी किराये पर ली और ग्रीष्म ऋतु में बच्चों को मसूरी ले आये। परन्तु संस्था को धक्का तो लग ही गया था। सदियों में दिल्ली लौटने पर माता-पिता ने शेष बच्चों को भी अपने साथ रखना मुनासिब समझा और स्कूल बन्द करना पड़ा। यदि दिन का स्कूल चलाते तो अच्छी सफलता मिल सकती थी पर मन में तो ऊँचे आदर्श थे। एक आधुनिक गुरुकुल चलाने का पावन-स्वप्न अधूरा रह गया। वे सदियों में

फरवरी मास में मसूरी की माल रोड पर घूम रहे थे कि लक्स माउण्ट कोठी के नीचे से गुजरे। ऊपर कोठी के केयर टेकर पं० हरनारायण बाहर घूप में बैठे थे। उन्होंने आवाज दी कि डा० साहब कहाँ घूम रहे हो ? हमारे पास भी तो आओ। ऊपर जाने पर पूछा कि आप किस सिलसिले में घूम रहे हैं। यह जानकर कि मकान की तलाश है। उन्हें लक्स माउण्ट कोठी छत्तीस सौ रुपया सालाना पर आफर की, और २३ मार्च १९४२ में सत्यकेतु परिवार लक्स माउण्ट मसूरी आ गया। उन दिनों लोग मार्च में मसूरी आ जाते थे और अक्टूबर तक रहते थे। अब तो लोग सप्ताह या दस दिन के लिए मसूरी जाते हैं। गर्मी से बचने नहीं केवल वातावरण परिवर्तन के लिए। डा० साहब का गेस्ट हाउस एक सप्ताह में सजकर तैयार हो गया। जिस फर्नीचर की कमी थी वह किराये पर आ गया। इस प्रकार इकत्तीस मार्च से लोग होटल आने लगे। डा० साहब की ईमानदारी और व्यवहार कुशलता से वे लोग बहुत प्रभावित थे। मसूरी को बड़ी बड़ी-बड़ी कोठियों के स्वामी डा० साहब को अपने कोठी विकवाने के लिए ठीक ग्राहक से मिलाने का आग्रह करते थे। उधर खरीददार भी उनके आगे-पीछे घूमते थे कि हमें अच्छी जायदाद ठीक कीमत पर दिलवायें। अगले दो-तीन वर्षों में सत्यकेतु जी ने जायदाद की खरीद-फरोख्त से भी अच्छा नाम पैदा किया। कलसिया की महारानी और लखनऊ के मशहूर इत्र फरोश इस्तीफारखान ने अपनी कोठियाँ उनके सहयोग से बेचीं। नेपाल के राणा, मोदी परिवार, दिल्ली के बड़े व्यापारियों आदि सभी के सलाहकार डॉ० सत्यकेतु जी थे।

कुछ समय बाद पर्वत की रानी, नैनीताल का मेट्रोपोल होटल भी सत्यकेतु जी ने ले लिया। होटल में विशाल बगीचा था और ऊँचे-ऊँचे देवदार व बांभू के पेड़ थे। कई टेनिस कोर्ट थे। उस युग के अनुसार होटल सभी आधुनिक सामानों से सुसज्जित था। नैनीताल के जो लोग कल तक डा० सत्यकेतु को हेय दृष्टि से देखते थे, अब उनकी निगाहें बदल गई थीं। सब उनकी ओर दोस्ती का हाथ बढ़ा रहे थे। कहते थे कि यह पेरिस का शिक्षित डाक्टर तो हम सब से बाजी मार ले गया। धीरे-धीरे यात्री आने लगे और सारा होटल गुलजार हो गया। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर के चोटी के उद्योगपति, राजे-महाराजे और राजनीतिक नेता सभी मेट्रोपोल में ठहरते थे। रुपये और प्रतिष्ठा किसी की कमी नहीं थी, पर डा० साहब के मन में कचोट थी कि मैं क्या कर रहा हूँ। केवल वे स्वयं ही नहीं बल्कि एक बार श्री घनश्याम दास बिड़ला ने भी संदेश भिजवाया कि हिन्दी और इतिहास के उच्च-कोटि के विद्वान् इस प्रकार के कार्य कर रहे हैं, यह उनको उचित प्रतीत नहीं होता। यदि बिड़ला जी उनके किसी और कार्य करने के लिए सहायक सिद्ध हो सकें तो उन्हें हार्दिक प्रसन्नता होगी। डा० सत्यकेतु ने उत्तर दिया कि यह मेरे

जीवन की अस्थायी स्थिति है। मैं हमेशा इसमें नहीं उलझा रहूँगा और शीघ्र ही कोई न कोई रास्ता स्वयं निकाल लूँगा। श्री बिड़ला जी को उनकी शुभ-कामनाओं के लिए धन्यवाद दिया।

सरस्वती को आराधना

‘यूरोप के आधुनिक इतिहास’ की पाण्डुलिपि कई वर्षों से बक्स में बन्द पड़ी थी। सर्दियों में पहाड़ी होटल बन्द हो जाते हैं। इसलिए नवम्बर में उस पाण्डुलिपि को लेकर इलाहाबाद इंडियन प्रेस पहुँचे। जहाँ दो हजार पृष्ठों का वह विशाल ग्रंथ छानने को दे दिया, तब हिन्दी प्रकाशन इतना उन्नत न था। उच्च शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से होती थी। हिन्दी के ग्रंथ लोग शीकिया पढ़ते थे। डा० साहब ने बीस हजार रुपये लगाकर दो खण्डों का यह विशाल ग्रंथ छपवा तो लिया पर चिन्ता हुई कि इतनी महंगी और विशाल पुस्तक कौन खरीदेगा, उस समय उसका मूल्य बीस रुपये था। फरवरी १९४६ में पुस्तक छपकर तैयार हो गई। पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन दिया। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि तब से कोई दिन ऐसा न बीता जिस दिन उस पुस्तक को खरीदने का आर्डर न आया हो। गर्मियां बीतते बीतते डेढ़ दो सौ पुस्तक खरीदने के आदेश तार से मिले इस प्रकार सरस्वती के इस वरद पुत्र को अपना मन चाहा काम मिल गया और होटल और हाउस एजेंसी के कामों से विदा ली। सत्यकेतु जी ने अब नैनीताल भी छोड़ दिया और मंसूरी में लक्स माउण्ट को अपना स्थायी निवास बना लिया। अब तो एक के बाद एक नये ग्रंथ प्रकाशित होते गए। ‘एशिया का आधुनिक इतिहास’ प्राचीन भारत का इतिहास, राजनीति शास्त्र आदि उसके अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं और इतने वर्ष बीत जाने पर भी आज भी उनकी लोकप्रियता में कोई अन्तर नहीं आया है। यद्यपि इन विषयों पर अन्य लेखकों ने भी अपनी कलम उठाई है, पर डा० साहब की विषय की पकड़ और लेखन शैली तक कोई नहीं पहुँच पाया है। जब वे मसूरी आकर रहने लगे तो प्रसिद्ध लेखक श्री राहुल सांकृत्यायन भी उनसे मिलने आये उनको मंसूरी का शान्त वातावरण और स्वास्थ्य प्रद जलवायु बहुत भाया और उन्होंने मंसूरी में ही कोठी खरीदने की इच्छा प्रकट की। डा० साहब ने उन्हें कोठी दिलवा दी और वे भी मसूरीवासी हो गए। वे प्रायः डा० साहब से मिलते थे और डा० साहब का भी उनके यहाँ आना जाना बहुत था। परन्तु राहुल जी इतने उच्च-कोटि के साहित्यकार और बुद्धिजीवी होते हुए भी कट्टर बौद्ध थे। उनके यहाँ वैदिक-संस्कृति और ब्राह्मणवाद का मजाक उड़ाया जाता था। एक दिन राहुल जी के साथ और दो तीन पण्डित बैठे हुए थे। वैदिक-संस्कृति पर छीटाकशी की जा रही थी। डा० सत्यकेतु जी चुपचाप बैठे सुन रहे थे कि एक पंडित जी बोले—डा० साहब आप कुछ भी नहीं बोल रहे कुछ तो कहिए—वे बोले “मैं मूल पंडितों की

बातें सुन रहा हूँ।” उस दिन की बात उनको लग गई और घर जाकर उन्होंने ‘आचार्य चाणक्य’ उपन्यास की रूपरेखा बना डाली तथा शीघ्र ही उस उपन्यास को मूर्त रूप दे दिया। उस महान् विद्वान् की प्रशंसा करनी पड़ेगी, उस पुस्तक को पढ़कर राहुल जी का सिर झूम उठा। वे बोले—तुमने इस पुस्तक को लिखने में बहुत मेहनत की है। डा० साहब ने उत्तर दिया मुझे इसे लिखने में कोई मेहनत नहीं पड़ी। मैंने तो इसे केवल एक महीने में बड़े आराम से लिख दिया। तब राहुल जी ने कहा कि आपका ज्ञान बहुत गंभीर है। आपने विद्यार्थी अवस्था में ज्ञानार्जन के लिए बहुत परिश्रम किया है। आपकी नींव बहुत ठोस है। डा० साहब उन दिनों सदियों में दिल्ली आ जाते थे और कनाटप्लेस में ठहरते। प्रसिद्ध हिन्दी पत्रकार श्री अवनीन्द्र जी विद्यालंकार भी वहीं रहते थे, अतः हिन्दुस्तान के संपादकों का आना जाना लगा रहता था। हिन्दुस्तान साप्ताहिक के संपादक धारावाहिक उपन्यास प्रकाशित करना चाहते थे, वे डा० साहब से चाणक्य उपन्यास मांगने लगे, पर उन्होंने कहा कि मैं आपके लिए नया धारावाहिक लिख देता हूँ। इतने दिनों मसूरी और नैनीताल में चलाए होटल-जीवन के आधार पर लिखा, ‘मैंने होटल चलाया’ इस धारावाहिक हिन्दुस्तान साप्ताहिक की ग्राहक संख्या बहुत बढ़ी। जब वह धारावाहिक समाप्त हुआ तो पाठकगण कहने लगे कि—अब हम क्या पढ़ेंगे। इसके बाद उन्होंने एक धारावाहिक “मैंने कम्पनी बनाई” लिखा था। वह भी बहुत लोकप्रिय हो रहा था, पर अखबार के मालिकों ने उनका प्रकाशन बन्द कर दिया। यह कहकर कि यह तो हमीं पर चोट है।

चीन यात्रा

१९५४ में सत्यकेतु जी ने चीन यात्रा की। यद्यपि उस देश ने सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में अत्यधिक उन्नति कर ली थी पर वातावरण बम घोंटू था। सब कुछ इतना नियन्त्रित था कि वहाँ से बाहर निकलकर उन्होंने कहा था कि हम बहुत बड़े जेलखाने से निकल आये हैं।

राजनीति में

सन् १९६३ में उन्होंने बरेली रूहेलखण्ड ग्रेजुएट्स विधान सभा क्षेत्र से विधान परिषद का चुनाव लड़ा और सफल हुए। लोगों ने पूछा कि डा० साहब इस प्रदेश के लोग आपको कैसे जानते हैं तो बोले—मैं तो इस क्षेत्र की सड़कें भी नहीं पहचानता, मेरी पहचान मेरी पुस्तकें हैं। उनकी पुस्तकें अब इतनी प्रसिद्ध हो गयी थीं कि हर पढ़ा लिखा व्यक्ति उनसे परिचित था और उनकी कलम का सिक्का मानता था। उनकी प्रकाशन संस्था “सरस्वती सदन” का बहुत नाम था और नये-नये लेखक अपनी पुस्तकें वहाँ से प्रकाशित करवाना अपना सौभाग्य मानते थे।

इस व्यापार को उनके पुत्र ने संभाल लिया और सफलतापूर्वक चलाया । डा० साहव
 में विलक्षण व्यापार बुद्धि थी, पर व्यापार में उनकी रुचि नहीं थी । शीघ्र ही
 उनका मन व्यापार से ऊबने लग जाता था । वे सच्चे अर्थों में सरस्वती के वरद
 पुत्र थे । उनकी कलम और जिह्वा दोनों पर माँ सरस्वती का निवास था । उनके
 सारगर्भित भाषण सुनकर जनता भूम उठती थी । जन समुदाय की मनोवृत्ति को
 भी वे खूब समझते थे । यहां एक पुरानी बात की चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा ।
 जब सन् १९४७ में भारत के स्वराज्य की घोषणा हो गई तो जनता में अत्यधिक
 उत्साह था, पर हिन्दू मुस्लिम की आपसी भावनायें भी बहुत विद्वेषपूर्ण थीं ।
 मंसूरी की जनता इस अवसर पर एक विशाल सभा करना चाहती थी । लेकिन
 प्रशासन को डर था कि वक्ता कहीं एक दूसरे के भावों पर चोट न कर दें । यदि
 सभा में उपद्रव उठ खड़ा हुआ तो क्या होगा । तब मंसूरी शहर का कोतवाल डा०
 साहव के पास आया और बोला—यदि आप इस सभा के सभापति बनें और इस
 सभा को चलाने की जिम्मेदारी लें तो मैं इसकी इजाजत दे सकता हूँ । यही हुआ,
 वह विशाल सभा उनके सभापतित्व में हुई । क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी ने
 भाषण दिये । कोई भी अप्रिय घटना नहीं हुई । जब मंसूरी आर्यसमाज का
 वार्षिकोत्सव होता था तो लोग पूछते थे कि डा० साहव का भाषण किस दिन होगा ।
 उनके भाषण उच्च कोटि के विद्वान् और सर्व साधारण जनता में एक जैसे प्रिय थे
 और ग्राह्य थे । वे नैनीताल दो साल रहे थे । वहां भी उन्होंने अपने भाषण आर्य-
 समाज के मंच से दिये । जिनका जनता पर व्यापक असर हुआ । उन दिनों पंत जी
 यू० पी० के मुख्यमंत्री थे । नैनीताल निवासियों को अपने इन सुयोग्य नेता पर बड़ा
 गर्व था और वे अपने को यू० पी० के श्रेष्ठ निवासियों से उत्कृष्ट समझते थे, पर धीरे-
 धीरे डा० साहव ने वहाँ के लोगों में भी अपनी घाक जमा ली थी । उनकी मंसूरी
 में बहुत दिनों से म्युनिसिपल चुनाव नहीं हुए थे । सन् ३६ में द्वितीय विश्व युद्ध
 छिड़ गया था । इस आपातकालीन स्थिति में एक केयर टेकर आफिसर वहाँ का
 प्रबन्धक होता था । सन् १९५२ में यह स्थिति बदली और चुनाव हुए । डा० साहव
 ने अपने थोड़े से प्रयत्न से ही अपनी पत्नी को म्युनिसिपैलिटी का सदस्य चुनवा
 दिया । जब डा० साहव जीवन में किसी हार का सामना कर लेते थे तब उनकी
 कलम दुगुने जोर से चल पड़ती थी । इन्हीं दिनों उन्होंने 'सेनानी पुण्यमित्र' नामक
 उपन्यास की रचना की । 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' पच्चीस वर्ष की अवस्था में
 लिखा गया था, उन्हें उसकी शैली अब उतनी परिपक्व तथा परिमार्जित प्रतीत नहीं
 होती थी अतः उसे दुबारा लिखा । उनके द्वितीय पुत्र अमिताभ रजन इन्जिनियर
 बनकर सन् ७० में आये थे, पर उन्होंने नौकरी के बजाय प्रकाशन का कार्य करना
 ही उचित समझा और मौर्य साम्राज्य के प्रकाशन के साथ 'श्री सरस्वती सदन' संस्था
 का जन्म हुआ । इस संस्था ने दक्षिण पूर्वी एशिया का इतिहास आदि सत्यकेतु जी की

कई नई-नई पुस्तकें प्रकाशित कीं। उनकी इतनी अधिक साहित्य रचना का जनता ने मुक्त हृदय से स्वागत भी किया।

पुनः गुरुकुल में

डा० साहब के अन्तर्गमन में गुरुकुल कांगड़ी के लिए प्रेम और आत्मीयता का बीज विद्यमान था। यद्यपि कुल माता की श्रौर दृष्टि कभी-कभी ही उठाते थे, पर उस भूमि से आत्मीयता तो थी ही। स्वतन्त्रता के बाद से गुरुकुल परेशानी के दौर से गुजर रहा था। जब तक स्वराज्य न था गुरुकुल की अपनी पाठविधि थी जिसे सरकारी मान्यता न थी, पर अब अपनी सरकार थी अतः गुरुकुल की उपाधियों को भी मान्यता प्राप्त हो गई थी, कुछ लोग गुरुकुल को पृथक् विश्व-विद्यालय बनाने की योजना बना रहे थे। गुरुकुल का अध्ययन करने एक कमीशन आया। डा० सुनीति कुमार चटर्जी भी उसके सदस्य थे। इस कमीशन के सामने अपने पक्ष की बात कहने के लिए संचालकों ने डा० साहब को बुलाया और वे आये। डा० सुनीति कुमार पेरिस यूनिवर्सिटी के डी० लिट् थे। वे डा० साहब से मिलकर बहुत प्रभावित हुए और जब उन्हें मालूम हुआ कि डा० साहब पेरिस यूनिवर्सिटी के योग्य और प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० जूलियन क्लाक के शिष्य हैं तो उन्होंने कहा कि आप तो मेरे गुरु भाई हुए। जब मेरे गुरु जी ने गुरुकुल के स्नातक को पेरिस में डाक्टरेट करने योग्य समझा तो मेरे लिए गुरुकुल के विद्यार्थियों की योग्यता में सन्देह का प्रश्न ही नहीं रह जाता। मैं गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता प्रदान करने का अनुमोदन करता हूँ। डा० सुनीति कुमार के इस कथन के बाद कमीशन के अन्य सदस्यों ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया और सन् १९६४ से गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता मिल गई। सन् १९७३ में उनका नाम वाइस चांसलर के लिए प्रस्तुत हुआ और स्वीकृत हो गया। वाइस चांसलर का कार्यकाल तीन वर्ष का होता था, पर डा० साहब को वहां की राजनीति रास न आई और वे डेढ़ साल बाद ही त्यागपत्र देकर चले आये। जो उनके स्वप्न का गुरुकुल था वर्तमान गुरुकुल अब उससे कोसों दूर हट चुका था। वह प्राचीन शिक्षा पद्धति जिसमें गुरु-शिष्य का पिता-पुत्र का सम्बन्ध होता था। जहां गुरु जी के गंभीर ज्ञान की गंगा में स्नान कर शिष्य निखरता था। उसका अब दूर-दूर तक भी पता न था। इससे उनको बहुत बेचैनी होती थी और वे गुरुकुल को उसी प्राचीन आदर्श पर लाना चाहते थे, पर सफलता का कहीं पता न था। यद्यपि वे वहां से चले आये पर मन में गुरुकुल के लिए कुछ करने की लगत लगी रही। वहां से लौटकर उन्होंने अनेक नये ग्रन्थों की रचना की। सन् १९७६ में वे गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गये। उनको मंसूरी से लाकर दिल्ली के 'होली फैमिली' में दाखिल कराया गया। डाक्टरों ने अथक परिश्रम और उचित उपचार कर उन्हें नवजीवन

प्रदान किया। तब अस्पताल में पलंग पर पड़े-पड़े ही उन्होंने संकल्प लिया कि अब यदि मुझे स्वास्थ्य लाभ होगा तो मैं 'आर्यसमाज का इतिहास' विस्तृत रूप से लिखूंगा। उन्होंने जगन्माता से इस इतिहास को सात खण्ड में लिखने के लिए जीवन की भिक्षा मांगी। उनकी यह पुकार स्वीकार हुई और अगले दस वर्षों में उन्होंने अपने ही मरोसे पर यह भीष्म कार्य कर दिखाया। सात सौ बीस पृष्ठों का एक खण्ड, कुल मिलाकर पांच हजार पृष्ठ, इस बृहत्काय कार्य के लिए सामग्री जुटाना, लिखना, कागज और छपाई का प्रबन्ध तथा इस सब के लिए धन भी इकट्ठा करना कोई आसान काम न था। उन्हें किसी भी संस्था का सहारा न था। कोई युवक इतना कार्य करते हिचकता, पर उन्होंने अस्सी वर्ष की परिपक्व अवस्था में पूरे दृढ़ संकल्प के साथ इस कार्य को लिया और पूरी सफलता प्राप्त की। 'आर्यसमाज का इतिहास' के ये सात खण्ड उनकी आर्यसमाज को अनुपम देन हैं। यह कार्य न 'भूतो न भविष्यति' ही कहा जायेगा। आर्यसमाज का सौ वर्षों का इतिहास भारत के पुनर्जागरण का इतिहास है। यदि वे 'भारत के पुनर्जागरण' के नाम से वह ग्रन्थ लिखते तो इस का ग्राम जनता में बहुत आदर होता। परन्तु कि उन्हें अपने ध्येय में सफलता मिली डा० सत्यकेतु का उद्देश्य आर्यसमाज का मस्तक ऊँचा करना था। हमें विश्वास है है। अब आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द का नाम अधिक आदर के साथ लिया जाने लगा है।

१६ मार्च १९८६

सोलह मार्च १९८६ का दिन डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के जीवन का अंतिम दिन था। उस दिन डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, प्रोफेसर शेरसिंह और श्री सुभाष विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय जाने के लिए तैयार हुए थे कि उन्हें सूचना मिली कि पहले किसी आवश्यक कार्य से हरियाणा भवन जाना है। वे तीनों वहाँ पर पहुँचे और वहाँ का कार्य पूरा करके सार्वदेशिक सभा कार्यालय पहुँचे। सार्वदेशिक सभा की ओर से उस दिन एक ज्ञापन पत्र लोकसभा अध्यक्ष डा० बलराम जाखड़ को संस्कृत भाषा को भारतीय शिक्षा में समुचित स्थान देने के लिए, दिया जाना था। स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती ने कहा कि वे दोपहर को उनके साथ ही जाखड़ के कार्यालय में चलें और दोपहर बाद हरिद्वार चले जाएँ, परन्तु डा० साहब ने कहा कि उन्हें रास्ते में भी कुछ लोगों से मिलना है और उनके साथ समय भी पहले से निश्चित है। अतः स्वामी जी हमें अब जाने की अनुमति दे दीजिए। स्वामी जी की स्वीकृति लेकर, तीनों महानुभाव चल पड़े। आई० टी० ओ० के पुल पर उनकी प्रतीक्षा डा० धर्मपाल कर रहे थे। वे भी गाड़ी में बैठ लिये। डा० रणजीत सिंह को भी वहीं आना था, परन्तु वे वहाँ आकर चले गए क्योंकि गाड़ी का वहाँ पहुँचने का समय आठ बजे था और ये लोग वहाँ दस बजे पहुँचे। डा० रणजीत सिंह बस से ही हरिद्वार के लिए चल पड़े। रास्ते में डा० साहब

गाजियाबाद और मेरठ थोड़ी देर के लिए रुके। "चीतल" विश्राम स्थल पार करने पर उन्होंने भोजन करने की इच्छा व्यक्त की। मुजफ्फर नगर से कुछ पहले एक भोजनालय में डा० सत्यकेतु जी, प्रोफेसर शेरसिंह, डा० धर्मपाल, श्री सुभाष विद्यालंकार और श्री राजकुमार शर्मा ड्राइवर भोजन करके आगे की यात्रा पर चल पड़े।

हरिद्वार के लिए जाने वाला राजमार्ग काफी चौड़ा है। वहां यातायात अधिक होने पर भी किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। प्रोफेसर साहब ने ड्राइवर को एक बार प्यार से समझाया कि वह रास्ता देते समय अथवा किसी गाड़ी से आगे जाते समय (ओवरटेक करते समय) थोड़ा फासला ज्यादा रखा करें। ड्राइवर ने हंसकर बताया कि साहब, मेरी गाड़ी आज तक किसी से टच भी नहीं हुई है। सभी आश्चर्यचकित थे। ड्राइवर सचेत था। वह नौजवान था। रुड़की पार करने पर उसकी गाड़ी आगे की किसी गाड़ी से टच हुई और उसकी गाड़ी की बांयों लाइट टूट गयी। गाड़ी रोकी गयी। डा० सत्यकेतु ने कहा कि अब हम चार बजे तक हरिद्वार नहीं पहुंच सकेंगे। डा० धर्मपाल ने कहा कि अभी तो ३.१५ ही हुए हैं। हम आराम से पहुंचेंगे। डा० साहब ने इच्छा व्यक्त की कि यदि श्री सुभाष जी पीछे की सीट पर आ जाएं तो आराम रहेगा और इस प्रकार डा० धर्मपाल आगे की ड्राइवर के साथ वाली सीट पर चले गए। श्री सुभाष जी पीछे आ गए। ड्राइवर के ठीक पीछे डा० सत्यकेतु जी थे, बीच में प्रो० शेरसिंह और बांयों ओर श्री सुभाष जी। रुड़की के बाद का बैराज पार ही किया था कि सामने से आने वाली रोडवेज की बस सामने से राक्षस की भांति आती दिखाई दी। कार ड्राइवर ने गाड़ी बचाने की कोशिश की पर बस की टक्कर कार के ठीक बीचों बीच हुई। पता नहीं कार ने कितने चक्कर खाए। वह खड्ड में गिरी मिली। डा० धर्मपाल सड़क पर पड़े थे। उनकी बद घड़ी में समय था ३.२५.....

यात्रियों की सहायता से हताहतों को निकाला गया। एक यात्री ने डा० धर्मपाल को डाँटा भी कि सिर से खून बह रहा है, फिर भी गाड़ी के दरवाजे तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। उसने डाँटकर मिट्टी लपेटी तथा अपना चद्दर बांध दिया। सभी घायलों को निकालकर पीछे से आने वाली कार में बिठाया गया और वे हरिद्वार की ओर चले। कार में तीन के लिए ही स्थान था। अतः डा० धर्मपाल अन्य वाहन की प्रतीक्षा में पीछे रह गए। प्रो० शेरसिंह डा० साहब को गोद में लिटाकर पीछे की सीट पर बैठ गए। श्री सुभाष जी होश में थे, पर वे खड़े न हो सकते थे डा० साहब ने गुरुकुल की भूमि पर पहुंचते ही अपनी अन्तिम श्वास ली। स्वामी श्रद्धानन्द चिकित्सालय के योग्य चिकित्सकों ने अपनी भरपूर कोशिश की, परन्तु हार कर उन्हें सायं चार बजे मृत घोषित करना पड़ा।

चारों ओर हा-हाकार मच गया। लखनऊ से मुख्य मंत्री, दिल्ली से लोक सत्यकेतु स्मृति अंक

सभा अध्यक्ष के बायर लैस पहुंच गए कि तीमारदारी ठीक प्रकार से हो। सभी के परिवार के लोग रात में वहां पहुंच गए।

अगले दिन ११.०० बजे डा० साहब की शवयात्रा सिंह द्वार से चली। सारा हरिद्वार उनके पीछे चल रहा था। उनके पुत्रों ने डा० साहब को मुखान्गिनी दी।

इस प्रकार वह सरस्वती-पुत्र अपनी कर्म स्थली में ही हम सभी को विलखता छोड़ गया।

शूर वीर कौन ?

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर अर्थात् दृढोत्साही उद्योगी जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके, जो अपने जनक पिता की सेवा करके शूरवीर, जो माता की परिचर्चा से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अति विरक्त होकर सर्वत्र भ्रमण करके तरोपकार करने में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म और गृहाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं, वे ही सब सुखों के लाभ करने कराने में अत्युत्तम हो के धन्यवाद के पात्र होते हैं कि जो अपना तन, मन, धन, विद्या और धर्मादि शुभ गुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

संस्कृतभाषायां शब्दकोशः ०।४

व्यक्तित्व

संस्मरण

श्रद्धाञ्जलि

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

आर्यसमाज के रत्न अनुपम, सत्यकेतु विद्यालंकार ।
छोड़ चले वह जन समाज का करते करते अति उपकार ॥
भारतीय इतिहासविज्ञ थे सचमुच वह उद्भट विद्वान् ।
लिखे बृहदाकार ग्रन्थ, जिन से जग भर में उनका मान ॥

राजनीति शास्त्र के वेत्ता, आर्य संस्कृति के थे स्रोत ।
मेधावी सुयोग्य स्नातक चिन्तन, मनन से ओत प्रोत ॥
लेखन कला पारखी ऐसे, लिखा आर्यसमाज का इतिहास ।
सप्त खण्ड हैं जिसके विश्रुत, विद्वत्ता का विपुल प्रयास ॥

मुख मण्डल था अति तेजस्वी सिद्धान्तों पर अडिग रहे ।
गुरुकुल के कुलपति कहलाए, अन्तिम क्षण तक सजग रहे ॥
किन्तु विधाता के प्रहार ने उनको हम से छीन लिया ।
खेद यही है आर्य जगत् को, विद्या सूर्य विलीन हुआ ॥

“शान्त” अमर है उनका जीवन, अमर हुई उनकी गाथा ।
तप श्रद्धा युत थे महान् वह, नत मस्तक जग गुण गाता ॥

—सत्यभूषण ‘शान्त’ वेदालंकार (एम०ए०)

१२, मुनिरका विहार, नई दिल्ली-६७

डा० सत्यकेतु : प्राच्य विद्याओं के विलक्षण पण्डित

—प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार गुरुकुल के उन विद्यामान्य वरिष्ठ स्नातकों में कीर्ति स्तम्भ थे जिन्होंने प्राच्य विद्याओं के अध्ययन-अनुसंधान के क्षेत्र में अपनी असाधारण प्रतिभा से कीर्तिमान स्थापित किया था। पराधीन भारत में राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन का केन्द्र होने से जब गुरुकुल की उपाधियों को सरकारी मान्यता प्राप्त नहीं थी, तब पेरिस जाकर अपनी योग्यता और विद्वत्ता से पेरिस विश्व-विद्यालय के शिक्षाधिकारियों को प्रभावित करन स्वयं डी० लिट० की सर्वोच्च उपाधि अर्जित की अपितु विद्यालंकार तथा वेदालंकार उपाधियों को उच्च शोध कार्य के लिए मान्यता भी प्रदान करवाई। गुरुकुल के यश को देश-विदेशों में फैलाने वाले पण्डित जी के ऋण से हम कभी उन्मृण नहीं हो सकते।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व के वह सर्वमान्य विद्वान् थे। संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी एवं फ्रेंच भाषाओं पर उनका पूरा अधिकार था। प्राचीन भारतीय इतिहास पर उन्होंने हिन्दी में तब मौलिक ग्रंथों की रचना की जब हिन्दी में लिखना हास्यास्पद समझा जाता था। इतिहास लेखन के क्षेत्र में पाश्चात्य इतिहास लेखकों की दुराग्रहपूर्ण दृष्टि का विरोध और शुद्ध भारतीय दृष्टि से इतिहास लेखन का कार्य सर्वप्रथम गुरुकुल में ही प्रारम्भ हुआ। आचार्य रामदेव, पण्डित जयचन्द्र, पण्डित चन्द्रगुप्त तथा डा० सत्यकेतु इस अभियान के सफल पुरोधा सिद्ध हुए। स्नातक होने पर पण्डित जी गुरुकुल के इतिहास विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। यहां रह कर उन्होंने मौर्य साम्राज्य का इतिहास तथा पाटलीपुत्र की कहानी पुस्तकों की रचना की। मौर्य साम्राज्य का इतिहास पर उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने अपना सर्वोच्च पुरस्कार मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया। यह कम गौरव की बात नहीं है कि जो पुरस्कार आचार्य पद्मसिंह शर्मा एवं वियोगी हरि को प्राप्त हुआ था, वह कम आयु में ही डा० सत्यकेतु जी को प्राप्त हुआ। श्री वियोगी हरि के बाद छठा पुरस्कार उन्हें

मिला। पण्डित जयचन्द्र जी तथा पण्डित सत्यव्रत जी को यह सम्मान सत्यकेतु जी के बाद मिला। “शिष्यादिच्छेत् पराजयम्।”

पण्डित जी ने स्वतंत्र साहित्य लेखन द्वारा जीवन यापन किया। भारतीय तथा पाश्चात्य इतिहास, संस्कृति, दर्शन, संविधान राजनीतिक चिन्तन और सामाजिक विचारधाराओं के वह गंभीर और प्रौढ़ अध्येता थे। इन विषयों पर उनकी अनेक पुस्तकें विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं। सुदूर एशिया और वृहत्तर भारत के क्षेत्रों में उपलब्ध भारतीय संस्कृति का भी उन्होंने प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया। चीन, यूरोप तथा भारतीय उप द्वीपों की यात्राएँ कीं। लन्दन गए तो आर्य समाज के स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बन्धित गौरवपूर्ण इतिहास के रोचक और ज्ञानवर्धक तथ्य ढूँढ लाए। आर्यसमाज की राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक और सामाजिक उपलब्धियों का ७ खण्डों में विस्तृत व्यौरा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने आर्यसमाज का वृहत् इतिहास प्रस्तुत किया। यह कार्य एक व्यक्ति और एक संस्था का प्रतीक है। आर्यसमाज की उपलब्धियों पर शोध स्तरीय ऐसा मूल्यांकन ग्रन्थ किसी भारतीय भाषा में नहीं है।

पण्डित जी गुरुकुल के कुलपति और कुलाधिपति भी रहे। प्रशासनिक कार्यों में व्यस्त रह कर भी उनकी साहित्य साधना कभी मन्द नहीं हुई। वह गुरुकुल एक दिन के लिए भी आते तो पुस्तकालय में अवश्य जाते। गुरुकुल के शैक्षिक सुधार और सम्मुन्नति की उन्हें सर्वाधिक चिन्ता थी। विदेशी छात्र छात्राओं को गुरुकुल में प्रवेश दिलाने में वह रुचि लेते थे। प्रशासक होते हुए भी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति उनके मन में ममता थी, निश्छल स्नेह था। गुरुकुल की गतिविधियों को देखकर वह उत्साहित होते थे। नये युग की आवश्यकताओं और प्राचीन परिपाटी में तालमेल न देखकर उन्हें क्षोभ भी होता था। गुरुकुल के उत्थान और ह्रास की भूमिका का उन्होंने निकट से निरीक्षण किया था। गुरुकुल की भावी शोध योजनाओं का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था — “गुरुकुल परा विद्याओं में अग्रणी भूमिका निभाने के लिए स्थापित हुआ था। उसे इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करना चाहिए।” हम चाहते हैं कि गुरुकुल में इन योजनाओं के क्रियान्वयन का प्रयत्न हो। हमारे अध्यापक और विद्यार्थी पण्डित जी के अव्वले कार्य को पूरा करने का व्रत लें।

आज श्रद्धेय पण्डित जी हमारे मध्य नहीं हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन इस मातृ संस्था के लिए लगाया और अन्त में अपने प्राणों की आहुति भी इसी के हित संवर्धन के लिए दी। उन्हें यह संस्था कभी भुला नहीं सकती। उनका जीवन हमारे लिए प्रेरणाप्रद रहा है और रहेगा।

मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की ओर से पण्डित जी की स्मृति में सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनका महिम व्यक्तिस्वरूप एक विराट लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहने का संकेत देता हुआ स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के संकल्पों को चरितार्थ करने का संदेश प्रदान करता रहेगा। गुरुकुल ओर माननीय पं० सत्यकेतु जी अभिन्न हैं और अभिन्न रहेंगे।

—प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
कुलपति, गुरुकुल विश्वविद्यालय, हरिद्वार

दयानन्द वचनामृत

मेरा उद्देश्य इस प्रकार लोगों को मिलाना है, सकल समुदायों को एकता में लाना है। मैं चाहता हूँ कि कोल भील से लेकर ब्राह्मण पर्यन्त सब में एक ही जातीय जीवन की जागृति हो। चारों वर्ण के लोग एक-दूसरे को अंग-अंगी समझें।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती



वैदिक भक्तिमार्ग की सब से बड़ी सुन्दरता यही है कि वह पुरुषार्थ से आरम्भ होता है। केवल भारत में ही नहीं, प्रायः अन्य देशों में भी भक्ति पुरुषार्थ का नाश करती रही हैं।

—स्वामी समर्पणानन्द

वे मेरे शिष्य ही नहीं, मेरे गुरु भी थे

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

जब मैं गुरुकुल में 'दयानन्द-सेवा-सदन' का आजीवन सदस्य होकर कोल्हा-पुर, बेंगलूर, मद्रास आदि स्थानों पर वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का प्रचार कर गुरुकुल कांगड़ी में नियुक्त हुआ, तब सत्यकेतु जी तथा उनके मित्र अंगिरा, (जो पीछे जाकर अमरनाथ विलालंकार के नाम से प्रसिद्ध हुए) गुरुकुल के आश्रम में विद्यार्थी समरूप रहते थे और मैं उनका आश्रमाध्यक्ष था। विद्यार्थी अवस्था में नौद तो काफी आती ही है, परन्तु गुरुकुल में ४ बजे प्रातः उठ जाने का नियम था। मैं ३३० बजे उठकर और हाथ में डंडा लेकर सब सोते हुएों के तब पर डंडा बजाता हुआ उन्हें उठा देता था। सत्यकेतु जी तथा अंगिरा जी भी उन्हीं सोते हुएों में थे और मेरी इस आदत को स्वीकार नहीं करते थे और मुझसे झगड़ते थे। आश्रमाध्यक्ष के तौर पर मेरी उनसे कई बार झपट होती थी परन्तु उनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि मैं एक तरफ उनसे झगड़ता और दूसरी तरफ हर जगह उनकी बुद्धि की तारीफ करता। झगड़ने का अर्थ तू-तू, मैं-मैं नहीं, झगड़ने का मतलब मैं गुरु-शिष्य में वृत्ति-प्रत्युक्ति करना झगड़ना समझता था, जो मेरी गलती थी। मैंने आश्रमाध्यक्ष के तौर पर यह देखा था कि मैं ही नहीं मेरे आश्रम के वे विद्यार्थी जो बहुत पढ़ाऊ माने जाते थे, वे सभी सत्यकेतु जी के सहयोगी होने पर भी उनको अपना गुरु समान मानते थे और हर काम में उन्हीं से प्रेरणा लेते थे। जिनमें से अंगिरा, चन्द्रगुप्त, कृष्णचन्द्र आदि मुख्य थे। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि पं० सत्यकेतु जन्मजात उच्चकोटि के विद्वान् थे, तभी उनकी कक्षा के विद्यार्थी भी अपने विषय का खुलासा उन्हीं से पूछते रहते थे। वे सब उनको अपना गुरु समान मानते थे। उक्त कारणों से गुरुकुल के सभी विद्यार्थी मेरे शिष्य थे, परन्तु श्री सत्यकेतु मेरे शिष्य होने पर भी मेरे गुरु थे। मैं तो समझता हूँ कि वे जीनियस थे, अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्हें गुरुकुल ही ने नहीं खोया, भारत ने खोया, क्योंकि अपने भावी जीवन में उन्होंने देश की राजनीति को भी नहीं छोड़ा था।

मैं श्री सत्यकेतु को अपना शिष्य होने पर भी अपना गुरु मानता हूँ इसका एक विशेष कारण है। यह कारण क्या है ? मुझे सन् याद नहीं, मैं गुरुकुल की सेवा

आर्यसन्देश

से निवृत्त हो चुका था, गुरुकुल उत्सव पर आया था। तब तक डा० सत्यकेतु जी मसूरी पहाड़ पर मकान बनाकर बस गये थे। उत्सव पर वे भी पधारे थे। हम दोनों एक ही जगह ठहरे थे। उस समय उन्होंने इतिहास सम्बन्धी एक पुस्तक मुझे भेंट की और कहने लगे कि मैं अब इसी दिशा में साहित्यिक कार्य करूंगा। उनकी पुस्तक को देखकर मुझे प्रेरणा मिली कि यह भी जीवन की एक दिशा है। वे पुस्तक लेखन के कार्य की दिशा में लगातार बढ़ते गए और मैं उनकी साहित्यिक-उन्नति देखता रहा। वे इस दिशा में बढ़ते ही जा रहे थे, मैं सिर्फ पढ़ाने के क्षेत्र में ही सीमित था। जब मैंने देखा कि साहित्यिक-क्षेत्र भी जीवन का एक विस्तृत क्षेत्र है तब मैंने उन्हें गुरु मानकर उन्हीं का दर्शाया मार्ग पकड़ लिया और आज ६३ वर्ष की आयु में भी मैं उन्हीं के दर्शाये मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ और ५० के लगभग पुस्तकें लिख चुका हूँ। अगर वे अपनी इतिहास की पुस्तक उस दिन मुझे न दिखाते तो मैं कह नहीं सकता कि मेरे जीवन का मार्ग क्या होता। यद्यपि हम दोनों साहित्य के क्षेत्र में जुटे रहे—क्षेत्र हम दोनों का अलग-अलग रहा।

सालों बीत गए। मैं दिल्ली में आ बसा। वे भी दिल्ली में रहने लगे। एक दिन उन्होंने मेरे पास “आर्यसमाज का इतिहास” लिखने की रूपरेखा भेजी और कहा कि मैं इसे पूर्ण करना चाहता हूँ। सालों का प्रोग्राम था। मैं अचम्भे में था कि इतने लम्बे कार्य को जो सौ बरस में भी पूरा नहीं हो सकता था, वे कैसे एक जन्म में पूर्ण कर लेंगे। मैंने उन्हें लिखा कि अगर यह कार्य पूर्ण हो सकता है तो आपके सिवा आर्यसमाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो इसे पूर्ण कर सके। यह तो एनसाइक्लोपीडिया जैसा कार्य है। मैं देखता रहा, और यह असम्भव कार्य दो-तीन साल में पूरा हो गया। पुस्तक की गुरुकुल-विषय सम्बन्धी एक प्रति उन्होंने मेरे घर आकर मुझे भेंट की।

अब जबकि मैं सत्यकेतु जी के विषय में लिखने बैठा हूँ, मुझे उनके सम्बन्ध में दो चार बातें याद आ रही हैं। उनके विवाहोत्सव पर हम लोगों का गुरुकुल-मण्डल बिजनौरान्तर्गत हल्दौर गया था, जहां उस समय रेलगाड़ी नहीं जाती थी, या जाती थी तो ठहरती नहीं थी। बिजनौर में मेरा भी श्वसुरालय था इसलिए बिजनौर की बातें मुझे बहुत याद आ रही हैं। मेरे विवाह के समय बिजनौर जाने के लिए रेलगाड़ी की सुविधा नहीं थी। बरसों बाद देहरादून-दिल्ली गाड़ी की सुविधा प्राप्त हुई तो गाड़ी बिजनौर तथा हल्दौर ठहरने लगी। बहुत दिनों की बात है मैं अपनी पत्नी से मजाकतन कहा करता था कि बिजनौर के लोग यह नहीं जानते कि गाड़ी से कैसे उतरा जाता है। वे खिड़की से अन्दर कूद आते हैं और बाहर निकलने के लिए खिड़की से बाहर कूदते हैं। परन्तु यह हंसी-मजाक की बात थी। मेरी पत्नी ने कहा—आपको बिजनौर में खिड़की से बाहर कूदने वाले ही

दीखे या उसमें कुछ गुण भी दिखा। तब मैंने उन्हें प्रसन्न करने के लिए बिजनौर की गुण-गाथा बखानना शुरू किया। अंग्रेजों ने बिजनौर जैसे छोटे से गांव को सारे जिले का हैडक्वार्टर बना दिया। बिजनौर बड़े-बड़े महापुरुषों का स्थान रहा है। सर तेजबहादुर सप्रू बिजनौर के थे। राजा ज्वालाप्रसाद बिजनौर के थे। जनता पार्टी के श्री शशिभूषण, जो विधिमन्त्री रहे और विधि-शास्त्र के विख्यात विधि-विद् रहे—बिजनौर के हैं, और श्री सत्यकेतु विद्यालंकार का वैवाहिक सम्बन्ध भी बिजनौर जिले में हुआ। मेरी इतनी लम्बी चौड़ी गाथा सुनकर मेरी पत्नी उप-हास में कहा करती थी कि जनाव अपना नाम मिलाना क्या भूल गए। मैं उत्तर में कहा करता था कि अपना नाम लूं या आपका नाम लूं, मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूं इसलिए दोनों का नाम छोड़ रहा हूं ताकि आपसी नोक-झोंक न हो।

श्री सत्यकेतु जी के श्वसुर श्री भवानीप्रसाद जी थे, जो नैचुरोपैथी तथा जल-चिकित्सा के निष्णात व्यक्ति थे। मैंने जब गुरुकुल का कार्यभार संभाला तब गुरुकुल के आयुर्वेद विभाग में नैचुरोपैथी को एक विषय बना दिया और उसका अध्यक्ष सत्यकेतु जी के श्वसुर को बनाया क्योंकि हल्द्वार में मैं देख आया था कि इस विषय में उनकी कितनी तीव्र अगाध गति है। यह तो साधारण सी बात है, परन्तु इससे गहरी यह बात है कि एक बार मैं इलाहाबाद किसी काम से जा रहा था। मुझे प्रसिद्ध कवि पं० श्रीधर पाठक से मिलना था। पं० सत्यकेतु जी ने एक पुस्तक लिखी थी। शायद 'मौर्यकाल का इतिहास' था। वे चाहते थे कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंगलाप्रसाद पारितोषिक के लिए इसे प्रस्तुत किया जाए। वे यह सुनकर कि मैं इलाहाबाद जा रहा हूं मेरे पास आए और कहने लगे कि इस पुस्तक को आप ले जायें। मैंने कहा इसे डाक से भेज दीजिए। वे कतराए, तो मैंने कहा पैसा तो मुझे भी आने-जाने में, तांगा आदि के व्यय में लगेगा, वह आप को देना होगा। इस घटना से पाठक समझ सकते हैं कि उस समय हम लोगों की आर्थिक स्थिति क्या थी। मैंने कहा—पांच रुपया दे दीजिये, तो मैं आपका सब काम कर दूंगा। उन्होंने मुझे पांच रुपये दे दिये और मैंने इलाहाबाद में पुस्तक यथास्थान पहुंचा दी। इस पुस्तक पर उन्हें १२००/- रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। इसके मिलने पर मुझे आत्मग्लानि हुई कि ऐसे ग्रन्थ के लिए मैं ५ रुपये ले पड़ा। इस आत्मग्लानि का प्रतिशोध करने के लिये मैंने १४ रुपये के सैंडो के कम्बल खरीद कर उन्हें सैंट के रूप में दे दिये, और वे प्रसन्न हुए, मैं भी ऋण मुक्त हुआ।

जब मैं पहली बार गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पद से निवृत्त हुआ तब पं० इन्द्र जी मेरे स्थान पर आये। वे लगभग १०-१५ वर्ष तक मुख्याधिष्ठाता रहे। इसके

आर्यसन्देश

बाद सभा ने फिर मुझे याद किया। मैं दोबारा छः वर्ष तक मुख्याधिष्ठाता रहा। जब छः वर्ष पूरे हो गये तब मैंने सभा को लिखा कि मैं अब मुक्त होना चाहता हूँ। मेरे चले जाने के बाद गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता पद भगड़े में पड़ गया। इस भगड़े में मैंने सत्यकेतु जी को सर्वथा इस पद के योग्य होने के कारण आन्दोलन उठाया। परिणामस्वरूप वे मुख्याधिष्ठाता बने। परन्तु भगड़ों से दूर रहने के कारण उन्होंने त्यागपत्र दे दिया।

वातें तो बहुत हैं, पुस्तक पर लिख सकता हूँ, परन्तु इस आयु में हाथ भी उतना नहीं चलता, इसलिए यहीं यह कह कर विराम करता हूँ।

शिष्ये गुरुत्वभावनाय सत्यव्रतस्य नमस्कारं स्वीकुर्वन्तु सत्यकेतु महामाणाः।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

W-77 A, ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-110048

पद से तुम्हारी नहीं, बल्कि तुम्हारे से पद की शोभा होनी चाहिए। यह तभी होगा जब तुम्हारे काम महान् और अच्छे हों।

* * *

जिन पितर जनों ने हमारे बचनप की तुतली व अर्थहीन बातों को बड़े प्रेम से सुना और हमारी जिज्ञासा शान्त की थी, अब उन बूढ़े पितरों की श्रद्धा से बातें सुनकर उन्हें क्यों न सम्मान दें।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

—मनोहर विद्यालंकार

डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार का जन्म आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से एक साधारण परिवार में हुआ था।

शिक्षा काल में ही उनकी प्रतिभा दृष्टिगोचर होने लगी थी। प्रत्येक कक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम रहते हुए, उन्होंने अपनी परीक्षाएँ उत्तीर्ण की थीं। अपने विद्यार्थी जीवन में ही, वे 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' का लेखन पूरा कर चुके थे। इसी पुस्तक पर स्नातक होने के बाद उन्हें 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' से अलंकृत किया गया था। उस समय हिन्दी भाषा का यह सर्वोच्च पुरस्कार था। इस प्रकार प्रारम्भ से ही अपनी योग्यता का सिक्का जमाते हुए वे अपनी योग्यता और परिश्रम के बल पर आर्यसमाज में स्पृहणीय उच्चतम पदों पर पहुँचे। समय-समय पर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति, कुलाधिपति और परिदृष्टा तीनों पदों पर आसीन हुए। अपनी लेखनी की योग्यता के आधार पर ही स्नातक निर्वाचन क्षेत्र की सुरक्षित सीट से निर्वाचित होकर वे उत्तरप्रदेश की विधानसभा के सदस्य बने थे।

कृतज्ञता से भरपूर

साधारण स्थिति से उच्च पद पर पहुँचे व्यक्ति में प्रायः अहंकार पैदा हो जाता है। अपनी सफलता को वह अपने परिश्रम और भाग्य का परिणाम मानने लगता है। अपने पर कृपा करने वाले वृद्धजनों की उपेक्षा कर देता है; अपने सहयोगियों और अनुगामी कार्यकर्त्तार्यों का अनादर कर देता है। किन्तु डाक्टर साहब में, इस के विपरीत कृतज्ञता कूट-कूट कर भरी थी। आत्मीय जनों में बैठकर बातचीत करते हुए, प्रसंग उपस्थित होने पर वे प्रायः कहा करते थे कि महात्मा मुन्शीराम, बाद में विख्यात अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द की भुक्त पर कृपा न हुई होती, तो स्वतन्त्रता के सपने को साकार करने की भावना को प्रेरित करने वाली भारतीयता ओतप्रोत संस्था गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त करने का मुझे अवसर न प्राप्त होता और सम्भवतः आज भी मैं अपने गाँव में छुटनों तक अंगोछा लपेटे किसी खेत में काम कर रहा होता।

सरलता की मूर्ति

अपने दोषों को प्रत्येक व्यक्ति छुपाने का प्रयत्न करता है। लेकिन जब किसी को उच्च पद देने की पेशकश की जा रही हो, उस समय अपने दोषों और कमियों को उजागर करने वाले लोग विरले ही होते हैं। सन् ६६ में पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति के सेवानिवृत्त होने का निश्चय प्रकट करने के बाद, डा० सत्यकेतु को भी गुरुकुल कांगड़ी का कुलपति बनाने की पेशकश हुई। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि “मेरे सम्बन्ध में सिगरेट पीने की अफवाह है, मेरी वेशभूषा विदेशी है, मैंने आर्यसमाजों में न काम किया है, न उपदेश दिये हैं, इसलिए आर्य जगत् में मुझे बहुत कम लोग जानते हैं।

“गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय आर्यसमाज की संस्था है। इसलिए इस संस्था के सर्वोच्च पद पर किसी ऐसे व्यक्ति को रखना चाहिए, जिसने आर्य जगत् की किसी न किसी रूप में सेवा की हो, और आर्य जगत् उससे सुपरिचित हो। ऐसा ही व्यक्ति गुरुकुल के लिए लाभकर होगा, और वही इस की उन्नति कर सकेगा।”

“मैं अपने को गुरुकुल माता का पुत्र होने से सदा उसका ऋणी अनुभव करता हूँ। मुझे जब भी गुरुकुल के अधिकारी याद करेंगे, अवश्य उपस्थित होऊंगा, और अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार जितना सम्भव होगा, उतना सहयोग अवश्य प्रदान करूंगा।” इस प्रकार उस समय डाक्टर विद्यालंकार ने अपना नाम पेश नहीं करने दिया।

अटल परमेश्वर बिहवास

आर्यसमाज के नेता डाक्टर सत्यकेतु को साम्यवादी और नास्तिक समझते थे। उनके विचार से वे भारतीय संस्कृति की अपेक्षा यूरोपीय संस्कृति के अधिक हिमायती थे। मेरा विचार तो यह है कि गुरुकुल कांगड़ी से निकले स्नातकों में से वेद के विद्वानों ने गुरुकुल के यश को जितना फैलाया है, उन सब के सम्मिलित प्रयत्न से कहीं अधिक अकेले डाक्टर सत्यकेतु ने गुरुकुल की कीर्तिपताका दूर-दूर तक फहरायी है।

अपनी आयु के सातवें दशक में वे गम्भीर रूप से बीमार हुए थे। वे स्वयं सुनाया करते थे कि—तब मैंने चिकित्सालय में पड़े हुए परमात्मा से प्रार्थना की थी कि मैं अपने को आर्यसमाज का ऋणी अनुभव करता हूँ। यदि इस बार ठीक हो गया तो उस ऋण को उतार दूंगा। परमेश्वर की कृपा से मैं अब ठीक हो गया हूँ और अपने उस वचन को निभाऊंगा। ‘आर्यसमाज का इतिहास’ लेखन ही अब मेरे

जीवन का एकमात्र लक्ष्य होगा ।

देखिये ! कितना विचित्र संयोग है कि आर्यसमाज के सीमान्त से ज्यों ही उन्होंने अपना प्रण पूर्ण किया । बड़े आकार के लगभग छः हजार पृष्ठों में ७ जिल्दों में इतिहास प्रकाशित हुआ—उसके कुछ ही समय बाद एक कार दुर्घटना में उन की जीवनलीला समाप्त हो गई ।

ऐसा लगता है कि मानो सातवें दशक की बीमारी उनकी मृत्यु का संदेश लेकर आई थी । उन्होंने सच्चे हृदय से परमात्मा से जीवन की प्रार्थना की थी, जिसे परमात्मा ने स्वीकार कर लिया था । उनका व्रत पूरा हुआ, और परमात्मा ने उन्हें अपने पास बुला लिया ।

वे व्यक्ति नहीं, एक संस्था थे

आर्यसमाज का इतना विस्तृत इतिहास लिखना, सरल काम नहीं था । इसे लिखने के लिए अनुभव, विद्वत्ता और ख्याति तीनों की जरूरत थी । वे अन्तः-राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त, इतिहास के विद्वान् थे । लेखन और प्रकाशन का उन्हें अथाह अनुभव था । इसलिए उन्होंने इसे बहुत अल्पसमय में, ४-५ सहयोगियों की सहायता से पूर्ण किया, और साथ ही साथ प्रकाशित भी करा दिया ।

इस इतिहास लिखने के साथ-साथ, इसे प्रकाशित करने के लिए आवश्यक धन भी उन्होंने स्वयं एकत्रित किया । इतना विस्तृत लेखन, इसे प्रकाशित करने के लिए धन-संग्रह, और इसे प्रकाशित करना—ये तीनों काम इतने विशाल हैं, कि सामान्यतया एक एक संस्था, इन में से एक एक काम का उत्तरदायित्व लेने में भी कतराएगी । लेकिन उस अकेले व्यक्ति ने परमेश्वर के सम्मुख किए हुए प्रण को पूरा करने के लिए तीनों कार्यों को बड़ी शालीनता से पूर्ण किया । स्पष्ट है कि वे व्यक्ति नहीं संस्था थे । आर्यसमाज की शिरोमणि संस्थाओं को, उनसे प्रेरणा लेकर ईश्वर में पूर्ण आस्था के साथ इस तरह के दूसरे काम पूरे करने चाहिएं ।

आर्य जगत् में डाक्टर सत्यकेतु के अतिरिक्त एक ही ऐसा और व्यक्ति हुआ है—वह हैं स्वनामधन्य ब्रह्मर्षि श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर—जो इनके गुरु भी थे, और जिनके आगे सभी संस्थाएँ और विद्वान् अपने को पराजित अनुभव करते थे ।

कुलमाता के यशस्वी पुत्र

२०वीं सदी के प्रारम्भ में, राष्ट्र प्रेम से प्रेरित होकर, विदेशी शासन से मुक्ति दिलाने वाले नागरिकों को उत्पन्न करने के लिए महात्मा मुन्शीराम ने गुरु-

कुल कांगड़ी की स्थापना की थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य, देशवासियों में 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना को दृढ़ मूल करना था।

इस संस्था के निर्माण द्वारा महात्मा मुन्शोराम देश को दिखाना चाहते थे कि हमारी अपनी मातृभाषा, अंग्रेजी से किसी तरह हीन नहीं है। इस भाषा द्वारा विश्व में उपलब्ध ऊँचे से ऊँचा ज्ञान—वह चाहे जितना पुराना हो, और नये आविष्कृत रूप में कितना ही आधुनिक क्यों न हो—बड़ी आसानी से, और गहराई में विद्यार्थियों को दिया जा सकता है।

गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा पाये स्नातकों ने अपनी योग्यता, और लेखन से इस धारणा को सम्पुष्ट किया है। वहाँ से निकले शताधिक स्नातकों ने राष्ट्रभाषा में ज्ञान विज्ञान में अपने लेखन और कर्तृत्व से अपनी मातृ संस्था की यशोगथा गाई। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार भी उन्हीं सुयोग्य स्नातकों में से अन्यतम हैं; जिन्होंने अपनी शिक्षण संस्था, समाज तथा देश का गौरव बढ़ाया है।

मैं ऐसे स्वनामधन्य गुरुवर डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार की स्मृति में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

—मनोहर विद्यालंकार

ईश्वरी भवन, खारी बावली, दिल्ली-६

हमेशा डरते रहने से अच्छा है कि खतरे का एक बार सामना कर लिया जाये।

✱ ✱ ✱

बन्दरगाह में खड़ा जहाज सुरक्षित होता है, लेकिन जहाज क्या इसीलिए बनाये जाते हैं।

डा० सत्यकेतु विद्यालकार— सांस्कृतिक इतिहास के प्रहरों

—डा० जबरसिंह सैंगर

डा० सत्यकेतु विद्यालकार भारतीय इतिहास के पोषक थे। उनकी लेखनी ऐतिहासिक ग्रन्थों को लिखते समय ऐसे थिरकती थी—मानो लेखनी कम्प्यूटराज्ड हो। उनके मन से भाव उठते थे और लेखनी चलती रहती थी। उनके लगभग समस्त ऐतिहासिक ग्रन्थों को मुझे पढ़ने का सौभाग्य मिला। उन्होंने ग्रन्थ लेखन के समय कोई भी ऐतिहासिक स्रोत नहीं छोड़ा। अक्सर ऐतिहासिक ग्रन्थों में यह देखा जाता है कि यदि साहित्य साक्ष्य लिये तो पुरातत्वीय साक्ष्य छूट जाते हैं।—पर डा० साहब के ग्रन्थों में साहित्यिक साक्ष्यों में वेद, वेदांग, ब्राह्मण ग्रन्थ, महाभारत, रामायण, स्मृतियाँ, पुराण, कौटिल्य अर्थशास्त्र, जैन-बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त तत्कालीन ग्रन्थों—यथा कालिदास द्वारा रचित साहित्य, पाणिनि का अष्टाध्यायी, मालवा-काग्निसिन्धु, देवी चन्द्रगुप्तनाटकम् आदि ऐतिहासिक साक्ष्यों को अपनी रचनाओं में दर्शाया। इसके साथ-साथ पुरातत्वीय साक्ष्यों को भी उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान दिया। उन्होंने अभिलेखों—(शिलापट, स्तम्भ, ताम्रपत्र) सिक्कों स्मारकों की विशद व्याख्या की एवं तदनुसार ऐतिहासिक सामग्री के रूप में अपने ग्रन्थों में लिखा। चूँकि डा० साहब एक मेधावी छात्र रहे—उन्हें हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, फ्रेंच आदि भाषाओं का ज्ञान था तथा ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपि भी जानते थे, अतएव डा० साहब के ग्रन्थों में मौलिकता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है।

मुझे डा० साहब की पाण्डुलिपि भी देखने को मिली, जिसमें धारा प्रवाह है, मौलिकता है। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में :—

१. प्राचीन भारत (प्रारम्भ से १२०० ई० तक)।
२. भारतीय संस्कृति का विकास।
३. मौर्य साम्राज्य का इतिहास।
४. दक्षिणी पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति।
५. मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति।

६. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग ।
७. भारतीय इतिहास का पूर्व मध्य युग (६०० से १२०० ई० तक) ।
८. प्राचीन भारत की शासन संस्थाएं और राजनीतिक विचार ।
९. प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन ।
१०. योरोप का आधुनिक इतिहास (सम्पूर्ण) ।
११. योरोप का आधुनिक इतिहास (१७८६ से १८७१ तक) ॥
१२. योरोप का आधुनिक इतिहास (१८७१ से १९३६ तक) ।
१३. एशिया का आधुनिक इतिहास (सम्पूर्ण) ।
१४. पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी एशिया का आधुनिक इतिहास—प्रमुख हैं ।

इनके अतिरिक्त आर्यसमाज का इतिहास : ७ खण्डों में लिखकर उन्होंने आर्य जगत् को स्थायी धरोहर दी । डा० साहब ने ऐतिहासिक उपन्यास यथा—आचार्य चाणक्य, सेनानी पुष्यमित्र आदि द्वारा जन-सामान्य को भी परिचित कराया ।

मुझे डा० साहब की एक भूमिका याद आ रही है । माननीय जैलर्सिंह पंजाब के मुख्यमन्त्री थे । उनके युग में हाई स्कूल की इतिहास की पुस्तक पंजाब बोर्ड द्वारा प्रकाशित की गयी—उसमें लिखा था आर्य लोग मांस खाते थे शराब पीते थे आदि आदि । आर्य नेता—स्व० पृथ्वीसिंह आजाद, लाला रामगोपाल जी शालवाले, स्वामी ओमानन्द जी आदि ने इस पुस्तक पर आपत्ति की और संघर्ष छेड़ा—भूख हड़ताल मुख्य मन्त्री निवास पर की गयी । परिणाम स्वरूप उस पुस्तक के दो अध्यायों को लिखने का कार्य डा० साहब को पंजाब सरकार ने सौंपा । जब वह दो अध्याय लिखने जा रहे थे—मुझ से कहा कि हम सभी स्रोतों का गहन अध्ययन कर इसका संशोधित रूप दें । उसमें डा० साहब ने आर्यों के आचार-विचार आदि तथ्यात्मक रूप में प्रदर्शित कर पंजाब सरकार को वह पुस्तक पुनः प्रकाशन हेतु सौंप दी । डा० साहब से एक प्रश्न पूछा गया—डा० साहब आचार्य रामदेव जी द्वारा रचित-भारत का इतिहास भी है । आप उसको आधार क्यों नहीं मानते । डा० साहब का यह मत रहा कि साहित्यिक एवं पुरातत्त्विक स्रोत इतिहास की रचना में सहायक होते हैं । भावनाओं के आधार पर सही इतिहास की रचना संभव नहीं है । यही कारण रहा कि डा० साहब की रचनाओं को भारत के सभी विद्वान् मान्यता देते रहे हैं एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान रहा ।

डा० साहब के समकालीन लेखकों में प्रो० के०पी० जायसवाल, डा० के०डी० बाजपेयी, डा० बी०एन० पुरी, डा० जी०आर० शर्मा, डा० जी०सी० पाण्डेय, डा० कृष्णदेव आदि हैं । जब कभी गोष्ठियों, वर्कशाप आदि में डा० साहब इन विद्वानों

से मिलते थे—तो वे हमेशा ऐतिहासिक समस्याओं पर ही बात करते थे। मुझ स्मरण है—एक बार महाभारत, रामायण काल पर डा० संकालिया (फादर आफ इण्डियन आर्कियोलोजी) ने एक विवाद खड़ा कर दिया। राष्ट्रीय प्रमुख अखबारों में छपा कि महाभारत काल्पनिक है। डा० साहब ने कहा कि क्या पुरातत्त्व का काम पूरा हो गया है। अभी तो खुदाई बाकी है फिर काल के कराल में क्या पता, वह नगर डूब गया हो। देवी चन्द्रगुप्तम् को भी काल्पनिक नाटक कहा जाता रहा, पर १९६६ में डा० गेई द्वारा खुदाई में प्राप्त मूर्तियों के अभिलेखों ने उसकी पुष्टि कर दी। ऐसा ही महाभारत में होगा—विश्वास रखें। यह थी डा० साहब की धर्म, संस्कृति के प्रति निष्ठा। एक बार मैं आर्कियोलोजी की गोष्ठी से लौटा। मैंने डा० साहब से कहा—डा० साहब, पुरातत्त्व विभाग ने सिन्धु सभ्यता को प्रि-हरपन प्रोटो-हरपन, हरपन एवं लेट हरपन के काल को १०००-६०० ई० पू० रख दिया। फिर हम वैदिक युग को किस काल में ले जायेंगे। डा० साहब ने कहा कि पुरातत्त्व वाले तो पोटरी में ही लगे रहेंगे। अरे माई साहित्यिक साक्ष्य भी तो हैं। हरपन काल यदि बढ़ता है तो अन्धकार युग (१५०० ई० पू० से पहले) तक बढ़ेगा। मैंने देखा कि सागर विश्वविद्यालय के प्रो० के०डी० बाजपेयी इनके मत को काफी आदर देते थे।

पुरातत्त्व संग्रहालय के निर्माण में भी डा० साहब के सुभाव मूल्यवान रहे। हालांकि इन्हीं के शिष्य एवं मेरे पूज्य गुरुदेव प्रो० हरिदत्त जी ने इस संग्रहालय को एक रूप दिया था। इनके सुभावानुसार स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन पर चित्र, पत्र आदि सामग्री प्रदर्शित की गयी। उनकी इच्छा रही कि सहारनपुर जिले के टोलों का सर्वेक्षण किया जाये एवं खुदाई की जावे। इस योजना को हम लोगों ने साकार रूप देने का संकल्प लिया हुआ है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता आन्दोलन में गुरुकुल का योगदान पर शोधकार्य कराकर ग्रंथ का प्रकाशन हो—यह भी उनकी तीव्र इच्छा थी—ईश्वर की कृपा रही तो हम लोग उनकी यह भी कामना पूरी करेंगे।

डाक्टर साहब की रचनाओं ने गोविन्द वल्लभ पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार एवं मंगलाप्रसाद पारितोषक आदि पुरस्कार प्राप्त कर गुरुकुल का नाम ऊँचा किया। गुरुकुल एवम् आर्यजगत् को सम्मान दिलाया।

विद्वान् काशीप्रसाद जायसवाल जिन्होंने मूल ग्रंथ हिन्दू पोलिटी आदि पुस्तक लिखी—ने डा० सत्यकेतु के विषय में लिखा है :—

“पुराने हिन्दू पुराविदों की तरह श्रीर नये ऐतिहासिकों की तरह ग्रंथकार ने शिलालेख, प्राचीन पुस्तकों तथा अन्य ऐतिहासिक साधनों से मौर्य राज्य का इतिवृत्त संकलित किया है। मैंने ठोक बजा कर देख लिया, यह माल खरा है।...”

“ऐसे महानुभावों का चरित आजकल की भाषा बढ़ करना एक धर्मकार्य ही, साहित्य में समझना चाहिये । पं० सत्यकेतु जी इस पूर्त की पूर्ति कर चिर-यश के भागी हुए । उनको देश की ओर से बधाई है ।” ये विचार हैं—उन की पुस्तक मौर्य साम्राज्य के इतिहास पर ।

आज डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की रचनाओं के आधार पर अनेक शोध विषय शोध-छात्रों के लिए खुल गये हैं । ऐतिहासिक क्षेत्र में उनके ग्रन्थानुसार दक्षिणी पूर्वी एशिया में अनेक शोध विषय हैं—यथा स्वर्णभूमि, जावा-सुमात्रा में भारतीयता आदि आदि । डाक्टर साहब पर सरस्वती की विशेष अनुकम्पा थी, जिससे वे अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना कर संस्कृति को संजोकर अमरत्व को प्राप्त हो गये हैं एवं हम लोगों को मार्ग बता गये हैं—उसी पर बढ़ते चलें—यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी ।

—डा० जबरसिंह संगर

निर्देशक पुरातत्त्व सग्रहालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४६४०४

उत्तमता गुणों से आती है । ऊँचे आसन पर
बैठ जाने से नहीं ।

* * *

सामने आई अत्यन्त उलझी और भयंकर परि-
स्थिति को भी यदि शान्ति और धैर्य से सुल-
भाओ तो सुलभ जाती है ।

इतिहासज्ञ श्री डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार

—डा० प्रभात शास्त्री, डी० लिट्

भारतीय पुनर्जागरण को जो संबल और प्रबल प्रवाह का रूप आर्यसमाज के आंदोलन ने दिया है, उसका मूल्यांकन कर पाना सम्भव नहीं है। वैदिकधारा से संपृक्त भारतीय मनीषा के मन्तव्यों के सहारे समाजसुधार और आर्षचेतना का उद्घोष करने में इस आंदोलन का महनीय योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। भारतीय राष्ट्रीयता के साथ इसका संबंध प्रारम्भ से ही रहा। प्राचीन वैदिकज्ञान एवं यज्ञ-याग की विधि के पुनःप्रचलन के इसके प्रयास का एक उज्ज्वल पक्ष है। इसी के साथ वैदिक पद्धति का अभिनव रूप गुरुकुल कांगड़ी जैसे शिक्षण केन्द्र हैं। इन संस्थाओं ने न केवल वेद के पारंगत विद्वानों को संरक्षण एवं प्रश्रय दिया, वरन् इसने प्राचीन आयुर्वेद एवम् अन्यान्य वैदिक विद्याओं और उनके स्वरूपों को संरचित करने का प्रयास किया है। ऐसी परम्परा के प्रतिनिधि के रूप में सत्यकेतु विद्यालंकार का व्यक्तित्व हमारे लिए प्रेरक एवम् अभिनन्दनीय है।

१९ सितम्बर १९०३ में जनपद सहारनपुर में जन्मे श्री सत्यकेतु जी ऐसे विरले विद्वान् हैं जिनका वैश्विक ज्ञान अपरिमित है। पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उच्च उपाधि प्राप्त करके आपने साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ किया। फलतः आपके विशद अध्ययन एवं लोकनिरीक्षण के परिणामस्वरूप अनेक ऐसे मानक ग्रंथों का प्रणयन हुआ जिनसे हिन्दी समृद्ध हुई। विशेष रूप से भारतीय इतिहास के क्षेत्र में आपके अवदान को हिन्दी जगत् ने महत्त्वपूर्ण माना और संवत् १९८६ में आपको “मौर्य साम्राज्य का इतिहास” पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उस समय का सर्वोच्च पुरस्कार मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया। एक सफल इतिहासकार के रूप में सत्यकेतु जी ने अपना विशेष स्थान बनाया है। आपके इतिहास संबंधी खोजपूर्ण कार्यों की अपनी विशेषता है। ऐतिहासिक तथ्यों की संगति के साथ प्रवहमान भारतीय संस्कृति की मूलचेतना से पाठक को संपृक्त करते हुए आप युगसंदर्भ के साथ अतीत का स्वस्थ सामंजस्य प्रस्तुत करते

हैं। यह इतिहासदृष्टि प्रायः पश्चिम विद्वानों में न थी। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, श्री काशीप्रसाद जायसवाल, श्री हेमचन्द्र जोशी, डा० रघुवीर, डा० सम्पूर्णनन्द और आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे मनीषियों एवम् इतिहासज्ञों की पंक्ति में सत्यकेतु विद्यालंकार जी की इतिहासदृष्टि पर विचार करना समीचीन रहेगा। बौद्धकाल का राजनीतिक इतिहास, भारत का इतिहास, अपने देश की कथा, भारत का प्राचीन इतिहास, भारत का राष्ट्रीय आंदोलन और नया संविधान, भारत का सांस्कृतिक इतिहास आदि ऐतिहासिक ग्रंथों के माध्यम से आपने भारतीय इतिहास के उत्थान-पतन की गाथा को सुश्रुंखलित किया है।

जैसा प्रारम्भ में कहा गया है आपका अनुभव वैश्विक है। आपने एशिया और यूरोप के देशों का भ्रमण करके प्रचुर अनुभव प्राप्त किया और इसी आधार पर अपने देश और विश्व के राजनीतिक दशंन, संविधान और वहाँ के जनजीवन का परिचय प्रस्तुत किया है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने कालचक्र को प्रभावित किया था। आपने इस विषय पर हिन्दी में उत्कृष्ट ग्रंथों का प्रणयन करके जहाँ राष्ट्रभाषा के भण्डार को समृद्ध किया है, वहीं भारतीय राष्ट्रीयता के संघर्ष को भी प्रेरणा से अनुप्राणित किया था।

श्री विद्यालंकार जी सफल उपन्यासकार भी हैं। आचार्य चाणक्य, पतन और उत्थान, अन्तर्दाह, कंपनी का मैनेजिंग डायरेक्टर, होटल मार्टन आदि आपकी औपन्यासिक कृतियाँ उत्ल्लेखनीय हैं। फ्रांसीसी साहित्य के आधुनिक रचनाकार मोपासां की कहानियों का अनुवाद भी आपने किया है।

उत्तर प्रदेश विधान परिषद् के सम्मानित सदस्य तथा अनेक संस्थाओं के पदाधिकारी के रूप में आपने अनेक जनोपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक कार्यों का निष्पादन किया है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को संप्राण बनाने में आपका योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

श्री सत्यकेतु विद्यालंकार जी एक जागरूक इतिहासज्ञ, राजनीतिक एवं संवैधानिक विषयों के व्याख्याता एवं प्रवक्ता के रूप में समादृत हैं। उनके वैदुष्य का सम्मान करके हम अपने को ही गौरवान्वित करेंगे।

— डा० प्रभात शास्त्री, डी० लिट्

प्रधानमंत्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

वह इतिहास का दीपक बुझ गया

—डा० जयदेव वेदालंकार

कर्मों की विचित्र गति को आज तक कोई भी मनीषी नहीं जान सका। विद्वज्जन कहते हैं कर्मगति कभी नहीं टलती। निखिल शास्त्र निष्णात, विभिन्न मौलिक ग्रंथों के निर्माता योगभाष्यकार महर्षि व्यास ने “कर्मगतिश्चित्रा” और “गहना कर्मणो गतिः” कहकर इसी चिन्तन शक्ति की ओर इंगित किया है कि कौन सा कर्म किस समय फलोन्मुख हो जाये, इस रहस्य को योगीजन भी नहीं जान सके। कर्मगति की यह विचित्रता उस समय और भी दुरूह हो गयी जब सोलह मार्च ८६ को यह कर्णभेदी समाचार कर्णशष्कुलि में प्रविष्ट हुआ कि आर्य जगत् के प्रख्यात विद्वान् और अप्रतिम इतिहासकार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार का कार दुर्घटना में निधन हो गया।

यह दुःखद वृत्तान्त तीर की गति से समस्त आर्य जगत् में प्रसृत हुआ। जिसने भी यह सुना, सहसा विश्वास न कर सका, किंतु नियति के क्रूर हाथ क्या किसी के रोकने से रुके हैं? विस्तीर्ण समाचार मिलने पर ज्ञात हुआ कि डा० सत्यकेतु विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिक उत्सव की व्यवस्था के लिए परामर्श हेतु डा० शेरसिंह (भूतपूर्व केन्द्रीय राज्य मन्त्री तथा वर्तमान कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) डा० धर्मपाल आर्य (प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली) तथा श्री सुभाष विद्यालंकार के साथ सोलह मार्च को प्रातः १० बजे दिल्ली से हरिद्वार कार द्वारा आ रहे थे। हरिद्वार पहुंचने से पूर्व ही बहादुराबाद के निकट कार दुर्घटना-ग्रस्त हो गयी। डा० सत्यकेतु तथा कार ड्राइवर गम्भीर रूप से घायल हुए तथा अस्पताल जाते जाते परलोक वासी हो गए। प्रो० शेरसिंह जी डा० धर्मपाल और श्री सुभाष जी को चोटें आयीं।

दुर्दैव के इस क्रूर खिलवाड़ पर भला हम क्या टिप्पणी करें। कालचक्र किसी की अनुनय-विनय को नहीं सुनता। उसके विकराल पंजे दूरस्थ और व्यवहित प्राणियों के भी प्राणों को निर्धारित अवधि के पूर्ण होते ही जकड़ लेते हैं। डा० सत्यकेतु के इस असाधारण निधन पर एक पुरानी घटना बलात् स्मृति पटल पर आरुढ़ हो गई है। डा० सत्यकेतु वर्ष १९८१ में असाधारण रूप में अस्वस्थ हो गए थे।

योग्यतम चिकित्सकों की भी चिकित्सा निष्फल होती जा रही थी। डा० साहब को कुछ ऐसा आभास होने लगा था कि सम्भवतया अब यह भौतिक काया विच्छुड़ने ही वाली है। उन्हें मृत्यु का तो भय ही नहीं था। चिन्ता केवल इस बात की थी कि आर्यसमाज का जो एक दुष्कर कार्य शेष रह गया था, वह नहीं हो पायेगा। उन्हें आर्यसमाज का वृहत् इतिहास लिखना था जो उन जैसा अप्रतिम वैदुष्य पूर्ण व्यक्ति ही कर सकता था। उन्होंने सच्चे हृदय से प्रभु से प्रार्थना की कि हे प्रभु! यदि आप मुझे इस वार स्वस्थ कर दें और जीवन के कुछ वर्ष और बढ़ा दें तो मैं आर्यसमाज का इतिहास लिखूंगा। कहते हैं भगवान् तो निर्मल हृदय में ही रहते हैं और आराधक की सद्भावना को स्वीकार करते हैं। डाक्टर साहब की प्रार्थना स्वीकृत हो गई, वे स्वस्थ हो गए। अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने “आर्यसमाज का वृहद् इतिहास” लिख कर आर्य जगत् को अनमोल ग्रंथ-रत्न प्रदान किया।

तदनन्तर गुरुकुल के अधिकारियों ने डाक्टर साहब से यह आग्रह किया था कि वे गुरुकुल के अठासी वर्ष का इतिहास भी लिखें जिससे गुरुकुल का प्राचीन गौरव जनमानस पर अंकित हो। इस प्रार्थना पर डा० सत्यकेतु जी ने गुरुकुल का इतिहास लिखने का मन बना लिया था। किन्तु कर्मगति कुछ और ही थी। वे शायद उस अपनी प्रार्थना को भूल गए थे। जीवन के ये आठ वर्ष शायद उन्हें आर्यसमाज का इतिहास लिखने के लिए ही मिले थे। आर्यसमाज का यह इतिहास सात-सात सौ पृष्ठों के सात खंडों में निबद्ध है। अन्तिम खंड की पूणता होने के कुछ काल पश्चात् ही उन की इहलीला सम्पन्न हुई।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के इस अकाल महाप्रयाण को जानकर ऐसा लगा जैसे नियति के क्रूर भ्रंशवात ने किसी जाज्वल्यमान प्रकाश स्तम्भ को उखाड़कर फेंक दिया हो। मानो कोई विशाल छाया छत्र वात्याचक्र के द्वारा उड़ा दिया गया हो और लाखों आर्यजनों के सिर पर संकट की कठिन आपद् आ पड़ी हो।

डाक्टर साहब जब तक जीवित रहे तब तक आर्यसमाज और गुरुकुल कांगड़ी की ही सेवा करते रहे। यद्यपि उनका शास्त्र चिन्तन और ज्ञान का क्षेत्र बहुत आयासी था किन्तु उन्होंने यश की लिप्सा से दूर रहकर निस्स्वार्थ भाव से आर्यजगत् की ही तन मन और धन से सेवा की।

डा० सत्यकेतु के जीवन-वृत्त पर यदि दृष्टिपात करें तो हम यह पायेंगे कि उनकी समस्त आयु परहित और जनकल्याण में ही व्यतीत हुई।

उनका जन्म १९ सितम्बर १९०३ को जिला सहारनपुर के अन्तर्गत आलमपुर ग्राम में हुआ था। उनकी समस्त शिक्षा दीक्षा गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय में स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनकाल में हुई। शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी सत्यकेतु स्मृति अंक

श्रद्धानन्द के कार्य को ही आगे बढ़ाते हुए उनका जीवन पूर्ण हुआ। शिक्षा के अनन्तर वे बहुत समय तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक रहे। बाद में वे वहीं के कुलपति रहे। उनके कुलाधिपतित्व में गुरुकुल ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की।

डाक्टर साहब मूलतः एक शिक्षाविद् साहित्यकार थे। साहित्य रचना में ही उनका अधिक समय व्यतीत हुआ। उनकी लगभग चालीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें इतिहास राजनीति और उपन्यास सम्मिलित हैं “मौर्य साम्राज्य का इतिहास” नामक ग्रन्थ पर २६ वर्ष की आयु में १९२६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक से विभूषित किया। इसके अतिरिक्त पंडित मोतीलाल नेहरू पुरस्कार और पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त पुरस्कार भी उनकी अन्यान्य पुस्तकों पर दिए गए।

आयु के अन्तिम भाग में उन्होंने “आर्यसमाज का बृहत् इतिहास” नामक विपुलकाय ग्रन्थ लिखा जो उनकी परिपक्व मेधा, अन्वेषण प्रतिभा और श्रद्धा का उत्साह का अक्षय कीर्तिस्तम्भ है।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की साहित्य रचना-चातुरी का सर्वाङ्गीण मूल्यांकन सम्भव नहीं है। ऐसे मनीषी संरक्षक प्रवर के अभाव से समस्त कुलवासी आश्रय-हीन सा अनुभव करते हैं। भवितव्यता के हाथों विवशता का अनुभव करते हुए हम इतना ही कह सकते हैं कि उनकी क्षति अपूरणीय है। गुरुकुल पत्रिका परिवार की ओर से परम प्रभु से प्रार्थना है कि वह उनको उस सत्यलोक की प्राप्ति कराए जो महान् पुण्यशालियों को प्राप्त होती है।

—डा० जयदेव वेदालंकार

सम्पादक “गुरुकुल पत्रिका”

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भाई डा० सत्यकेतु जी : मानवीय पक्ष

—डा० रघुराज गुप्त

मेरे बाबा जादोराय जिला सहारपुर के मशहूर गांव रायपुर के एक साधारण जमींदार और महाजन थे। सिर्फ उर्दू पढ़े थे। युवावस्था में इसी शती के प्रारम्भ में वे आर्यसमाज के प्रभाव में आये और हरिद्वार कुंभ में गुरुकुल कांगड़ी के स्थापना की कोशिश में लगे महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) से उनका परिचय और प्रेम हुआ। तभी उन्होंने संकल्प किया कि वे अपने पुत्र और भाइयों की संतानों को सात साल का होने पर गुरुकुल पढ़ने भेजेंगे। अतः उन्होंने अपने पुत्र घनराज को १९०७ में और तीन साल बाद सत्यकेतु और अत्रिदेव को गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा ग्रहण करने भेजा। तीनों गुरुकुल के स्नातक बने। इनमें सत्यकेतु सर्वाधिक प्रसिद्ध और सम्मानित हुए।

सन् १९०७-१० ई० के बीच एक ग्रामीण वणिक् अग्रवाल जाति के ये तीन बालक पुराने गुरुकुल अरण्य में स्वामी श्रद्धानन्द जैसे त्यागी, प्रबुद्ध शिक्षक और देशभक्त के सुपुर्द कर दिए गये थे।

इसे विचित्र योगायोग या दैव दुर्विपाक कहा जायेगा कि ये तीनों ग्रामीण वणिक्-सुत जिनमें से किसी के माता-पिता खास पढ़े-लिखे न थे, अपनी-अपनी कक्षा में सर्वोच्च और मेवावी छात्र सिद्ध हुए और विशिष्ट विषयों में इन्होंने अपनी-अपनी धाक जमाई। सत्यकेतु जी ने इतिहास में, अत्रिदेव ने आयुर्वेद में और घनराज जी ने दर्शनशास्त्र में ख्याति पाई।

सत्यकेतु जी ने स्नातक बनते ही अपने पांडित्य का परिचय दिया। वे शीघ्र ही वहां पर इतिहास के प्राध्यापक नियुक्त हुए। और दो-तीन वर्षों के गंभीर अध्ययन और शोध के बाद उन्होंने कदाचित् पच्चीस साल की उम्र में ही "मौर्य साम्राज्य का इतिहास" जैसा प्रौढ़ ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसकी भूमिका भारतीय इतिहास के तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखी। मौर्य साम्राज्य पर सत्यकेतु जी का यह एक अत्यन्त मौलिक और विशद ग्रंथ मंगलाप्रसाद पारितोषिक से भी पुरस्कृत हुआ। इस प्रकार युवावस्था में ही सत्य-

सत्यकेतु स्मृति अंक

केतु जी ने अपनी गंभीर विद्वत्ता का परिचय दिया ।

सत्यकेतु जी मात्र इतिहासकार ही न थे । देश में हो रहे परिवर्तनों में भी उनकी गहरी दिलचस्पी थी । इसलिए वे विद्या विलास के अलावा कांग्रेस के राज-नैतिक और समाज सेवा के रचनात्मक कार्यों में भी सक्रिय हुए ।

१९३३ के लगभग वे रामकृष्ण डालमिया द्वारा प्रदत्त एक छात्रवृत्ति पर पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि के लिए कार्य करने गये और वहाँ उन्होंने “अप्रवाल जाति के इतिहास” पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की । वहाँ पर फ्रेंच संस्कृत प्रो० लूई रेनू से जो उनके मार्गदर्शक थे, उनका घनिष्ठ सम्पर्क हुआ । प्रोफेसर रेनू सत्यकेतु जी के संस्कृत भाषा एवं साहित्य के ज्ञान और धारा प्रवाह संस्कृत संभाषण के उनके अभ्यास से चमत्कृत हुए । पेरिस में डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० केसकर उनके साथ शोध कर रहे थे ।

पेरिस से लौटने के बाद डा० सत्यकेतु की इच्छा किसी विश्व-विद्यालय में कार्य करने की थी । परन्तु डाक्टर साहब को कोई उपयुक्त अध्यापन कार्य न मिल सका । उन्होंने दिल्ली से एक गंभीर मासिक पत्रिका “देश-विदेश” निकालनी प्रारम्भ की, परन्तु साल भर में ही “देश-विदेश” ठप्प हो गयी ।

इसी बीच एक नया विचार उपजा कि क्यों न एक पब्लिक-स्कूल खोला जाये जिसमें गुरुकुल प्रणाली और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का संतुलित समन्वय हो । दिल्ली में स्कूल स्थापित किया । अपने परिचितों के कुछ बच्चे उसमें दाखिल हुए, कुछ युवा स्नातक अध्यापक के रूप में आये । स्वयं डाक्टर साहब और उनकी पत्नी ने अध्यापन, प्रशासन, परिवेक्षण संभाला । बाद में डाक्टर साहब इस स्कूल को मसूरी ले गये । कुछ दिन चलकर यह भी विद्यार्थियों और वित्तीय साधनों के अभाव में बन्द हो गया । फिर गर्दिशे दौरा में आ गये ।

उन्हें पता चला कि मसूरी में “लक्समाउण्ट” नाम की एक कोठी बिकाऊ है । परन्तु पैसा पास में न था । अन्त में मित्रों के सहयोग से डा० साहब लक्समाउण्ट के मालिक बन गये ।

महायुद्ध चल रहा था । मसूरी में गोरे अंग्रेज-अमरीकी सैनिकों की आवा-जाही जारी रही थी । ऐसे समय डाक्टर साहब ने “लक्समाउण्ट” को एक होटल में परिवर्तित किया । उनकी सहधर्मिणी श्रीमती मुशीला शास्त्री ने उनका हाथ बंटाया । दोनों विद्वान् एक इतिहासकार और दूसरी संस्कृत पंडिता—होटल मालिक और मैनेजर बन गये ।

सालों के संघर्ष के बाद पहली बार आर्थिक सफलता मिली, समुचित सुरक्षा

और कुछ चैन। साहित्य सृजन का पुराना शौक जागा। डाक्टर साहब ने “यूरोप का इतिहास” नामक पोथा लिख मारा। हिन्दी भाषा में यह इस विषय की पहली, प्रामाणिक, अद्यतन और रोचक रचना थी। डाक्टर साहब ने स्वयं ही “सरस्वती सदन” नाम की एक प्रकाशन संस्था बनाकर उसके माध्यम से उसे प्रकाशित किया। उनका “यूरोप का इतिहास” खूब कामयाब हुआ। इससे उन्हें बड़ा प्रोत्साहन मिला। फिर तो लिखने का अनवरत क्रम चालू हुआ। भारतीय इतिहास, राजनीति के अनेक ग्रन्थ लिखे, जो अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रशंसनीय हुए।

इसी बीच डाक्टर साहब के मन में विचार उठा, कि क्यों न गुरुकुल, डाबर, भंडू की तरह एक आयुर्वेदिक औषधियां बनाने-बेचने की फार्मसी खोली जाये। मसूरी में ही वह शीघ्र खुल गयी। कुछ चली, कुछ न चली और बाद में ताला पड़ गया।

इधर १९४७ में आजादी आई और नैनीताल में अंग्रेजों का होटल “मेट्रोपोल” बिकाऊ था। डाक्टर साहब ने उसका सौदा किया और कुछ साल उसे चलाया।

डाक्टर साहब के हाथ में अब कुछ रुपया आ गया था, पर वे कुछ ऐसा धन्धा करना चाहते थे जिसमें बड़ी और स्थायी कमायी हो। मसूरी में रहते जमीन जाय-दाद खरीदने-बेचने का धन्धा भी किया। उससे भी तबियत भर गयी।

डाक्टर साहब ने चन्दौसी में एक सरसों के तेल का कारखाना खरीद लिया। पर साल भर बाद वह भी हाथ से निकल गया।

शायद इसी समय डाक्टर साहब को उचंग उठी कि ‘रंजन फिल्म’ के नाम से एक फिल्म कम्पनी बनाई जाये जिसकी पहली फिल्म “स्वामी दयानन्द पर बने। आर्यसमाज के दायरे में डाक्टर साहब की पर्याप्त पहुँच और प्रसिद्धि थी। अतः उनकी फिल्म कम्पनी के शेयर भी प्रायः उन्हीं ने खरीदे। पर पर्याप्त जमा पूँजी और अनुभव के अभाव में डाक्टर साहब की यह “हवाई किला योजना” भी काल-कवलित हो गई।

अन्ततोगत्वा डाक्टर साहब ने यह महसूस किया कि कलम ही उनका सबसे कीमती और माकूल हथियार है। इधर उनके द्वारा प्रेरित और स्थापित प्रकाशन गृह “सरस्वती सदन” उनके सुपुत्र के श्रम और लगन से अच्छा चल पड़ा था। उन्हें किसी विश्वस्त प्रकाशन को ढूँढने की समस्या न थी। अतः वे पूरे जोश से लेखन कार्य में लग गये। मसूरी की स्वच्छ जलवायु और ‘लक्समाउण्ट’ का आवास इसके लिए आदर्श स्थान था। वे बारह महीने जाड़े-गर्मी वहाँ रहते थे। गर्मी में टूरिस्ट सीजन में वहाँ सब प्रकार के लोग लेखक-विद्वान् भी पहुँचते, डा० साहब से भी मिलते और वे उनसे घंटों गप्प लड़ाते और चाय पीते।

इसी दौरान १९५२ में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने एक युवा मारवाड़ी से अपनी किताबों का अनुबन्धन कर उन्हें एक बंगला मसूरी में मुहैया कराया और वे भी वहां की हैपी वैली में जा बसे। मसूरी के पहाड़ पर हिन्दी के ये दोनों दिग्गज जम गये। वे पहले से एक दूसरे से परिचित थे। पर निरन्तर प्रवास और स्थायी आवास ने इन दोनों को अत्यन्त निकट ला दिया। डा० सत्यकेतु नियमित घूमने के शौकीन थे। मसूरी मध्य स्थित 'लक्समाउण्ड' से राहुल जी का बंगला ३-४ मील होगा। वे रोज वहां तक जाते और गपशप लगाते।

यहीं पर एकांत से ऊबे, शिथिल पर सक्रिय, सृजनशील राहुल को अपनी टाइपिस्ट कुमारी कमला जो उनकी सेवा में थी, सामाजिक लोकाचार की रक्षा के लिए पत्नी रूप में ग्रहण का विचार बना। इस पुण्य कार्य में डा० सत्यकेतु उनके विश्वस्त सहायक बने। एक शुभ दिन डा० सत्यकेतु ने पुरोहित बन महापंडित राहुल सांकृत्यायन और कुमारी कमला का विवाह संस्कार सम्पन्न कराया। राहुल ने अपनी "जीवन यात्रा" में इसका विवरण दिया है।

मसूरी प्रवास का छठा दशक कदाचित् डाक्टर साहब के जीवन का सर्वाधिक सृजनात्मक और सुखी काल रहा। इसी बीच १९५२ में श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित के नेतृत्व में सद्भावना मिशन के सदस्य के रूप में आचार्य नरेन्द्रदेव के साथ चीन गये।

वे इस समय भारतीय विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के लिए इतिहास और राजनीति पर घुंआधार मौलिक और श्रेष्ठतम पाठ्य-पुस्तकें लिख रहे थे, जिन्हें बड़ी ख्याति और प्रतिष्ठा मिली। पर उन्होंने अनुभव किया कि बिना अच्छा उपन्यासकार बने साहित्य में स्थायी स्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने सब से पहले एक ऐतिहासिक उपन्यास में हाथ लगाया। वह था "आचार्य चाणक्य"। मौर्यकालीन इतिहास के वे जाने-माने अधिकारी विद्वान् थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की बारीकियां उन्हें हस्तामलक थीं। उस समय की भाषा और संस्कृति में वे डुबकियां लगा चुके थे। अतः चाणक्य पर उनका यह उपन्यास बहुत सफल और चर्चित हुआ, पर वे इससे संतुष्ट न हुए। उन्हें समकालीन आधुनिक जीवन की पृष्ठभूमि में कुछ लिखने की ललक थी। अतः उन्होंने अपने प्रत्यक्ष जीवन, अनुभव और अवलोकन पर आधारित 'अन्तर्दाह' उपन्यास लिखा।

डाक्टर साहब को राजनीति में गहरी दिलचस्पी थी। वैसे तो मसूरी प्रवास में कदाचित् राहुल जी के सान्निध्य के प्रभाव में उनका भुकाव वामपंथी साम्यवादी विचारधारा की ओर हुआ, पर हिन्दी की लेकर राहुल जी की भांति उनका भी कम्युनिस्टों से प्रबल मतभेद था। वे भारतीय संस्कृति के ज्ञाता और

अनुरागी थे ।

१९५७ में जनसंघ के टिकट पर वे रामपुर से लोकसभा के लिए चुनाव में खड़े हुए और हारे । कुछ साल बाद १९६५ के लगभग उन्हें पुनः विधान परिषद् में घुसने की इच्छा बलवती हुई और वे बरेली क्षेत्र से स्नातकों के लिए सुरक्षित सीट पर कांग्रेसी उम्मीदवार से भिड़ गये । उन्हें एक मत ज्यादा मिला था, फिर कांग्रेसी उम्मीदवार सफल घोषित कर दिया गया । डाक्टर साहब ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में इलेक्शन पिटीशन किया । वहां से हारकर, सुप्रीम कोर्ट गये, और वहां से जीतकर वे उत्तर प्रदेश विधान परिषद् के सदस्य बने ।

आठवें दशक में उन्होंने एक स्थायी महत्व का स्मरणीय कार्य किया, वह था सात खण्डों में “आर्यसमाज का बृहत् इतिहास” जो उन्होंने, अपने समकक्ष शिष्य और परम विद्वान् प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार तथा अन्य वैदिक विद्वानों के सहयोग से पूरा किया ।

अपनी शिक्षास्थली गुरुकुल विश्वविद्यालय से डाक्टर साहब को विशेष लगाव था । स्वतन्त्रताप्राप्ति के पिछले चार दशकों में इस राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान, जिसे कभी गोपाल कृष्ण गोखले, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी०एफ० ऐंड्रयूज जैसे महानुभावों ने सराहा था, की बड़ी दुर्दशा हुई । यह अग्रणी विश्व-विद्यालय दलगत राजनीति, विनिहित स्वार्थों और अध्यापकों और विद्यार्थियों की राजनीति का अड़डा बन गया । इसकी विपुल भूमि और सम्पत्ति विशेष आकर्षण रह गयी । इस काल में अर्धशिक्षित, शराबी, पिस्तौलधारी, स्वार्थी तत्त्वों ने इस शिक्षण संस्थान को नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी । ऐसे समय में डा० सत्यकेतु को गुरुकुल विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया गया ।

इससे आशा बंधी कि कदाचित् गुरुकुल विश्वविद्यालय का पुनरुद्धार हो सकेगा । डा० सत्यकेतु स्थापित स्वार्थों के सामने सफल न हुए । पिछले पन्द्रह सालों में विश्वविद्यालय प्रबन्ध को हथियाने के लिए खींचतान चलती रही । इसे शिक्षा का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि मार्च १९८९ में डाक्टर सत्यकेतु गुरुकुल विश्व-विद्यालय के कार्य संचालन के सिलसिले में प्रबन्धकारिणी के कुछ सदस्यों के साथ दिल्ली से गुरुकुल जाते हुए मोटर दुर्घटनाग्रस्त हुए । गुरुकुल को सुधारने की मुहिम में ही उन्हें अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी ।

जीवन के अन्तिम क्षण में यूँ तो डाक्टर सत्यकेतु जी को सरस्वती और लक्ष्मी दोनों का ही वरदहस्त मिला, यश और धन भी । पर जिस कारण मैं विशेष रूप से याद करता हूँ, वह थी उनकी मानवीयता, अनन्त, जिज्ञासा, ज्ञानपिपासा, साहस, संघर्षमय जीवन और जिंदादिली ।

—डा० रघुराज गुप्त

ए-२, बालदा कालनी, लखनऊ-७

सत्यकेतु स्मृति अंक

प्रेरक व्यक्तित्व और कृतित्व के धनी

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

—डा० महेश विद्यालंकार

‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः’ जो संसार में आया है वह एक दिन निश्चय ही संसार से जायेगा। इस अटल नियम में सभी आबद्ध हैं। अधिकांश लोग जगत् में आए, खाया पीया, भोग विलास किया, धन-वैभव, सुख-साधन, जोड़ा और चल दिए। न कोई आने का प्रयोजन, न जाने का ध्येय, इसी क्रम में संसार भटक रहा है। कुछ काल के बाद यह बोध भी समाप्त हो जाता है कि कौन, कहाँ, कब आया और गया था। समय की तेज धारा में सब कुछ विलीन हो जाता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे कालजयी इतिहास पुरुष हो जाते हैं, जो अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से ऐसे कर्म-चिह्न, प्रेरणा एवं आदर्श छोड़ जाते हैं। जिससे राष्ट्र, समाज, परिवार, व्यक्ति, संगठन एवं संस्थाएं समय-समय पर पथ-प्रदर्शन लेते हैं। जिनके तप-त्याग-तपस्या, बलिदान तथा सेवा की गाथाएं राष्ट्र की घरोहर बन जाती हैं। जो व्यक्ति न रहकर एक विचार व प्रेरणा बन जाते हैं। समष्टि का रूप धारण कर लेते हैं। जिनकी तप एवं सेवा का कृतज्ञ राष्ट्र जन्म-दिन, शताब्दी, प्रेरणा दिवस आदि के रूप में स्मरण करता है। जिनके महत्त्व और योगदान पर लोग, पुस्तकें, स्मारिकाएं, शोध-प्रबन्ध, लेख आदि लिखते और पढ़ते हैं। ऐसे ही स्वनाम धन्य डा० सत्यकेतु का व्यक्तित्व है, कृतित्व है। जो इतिहास, संस्कृति तथा आर्यसमाज के श्रद्धेय, स्मरणीय व गौरवास्पद रहेंगे। जिन्होंने अपना जीवन कृषक कुटोरा से आरम्भ कर राष्ट्र के महान् सपूतों, सेवकों एवं लेखकों में अग्रगण्य बनाया। यह उनके सतत गुरुधर्म, योग्यता एवं लगन का परिचायक है। वे गुरुकुल के ह्याति प्राप्त सुयोग्य स्नातक थे। उन्होंने अपनी लेखनी और विद्वत्ता से गुरुकुल कांगड़ी को यश और सम्मान दिलाया। गुरुकुलत्व के प्रति लोगों के मन में श्रद्धा-भाव जागृत कराया। यदि किसी के सामने गुरुकुल के प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम प्रस्तुत करना चाहें तो उस पंक्ति में डा० सत्यकेतु जी का प्रथम स्थान होगा। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में प्राचीनता और नवीनता का भौतिकता और आध्या-

स्मिकता का अद्भुत समन्वय था। वे प्राचीन इतिहास, संस्कृति, दर्शन आदि को आज के जीवन-जगत् तथा लोक व्यवहार से जोड़ने के पक्षधर थे।

मेरी प्रथम भेंट डा० सत्यकेतु जी से १९७१ में मसूरी में हुई। गुरुकुल में उनके नाम की चर्चा सुनी थी। एकाकी भ्रमणार्थ मसूरी जाना हुआ। आर्यसमाज मन्दिर में ठहरा। एक दिन मिलने उनकी कोठी पर पहुँच गया। बड़े सहज-सरल, स्वाभाविक एवं आत्मीयता से काफी देर तक बातचीत, गुरुकुल का हाल-चाल पूछते रहे। चलते समय कहा, 'मैं नित्य सायंकाल कम्पनी बाग की ओर लम्बी सैर पर जाता हूँ। आप जब तक इधर ठहरे हैं, आ जाया करें, बातचीत में अच्छा समय मिलेगा। मैं नित्य उनके साथ जब तक वहां रहा सैर पर जाता रहा। उनसे संस्कृति, इतिहास, आर्यसमाज, भारतीय-चिन्तन आदि पर जिज्ञासुभाव से पूछता था। वे इतने सुन्दर, सरल, तर्कपूर्ण उत्तर रखते थे, जो सहज ही बुद्धिग्राह्य हो जाते थे।

सादा जीवन उच्च विचार उनके व्यक्तित्व में पूरी तरह से उतरा था। वे खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवहार आदि में बड़े सरल, सौम्य रहे। यद्यपि विदेशों में रहे, किन्तु अपनी भारतीय अस्मिता को नहीं छोड़ा। मूल वैदिक जाबनादशों और संस्कारों का जीवन से अलग नहीं होने दिया। सदैव दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से दूर रहे। ज्ञान, योग्यता, सम्मान आदि की दृष्टि से इतने बड़े होने पर भी इतना कोई नम्र, विनीत हो सकता है। इसके वे प्रत्यक्ष प्रमाण थे। अहंकार आडम्बर व प्रदर्शन से अपने को पृथक् रखा। गुरुकुल कांगड़ी के उपकुलपति व कुलाधिपति रहते हुए कभी, कोई किसी समय उनसे मिल, सकता था। यथासंभव सभी की सहायता, सहयोग की भावना उनमें बलवती रही। उनके व्यक्तित्व की एक उदात्त-भावना यह भी रही, कि वे किसी को अपने से छोटा नहीं होने देते थे। साधारण व्यक्ति भी बात करता तो उसे यह महसूस नहीं होने देते थे कि वह किसी दृष्टि से छोटा है। ऐसा भाव बहुत कम व्यक्तियों में मिलता है।

डा० सत्यकेतु जी ने कृतित्व के माध्यम से जो विचार चिन्तन, दृष्टि, मूल्य आदि दिए हैं। वे चिरकाल तक स्मरणीय, पठनीय और वन्दनीय रहेंगे। उन्होंने भारतीय संस्कृति, इतिहास, राजनीति, समाज शास्त्र आदि पर अधिकार पूर्वक, गवेषणापूर्ण और मौलिकता भरा साहित्य लिखा। जो भी लिखा अद्भुत, अनूठा, एवम् अनुपम है। वे लेखन-कला के मर्मज्ञ एवं सिद्धहस्त थे। अपनी प्रस्तुति में सरलता, रोचकता व प्रवाहमयता का आद्यन्त ध्यान रखते थे। इसी कारण उनके आरम्भिक उपन्यास बहुचर्चित हुए। आर्यसमाज का इतिहास उनकी अन्तिम महत्त्वपूर्ण कृति है। वह ऐसा मानक खोजपूर्ण तथा श्रमसाध्य योगदान है, जो चिर स्मरणीय रहेगा। यद्यपि इतिहास लेखन शुष्क, दुरूह, जटिल व कष्टपूर्ण कार्य होता है।

डा० सत्यकेतु जी ने इस कार्य को बड़ा सरल-सुबोध शैली में आम आदमी तक पहुंचा दिया। यह उल्लेखनीय उपलब्धि है। जिसे आने वाली पीढ़ियां श्रद्धावन्त होकर स्मरण करेंगी।

ऐसे महान् एवं प्रेरक व्यक्तित्व और कृतिश्व के घनी डा० सत्यकेतु विद्यालंकार इतिहास, गुरुकुल और आर्यसमाज के लिए चिरस्मरणीय रहेंगे। उनका योगदान राष्ट्र के लिए वन्दनीय है। ऐसे प्रेरणापूर्ण पुरुष के लिए श्रद्धा, आदर का सम्मान के साथ अनेकशः स्मरण एवं श्रद्धांजलि।

—डा० महेश विद्यालंकार

प्रवक्ता, मोतीलाल नेहरू कालेज, नई दिल्ली

जितनी सत्यनिष्ठ और सुधारक संस्था आर्य-समाज है, उतनी और कोई नहीं।

* * *

संस्थाओं में अब भी इतना अन्धविश्वास भरा पड़ा है, जिस में देश का असंख्य घन एवम् अमूल्य समय बुरी तरह बरबाद हो रहा है।

स्व० डा० सत्यकेतु के प्रति मेरे श्रद्धासुमन

—डा० रामनाथ वैदालंकार

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के व्यक्तित्व का मूल्यांकन कई दृष्टियों से किया जा सकता है। प्रथम, वे एक सुयोग्य शिक्षक थे। अनेक वर्षों तक कांगड़ी विश्व-विद्यालय में इतिहास के शिक्षक रहे। वे कक्षा में पढ़ाते हुए केवल पाठ्यक्रम तक ही सीमित नहीं रहते थे, किन्तु बाह्य विविध विषयों का ज्ञान भी करा देते थे। छात्र विभिन्न सामयिक विषयों पर अपनी समाग्रियों में उनके व्याख्यान भी कराते थे। वाक्प्रतियोगिताओं एवं लेखन प्रतियोगिताओं के लिए वे छात्रों को विषय सामग्री भी देते थे। उनके निर्देशन में महाविद्यालय के छात्र कई बार मॉक पार्लियामेंट भी करते थे।

उनकी साहित्यिक गतिविधि का क्षेत्र बहुत व्यापक था। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद माना है, जिसमें कारण से पूर्व ही कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है। डा० सत्यकेतु के ग्रन्थ इतनी शीघ्रता से तैयार होते थे कि उक्त अलंकार का आश्रय लेकर हम कह सकते हैं कि वे ग्रन्थ की योजना बाद में बनाते थे, ग्रन्थ पहले तैयार हो जाते थे। इतिहास, राजनीति-शास्त्र के तो वे घुरन्घर विद्वान् थे ही, अतः इन विषयों पर उनकी लेखनी ने अनेक ग्रन्थ-रत्न प्रसूत किये, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं समझी जायेगी। किन्तु उन्होंने आचार्य चाणक्य आदि कई उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास भी लिखे, जिससे इस दिशा में भी उनकी कीर्ति को चार चांद लगे।

अपनी आयु के अन्तिम दशक में उन्होंने आर्यसमाज का साहित्य लिखने की योजना बनायी और बृहदाकार सात खण्डों में 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखकर एवं प्रकाशित कर अभूतपूर्व कार्य कर दिखाया। इस महान् ग्रन्थ को आर्यसमाज का 'इन्साइक्लोपिडिया' कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। गुरुकुल की शिष्ट परिषद् के आग्रह पर उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का बृहद् इतिहास लिखना भी स्वीकार कर लिया था, परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि उसके लेखन से पूर्व ही वे

कालकवलित हो गये ।

जब वे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति बने, तब मैं संस्कृत-विभाग का अध्यक्ष होने के साथ-साथ आचार्य एवं उपकुलपति का कार्य कर रहा था । मुझ पर उनका इतना विश्वास रहा कि बहुधा कुलपति का भी सब कार्य मुझ पर छोड़कर निश्चिन्तता के साथ वे गुरुकुल की बाह्य गतिविधियों के लिए प्रायः बाहर चले जाते थे । उनका कुलपतित्व कई दृष्टियों से गुरुकुल के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण रहा ।

गुरुकुल विश्वविद्यालय में तो विभिन्न विषयों पर उनके भाषण होते ही थे, अन्य विश्वविद्यालय भी उन्हें भाषणों के लिए निमन्त्रित करते थे । शान्तिनिकेतन, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी आदि में ससम्मान उन्हें आमन्त्रित करके उनके अनेक व्याख्यान कराये जाते रहे । जब उन्होंने मुहाव्रयाण किया तब वे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति थे । शिक्षा के विषय में उनके कुछ महत्वपूर्ण विचार थे, जो प्राचीन एवं पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन और देश-विदेश के विभिन्न शिक्षणालयों के अवलोकन से परिपक्व हुए थे । उन्हें वे गुरुकुल में क्रियान्वित करना चाहते थे ।

मैं और वे एक-दूसरे के प्रशंसक रहे । वैदिक-साहित्य के लेखन में मुझे उन से परामर्श एवं प्रोत्साहन प्राप्त होता रहता था । जब भी गुरुकुल आते थे, तब सपत्नी के मेरे पास आना नहीं भूलते थे । मुझे उनका अभाव कई दृष्टियों से अनुभव होता है । वे मेरे बड़े भाई थे, गुरु के तुल्य थे, दिशा-निर्देशक थे, प्रोत्साहक थे और अब उनके आर्य सामाजिक साहित्य के लेखन के क्षेत्र में अवतीर्ण हो जाने पर तो हम दोनों एक ही मार्ग के सहयात्री थे । उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला जी का भी मेरे प्रति सदा स्नेह भाव रहा है । डा० सत्यकेतु का अभाव जहाँ इतिहास, राजनीति, काव्य, आर्यसमाज एवं गुरुकुल के लिए एक महती क्षति है, वहाँ मैं व्यक्तिगत रूप से भी उनके अभाव को दुःखद रूप से अनुभव करता हूँ । उन्हें मेरे श्रद्धा-सुमन अर्पित हैं ।

—डा० रामनाथ वेदालंकार

इतिहासवेत्ता सत्यकेतु जी

—क्षेमचन्द सुमन

यह हमारे लिए बड़े सन्ताप का विषय है कि हमारे बीच प्रख्यात इतिहासवेत्ता श्री सत्यकेतु विद्यालंकार नहीं रहे। सत्यकेतु जी अपने छात्र-जीवन से ही अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। यही कारण है कि गुरुकुल से स्नातक होते ही उन्होंने थोड़े से ही समय में अपनी योग्यता तथा अध्ययनशीलता से हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त उल्लेखनीय स्थान बना लिया था।

उन्होंने जहां पेरिस विश्वविद्यालय से 'अग्रवाल जाति का इतिहास' नामक अपने शोधपूर्ण ग्रंथ पर डी० लिट् की सम्मानोपाधि प्राप्त की थी वहीं उन्हें उनकी 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' नामक महत्त्वपूर्ण कृति पर अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने अपना सर्वोच्च 'मंगला प्रसाद' पारितोषिक प्रदान किया था।

गुरुकुल कांगड़ी में इतिहास के प्राध्यापक के रूप में कार्य करते हुए उन्होंने इतिहास-क्षेत्र में स्व० चन्द्रगुप्त वेदालंकार तथा हरिदत्त वेदालंकार जैसे गम्भीर इतिहास-गवेषक प्रदान करने के साथ-साथ अन्य बहुत से शोध-ग्रंथ भी लिखे थे। गुरुकुल की सेवा से मुक्ति प्राप्त करने के उपरान्त आपने अपने साहित्यिक परिवेश को और भी व्यापक बनाया तथा कई महत्त्वपूर्ण उपन्यास एवं राजनीति-शास्त्र के गम्भीर ग्रन्थ लिखकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी जो कार्य किया था उससे उनकी संकल्पप्रवणता का परिचय मिलता है। उन्होंने दिल्ली में एक ऐसे 'पब्लिक स्कूल' की स्थापना की थी जिसमें बालकों को आर्य संस्कृति के आधार पर आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। दुर्भाग्यवश जब उन्हें इस शिक्षा में सफलता नहीं मिली तो उन्होंने मंसूरी जाकर एक 'होटल' भी चलाया। इसके मनोरंजक संस्मरण उन्होंने अपनी 'मैंने होटल चलाया' नामक कृति में अंकित किए हैं। वहां पर रहते हुए ही आपने 'सरस्वती सदन' नामक संस्था की स्थापना करके लेखक तथा प्रकाशन का कार्य किया। यह प्रकाशन अब भी उनके पुत्र विश्वरंजन तथा पुत्रवधू द्वारा भली-भाँति

संचालित हो रहा है उनकी अनेक पुस्तकें उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में भी निर्धारित हैं।

अपने जीवन के अन्तिम दो दशकों में वे कई वर्ष तक 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय' के कुलपति रहे वहां अन्तिम दिनों वे उसके 'परिद्रष्टा' थे और इसी प्रसंग में गुरुकुल जाते हुए उनका एक सड़क दुर्घटना में कारुणिक अन्त हो गया। उन्होंने अपनी साहित्य-यात्रा में 'आर्यसमाज' के ऋण को उतारने की दिशा में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसी के परिणाम स्वरूप वे 'आर्यसमाज का इतिहास' के सात खंड प्रकाशित कर सके। उनकी यह कृति आर्यसमाज के गौरवपूर्ण अतीत और उसके उज्ज्वल उत्कर्ष की स्वर्ण गाथा है।

यह दुर्भाग्य का विषय है कि विधाता ने उन्हें हम से इस प्रकार छीन लिया। यदि वे जीवित रहते तो अभी हिन्दी साहित्य को अपनी लेखनी से और भी महत्त्वपूर्ण अवदान देते फिर भी उन्होंने जितना भी और जो कुछ भी लिखा है वह हमारे साहित्य और संस्कृति की अद्वितीय धरोहर है। मैं उनकी जीवन्त स्मृति को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

—शेमचन्द 'सुमन'

अजय निवास, जी-१० दिलशाद कालोनी,
शाहबरा, दिल्ली-११००३२

मूर्खों के पास युक्तियां नहीं होतीं, युक्तियों का उत्तर वे हठ से देते हैं।

* * *

आत्मा की हत्या करके अगर स्वर्ग भी मिले तो वह नरक है।

स्वर्गीय डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

—कमला सांकृत्यायन—

अद्वेय डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार से मेरा परिचय महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी के माध्यम से हुआ था। डाक्टर साहब तथा महापंडित जी की भेंट १९४८-४९ ई० में दिल्ली में हुई थी। उसके बाद दोनों के बीच पत्र-व्यवहार चल रहा था। राहुल जी उन दिनों किसी पहाड़ी स्थान में एक स्थायी निवास बनाने की सोच रहे थे। इस संबंध में उन्होंने डा० सत्यकेतु जी को पत्र लिखा जो उन दिनों नैनीताल में एक विशाल 'होटल मेट्रोपोल' के संचालक थे। डाक्टर साहब के निमंत्रण पर राहुल जी नैनीताल गये, मैं उनके साथ थी।

उसी वर्ष गर्मियों में नैनीताल छोड़कर डाक्टर साहब सपरिवार मंसूरी चले गए। उनके चले जाने के बाद फिर महापंडित जी का नैनीताल में मन नहीं लगा। दोनों की रुचियां एक समान थीं, दोनों समानधर्मा एवं दोनों ही अपने-अपने विषय के पंडित। दोनों ही एक-दूसरे के प्रशंसक भी रहे। मंसूरी में डाक्टर साहब का पहले से ही निवास रहा था। वहां भी उनका 'होटल लक्समाउंट' था जो होटल की बजाय विद्वानों, साहित्यकारों का तीर्थ एवं मिलन-स्थल रहा। पहाड़ के अति सुन्दर स्थान पर उनका यह 'लक्समाउंट' भवन अवस्थित था, जहां से दूनघाटी का सुन्दर दृश्य दिखाई देता था। रात्रि समय दीपमालिकाओं से सुसज्जित दूनघाटी कोई नई-नवेली साज-शृंगार से युक्त दुल्हन-सी लगती थी। इतने सुन्दर स्थान में रहकर डाक्टर साहब जैसे साहित्यकार को प्रकृति की ओर से साहित्य-सृजन की प्रेरणा क्यों न मिलती फलस्वरूप व्यावसायिक कार्यों की देखभाल सुशीला बहन जी करतीं और स्वयं डाक्टर साहब साहित्य एवं इतिहास-लेखन में लगे रहते थे।

हम लोग नैनीताल में सिर्फ चार महीने रहें। अब महापंडित जी का मन मंसूरी की ओर लग गया था। डाक्टर साहब को पत्र लिखकर उन्होंने यह इच्छा प्रकट कर दी कि वे भी मंसूरी आना चाहते हैं, इसलिए एक मकान ठीक कर दें। डाक्टर साहब ने सचमुच ही शहर से दूर प्राकृतिक सुषमा से सुशोभित सुरम्य स्थली में एक मकान ले दिया था जहां हम लोग १९५० के जुलाई महीने में आ

सत्यकेतु स्मृति अंक

गए। मकान का नाम 'हर्न क्लिफ' था जो मंसूरी के 'हैप्पी वेली' इलाके में है। इस प्रकार डाक्टर साहब के सौहार्दपूर्ण व्यवहार के कारण महापंडित जी और मैं मंसूरी की ओर खिंचे चले आए और १० वर्ष तक एक परिवार के सदस्य जैसे बनकर रहे।

हमारे विवाह का अनुष्ठान भी डाक्टर साहब के परोहित्य में ही सम्पन्न हुआ था। दोनों परिवार एक-दूसरे के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद के साथी रहे। राहुल जी के साथ मैं भी प्रायः उनके घर आती-जाती थी। दोनों विद्वान् मिलने पर आपस में साहित्य, इतिहास एवं राजनीति की बातें करते थे और मैं श्रोता बनकर उन लोगों की विद्वत्ता पूर्ण बातें सुना करती। डाक्टर साहब वैदिक शास्त्र एवम् इतिहास के घुरन्धर विद्वान् थे, इस कारण राहुल जी उनका बड़ा सम्मान करते थे। जब भी वे शहर आते, 'लक्समाउंट' जाकर डाक्टर साहब एवं सुशीला बहन जी से अवश्य मिलते थे। वहाँ वे उन लोगों के साथ लम्बे समय तक बैठ कर अनेक विषयों में विचार-विमर्श किया करते थे। बहन सुशीला जी ने मुझे गृहस्थी चलाने की शिक्षा दी थी।

डाक्टर साहब और बहन जी सुबह-शाम दूर-दूर तक टहलने जाते थे। प्रायः हर रविवार को वे अपनी बच्चों को लेकर 'हर्न क्लिफ' आया करते और दिन भर दोनों लेखक अपनी-अपनी बातों में व्यस्त रहते, क्या-कुछ लिखे जा रहे हैं, इस बारे में चर्चा करते थे। कितना सौहार्दपूर्ण संबंध था उन दोनों महानुभावों के बीच। आज इस तरह का संबंध कहाँ देखने को मिलता है? हमने तो देखा है—आज के साहित्यकारों में झड़पन की भावना तो है ही, साथ-साथ दूसरों की आलोचना करने में भी वे अपना गौरव समझते हैं। परन्तु मैंने डाक्टर सत्यकेतु जी में ऐसी कोई बात नहीं देखी। वे किसी की छोटी से छोटी सफलता पर भी प्रसन्न हो जाते थे। जब मैं एक के बाद एक परीक्षा में उत्तीर्ण होती गयी तो राहुल जी के साथ-साथ डाक्टर साहब भी अतीव प्रसन्न हो जाते थे और मुझे आगे बढ़ने के लिए बहुत प्रोत्साहन दिया करते थे। उनका घर मेरे लिए मायके के समान था।

यद्यपि उनका घर कहने को 'होटल लक्समाउंट' था, परन्तु वहाँ सीजन के समय में साहित्यकारों का जमघट लगा रहता था। लक्समाउंट में बड़े-बड़े कमरे थे। गमियों में भारत के हर कोने से लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् मंसूरी आया करते और लक्समाउंट में प्रायः विद्वानों का सम्मेलन हुआ करता था। मैंने अपने मंसूरी-प्रवास में ही लक्समाउंट में आयोजित कई लेखक-संगोष्ठियों, कवि-सम्मेलनों तथा महिला लेखिकाओं, शिक्षिकाओं की सभा संगोष्ठी को नजदीक से देखा था। इन आयोजनों में महापंडित जी को तो उपस्थित रहना ही पड़ता था। डाक्टर साहब के घर में

जिन बड़े-बड़े लोगों का आगमन होता था, उनमें से डाक्टर सर सीताराम जी, पंडित भ्रमरनाथ विद्यालंकार जी, पंडित अवनीन्द्रनाथ विद्यालंकार जी, श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार जी, श्री सत्यव्रत वेदालंकार जी, पण्डित किशोरीदास वाजपेयी जी, श्री इंद्र विद्यावाचस्पति जी, श्री विष्णु प्रभाकर जी से तो मैं अच्छी तरह से परिचित रही। इसके अतिरिक्त सुशिक्षिता, सुसंस्कृता एवं उच्च घराने की अनेक महिलाओं के साथ भी लक्समाउंट में ही मेरी भेंट हुई थी। कहने का तात्पर्य यह कि डाक्टर साहब एवं बहिन सुशीला जी प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का पूर्णतः पालन करते आ रहे थे। समय-समय पर विद्वद्मण्डली को एक ही स्थान में एकत्र करके वे लोग इतिहास तथा साहित्य एवं राजनीति के प्रबुद्ध पाठकों का भी विद्वानों से निकट परिचय कराने का काम करते थे। 'लक्समाउंट' में ही हम ने हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार श्री उपेन्द्रनाथ अग्रक जी से भेंट की थी। ऐसे कितने ही महानुभाव लक्समाउंट में मिले थे जिनका नाम मुझे याद नहीं रहा।

डाक्टर साहब का समय अत्यन्त मूल्यवान् रहा। उनका भी एक-एक मिनट का हिसाब रहता था, जैसा कि महापंडित राहुल जी का रहता। मंसूरी में हमारे देखते-देखते ही डाक्टर साहब ने इतिहास सम्बन्धी अनेक ग्रंथ लिखे। कई ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे, उनमें से एक बहुचर्चित उपन्यास "आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य" है। हर्ष की बात तो यह है कि उनकी लगभग सभी कृतियों को उच्च कोटि के पुरस्कार मिले हैं। ऐसे साहित्यकार-इतिहासकार हिन्दी में शायद ही कोई दूसरे होंगे जिन को यह गौरव प्राप्त हुआ है।

डाक्टर साहब विनोदी स्वभाव के भी थे। उनका यह स्वरूप तब दिखाई देता था जब हम लोग किसी दावत में गए होते। राहुल जी तो विनोदी थे ही। दोनों महानुभावों के बीच परिष्कृत परिहास होते थे, उनसे हम लोग भी बहुत आनन्द लेते थे। डाक्टर साहब को मैंने कभी अशान्त या विक्षुब्ध मनस्थिति में नहीं देखा। वे बड़े शान्त स्वभाव के थे और इसी वजह से उनके घर में शान्ति का वातावरण सदैव बना रहा। उन्हें पत्नी भी अत्यन्त शान्तिप्रिया, सुसंस्कृता एवं मधुरभाषिणी मिली जो सही अर्थों में उक्ति की सहगामिनी रही। दोनों ही एक दूसरे का आदर करने वाले और दोनों ही बड़े उच्च एवं सुलभ विचार वाले। ऐसे दम्पती तो मैंने बहुत कम देखे हैं।

हमारे मसूरी-प्रवास के समय ही डाक्टर साहब अन्य टोली के साथ चीन-भ्रमण पर गए थे। यह शायद १९५६-५७ की बात होगी। वे वहां कई महीनों तक रहे थे। स्वदेश लौटने पर उनका भव्य स्वागत हुआ, समारोह हुए। चीन-भ्रमण सम्बन्धी डाक्टर साहब के अनेक स्थानों में अनेक भाषण भी हुए। राहुल जी और मैंने उन्हीं के मुंह से नवीन जनवादी चीन गणराज्य के बारे में विवरण सुने।

सत्यकेतु स्मृति अंक

इतिहासवेत्ता डाक्टर साहब के श्रीमुख से चीन राष्ट्र के ऐतिहासिक विवरण सुनकर हमें बहुत ज्ञान की बातें मालूम हुईं। डाक्टर साहब की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल में हुई, फिर वे यूरोप में भी रहे। इसी कारण उनके विचारों में रुढ़िवादिता, आडम्बर एवं पोंगापंथीपन का कोई चिह्न नहीं था। वे आधुनिक विचारों को प्रश्रय देते थे, फिर भी भारत की प्राचीन संस्कृति, दार्शनिक विचार, ऐतिहासिक परम्पराओं तथा गौरवशाली मर्यादाओं को प्रमुख स्थान देते थे। इसीलिए यूरोप में रहकर भी वे नहीं बदले, उनका हृदय सदैव भारतीय ही रहा। उनके बच्चों पर भी माता-पिता की इन सांस्कृतिक मान्यताओं एवं गरिमा का प्रभाव पड़ा है।

डाक्टर साहब से मेरी आखिरी मेंट १९८७ के फरवरी में दिल्ली में हुई, जब मैं अपनी बेटी के पास गई हुई थी। मैं उस समय कई बार उनके निवासस्थान पर गयी। डाक्टर साहब अपनी वृद्धावस्था में भी बड़े कर्मठ एवं प्रसन्नचित्त दिखाई दिए। बातों ही बातों में मुझे पता चला कि उनके द्वारा लिखित "आर्यसमाज का इतिहास" ग्रन्थमाला के सभी खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। डाक्टर साहब के जीवन की यह महत्त्वपूर्ण एवम् अमूल्य कृति प्रमाणित हुई है। इन्हीं मुलाकातों के दौरान एक दिन मेरी बेटी जया और मुझ को अपने सामने बिठाकर उन्होंने भारत के महान् क्रांतिकारी सरदार भगतसिंह, सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद, यशपाल जी आदि के बारे में सुनाया। उस क्रांति के दौर में डाक्टर साहब भी किसी न किसी रूप में संबंधित रहे थे, इतिहास की यह जानकारी हमें प्रथम बार उन्होंने ही दी थी। उस क्रांतिकारी ऐतिहासिक युग को उन्होंने बातों ही बातों में पूरी तरह से हमें सुनाते हुए सजीव कर दिया था। तभी हमें लगा था कि डाक्टर साहब केवल इतिहास-लेखक ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक ज्ञान के पूर्ण विश्वकोश हैं। जीवन के शेष वर्षों में वे गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित थे।

मेरी बेटी जया ने बचपन में ही अपने पिता को खो दिया था। वह डाक्टर साहब में अपने पिता के प्रतिरूप को देखती थी, इसलिए उसके मन में भी डाक्टर साहब के प्रति अगाध श्रद्धा रही। उन्होंने अपनी पुत्री ऊषा जी के लिए एक सांस्कृतिक पत्रिका "गरिमा" का पहला अंक प्रकाशित करवाया जिसकी सम्पादिका ऊषा जी के साथ-साथ मेरी बेटी जया को भी सह-सम्पादिका का स्थान प्रदान किया था। इतना ही नहीं, जया द्वारा हिन्दी में लिखित दो लेखों को उस पत्रिका में छापकर उन्होंने उस नवोदित लेखिका का उत्साह बढ़ाया था।

इस वर्ष मार्च महीने की १८ तारीख को जब मेरी बेटी ने टेलीफोन से डाक्टर साहब के अत्यन्त दुःखद स्थिति में महाप्रस्थान का हृदयविदारक समाचार मुझे दिया तो मुझे विश्वास ही न हुआ। क्योंकि मैंने इनको स्वस्थ अवस्था में देखा

आर्यसन्देश

था। किन्तु हीनी को कौन टाल सकता है। मृत्यु पर किसी का कोई बश नहीं है। कभी कभी मेरे मन में कुछ विद्रोह की भावनाएं उठने लगती हैं कि जिस व्यक्ति ने जीवन भर किसी का जी नहीं दुखाया, किसी का बुरा नहीं चाहा, सबके साथ अपने स्नेह-प्रेम बांटते रहे। जिसने अपने जीवन में सत्य का ही पक्ष लिया, जिसने अपने कठिन परिश्रम द्वारा अर्जित धन से जीवन यापन किया, जिसने कभी किसी की चापलूसी नहीं की, जिसने अपनी विद्वत्तापूर्ण लेखनी द्वारा भारतवासियों के लिए इतनी बड़ी ऐतिहासिक सांस्कृतिक अमर विरासत प्रदान की, जिस व्यक्ति ने दुखियों को सहारा दिया, सामान्य प्रतिभा का भी जिसने हौसला बढ़ाया, उन्हीं महापुरुष के जीवन का अन्त इतनी कारुणिक और दुःखद स्थिति में क्यों हुआ ?

आज डाक्टर साहब इस दुनिया में नहीं हैं किन्तु अपनी यशःकाया अमर रहेगी। अपनी महान् कृतियों के द्वारा वे सदैव हमारे बीच रहेंगे। उनकी स्मृतियों को अमर बनाने के लिए “दिल्ली की आर्य प्रतिनिधि सभा” जो प्रयत्न कर रही है—वह स्तुत्य कार्य है।

—कमला सांकृत्यायन

राहुल निवास, २१-कचहरी रोड,
दार्जिलिंग-७३४१०१

यदि पाण्डित्य प्राप्त करना चाहते हो तो
विनम्र बनो और यदि पाण्डित्य प्राप्त कर चुके
हो तो और अधिक विनम्र बनो।

*

*

*

डा० सत्यकेतु

—डा० (श्रीमती) कमला प्रधान

डा० सत्यकेतु की आत्मा बड़ी बलवती थी। उन्होंने 'आर्यसमाज का इति-
हास' भारत से प्रारम्भ कर लन्दन, योरोप, अरब, टर्की, अमरीका, एशिया, अफ्रीका
आदि पृथ्वी के सभी देशों के विद्वानों से सम्पर्क करके आर्यसमाज के कार्यकलापों
का, कठिनाइयों का, मतभेदों का उपयुक्त उपचार करके आर्य विचारधारा का
भिन्न-भिन्न रूप धारण करने पर भी एकरूपता लाने का यथासम्भव प्रयास किया
और अस्वस्थ होने पर भी काम पूरा करके ही रहे।

स्वभाव से मृदु होते हुए भी सदाचार-प्रचार की बड़ी अभिलाषा व शक्ति
थी। तभी तो लोकोक्ति "वज्रादिप कठोराणि मृदूनि कुसुमादिपि" उन पर ठीक
घटित होती है। दक्षिण-पूर्वी एशिया की सांस्कृतिक यात्रा में उनका यह रूप
निकटता से देखने को मिला। वे चुपचाप सभी का अध्ययन कर रहे थे। अनाचार
से वे समझीता नहीं कर सकते थे। द० पूर्वी एशिया के यात्रा के प्रोग्राम में 'हांग-
कांग' ले चलने के लिए हम लोगों ने आग्रह किया। उन्होंने उत्तर दिया उस दुरा-
चार पूर्ण स्थान पर न जाना ही ठीक है। हमें आशा है वह दृढ़ बलवती आत्मा
अभी भी अपनी यात्रा कर रही है और फिर हमारे बीच आकर अपना काम पूरा
करेगी।

एक बड़ा भारी काम उन्होंने और प्रारम्भ किया था। आर्यसमाज की
शिक्षा का केन्द्र "गुरुकुल कांगड़ी" का शुद्ध आचार का रूप पुनः स्थापित करना।
गुरुकुल की आचारशैली में जो दुष्परिवर्तन आ गया है उस को भुक्त भोगी ही
समझ सकता है। हमारे ही परिवार के व्यक्ति डा० ओम्प्रकाश सिन्हा, मुख्याचार्य,
विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी की किसी बहके हुए विद्यार्थी ने गोली मार कर
हत्या कर दी। ऐसे ही न जाने कितने निर्दोष व्यक्ति आततायियों से कण्ट पा रहे
होंगे। इस पीड़ा से दुःखित डा० सत्यकेतु जी ने गुरुकुल कांगड़ी की व्यवस्था
सुधारने का बीड़ा उठाया था।

आशा एवं विश्वास है कि उनके द्वारा प्रारम्भ किया कार्य उनके सहयोगी
आर्यजन और आर्य नेतागण गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थिति को श्रेष्ठतम करने में
समर्थ होंगे।

—डा० कमला प्रधान

एम.ए., एच.एम.डी., सी.एच.पी.

सि० शास्त्री, वेदरत्न (द्वय)

स्वस्तिका, नया हैदराबाद, लखनऊ

मूर्धन्य वेदों का विद्वान् : बूढ़ा बालक

—लता गुप्ता

इसी वर्ष अप्रैल में बम्बई से मसूरी पहुंचने पर एक हृदय-विदारक समाचार मेरे बेटे ने सकुचाते हुए सुनाया, “मां ! मैंने कुछ लोगों के मुख से डा० सत्यकेतु जी के कार एक्सीडेंट के बारे में सुना है कि वे गुरुकुल-कांगड़ी के वार्षिक उत्सव पर हरिद्वार जा रहे थे, अस्तु ।

मैं समाचार सुनकर स्तब्ध रह गयी । विश्वास ही नहीं हो रहा है कि वे हमारे बीच नहीं रहे ।

चलचित्र की भांति रीलें आती गयीं, निकलती गयीं । तुरन्त उनकी विदुषी पत्नी सुशीला जी पर ध्यान गया, जो डाक्टर साहब की छाया के समान सदैव उनके साथ रहा करती थीं । ओह ! शरीर के बिना उस छाया की क्या दशा हो रही होगी...

किसी प्रकार उन्हें संवेदना-पत्र लिखा । हृदय में करुण-क्रन्दन चल रहा था कि “डा० साहब ! आप कहां चले गये हैं ? मेरी नयी पाण्डुलिपि को कौन देखेगा ? मेरे लेखन को आपसे सम्बल मिलता था । साहित्य-दिशा में कौन मेरा मार्गदर्शन करेगा ? आप दोनों के बिना मसूरी श्री विहीन हो गयी है । आप युगल के पैर स्पर्श करने के लिए कैमल्स बैंक रोड रो रहा है । वहां के फूल-पौधे सहम गये हैं । आपकी विद्वत्तापूर्ण बातों के बिना वहां सन्नोटा छा गया है, कि तभी डा० साहब का बाल सुलभ मुस्कान लिये मुख दिखाई दिया ।

उनकी बातें जितनी अधिक सार गंभीर होती थीं उतनी अधिक उनकी हंसी निश्छल होती थी । प्राचीन साहित्य के प्रति मेरा लगाव उन्हीं की निकटता की देन है । वे जहां भी मिलते जब भी मिलते देश की प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता का अमृत अवश्य ही पिलाते ।

लेखन कार्य में मेरा उत्साह वर्धन करते । “वाह ! लता जी इस विषय पर आप जैसी देवी नहीं लिखेंगी तो कौन लिखेगा ? लेखक कभी बनाया नहीं जाता इसे कभी न भूलियेगा ।” एक दिन कुछ झिझकते हुए मैंने, उन्हें अपने बनाये

सत्यकेतु स्मृति अंक

रेखांकित चित्र दिखाये। देखकर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे कि “इन चित्रों को देखकर मुझे कुछ श्लोक स्मरण हो आये हैं।” मैंने कहा कृपया लिख दीजिये।” कागज देखने लगे, मैंने कहा “इन चित्रों पर ही लिख दीजिएगा।” तब कहां जानती थी कि वे चित्र इस प्रकार मेरी अमूल्य निधि बन जायेंगे। कई बार देख चुकी हैं इन चित्रों को मैं, अकस्मात् आंखों से आंसू झलक जाते हैं।

किसी की भी प्रशंसा वे मुक्तमन-मुस्करा कर किया करते थे। एक प्रसिद्ध छायाकार स्वामी सुन्दरानन्द जी मसूरी हमारे घर ठहरे हुए थे। प्रातः भ्रमण के लिए कैमलबैक रोड पर घूमने गये थे। डा० साहब की चर्चा चली। देखा ! कि वे सुशीला जी सहित किसी गम्भीर विषय पर बोलते हुए चले जा रहे हैं। मैंने प्रसन्न होते हुए उन्हें नमस्ते की और सुन्दरानन्द जी से उनका परिचय कराया, वैसे तो वे दोनों ही एक दूसरे को जानते थे, परन्तु साक्षात्कार अभी कर रहे थे।

उस समय दोनों विद्वानों की प्रसन्नता देखते ही बनती थी। डा० साहब ने अपनी सदा बहार-मुस्कान सहित कहा—

“धन्याः क्रियाः कामदुघः क्रतूनां, सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः।

(यज्ञादि शुभकर्मों के अभिवाञ्छित-फल मुझे प्राप्त हो गये और विद्वानों द्वारा जो आशीर्वाद प्रदान किये गये थे। वे आज सत्य हो गये—जो आज आपके दर्शन हो गये)। उनके व्यक्तित्व की छवि निराली और विद्वत्तापूर्ण थी। जिनकी तुलना नहीं हो सकती। वैसी ही उनकी विदुषी पत्नी अपने पति की पूर्णतः समर्पित थी। अपने पति के साहित्य कर्म में सदा सहयोगी रहीं जिसके कारण डा० साहब की निरन्तर साहित्य-सेवा चलती रही।

वह न सुशीला जी अच्छी लेखिका हैं। फ्रेञ्च, अंग्रेजी, हिन्दी व संस्कृत भाषाओं पर उनका भी पूर्ण अधिकार है, मेरे जिज्ञासा करने पर उन्होंने प्रत्युत्तर देते हुए कहा था—“लता जी ! मैं भी लिखती रहती तब क्या डा० साहब इस प्रकार एकाग्रता के साथ लिख सकते थे। यही सोचते हुए मैंने लिखना बन्द कर दिया था। मुझे इसी में परिवार की भलाई दिखाई दी।”

मसूरी उन्हें कभी भुला नहीं सकती।

—लता गुप्ता

निट क्राफ्ट, कुलदी, मसूरी-२४८१७६

डा० सत्यकेतु

—श्रीमती शान्ता “अमरनाथ”

मेरे पति स्व० श्री अमरनाथ विद्यालंकार पूरी तरह राजनीति में थे, और उनके परम मित्र डा० सत्यकेतु जी भी राजनीति में पूरी दिलचस्पी रखते थे। देश की विगड़ती दशा पर, और क्या-क्या सुधार होने चाहिए, दोनों खुल कर बातें किया करते थे। सत्यकेतु जी को मिलने जाना है, यह हम दोनों की प्रेरणा बन गयी थी, सत्यकेतु जी भी हमें मिल कर खिल उठते थे। घंटों लगातार लिखने के बाद हम से मिल कर राहत महसूस करते थे। उन्होंने कितना लिखा था या वह कितने बड़े लेखक हैं इस को परे रख कर, हम उन्हें एक सुलभे दिमाग वाला परम मित्र समझते थे। सुलभे दिमाग वाले आदमी से बातें करके एक अवर्णनीय संतुष्टि होती है। सत्यकेतु जी की धर्म पत्नी सुशीला जी भी एक विदुषी आर्य महिला हैं और निर्मल जल का स्रोत हैं। मैं हमेशा कहती थी कि यदि सत्यकेतु जी की ऐसी पत्नी न होती तो वह इतने बड़े लेखक नहीं बन सकते थे। वह समझती थीं कि उनके पति एक चमकते सितारे हैं और वह उन्हें हमेशा चमकता सितारा ही देखना चाहती थीं। वह सितारा अब भी चमक रहा है और हमेशा चमकता ही रहेगा। आने वाली पीढ़ी जब उनका साहित्य पढ़ेगी तो नम्र होकर प्रणाम करेगी।

विधि का कैसा नियम है मनुष्य कब और कैसे मौत के मुँह में चला जाता है। उस की चतुराई कुछ काम नहीं आती, कितना विवश हो जाता है मनुष्य, लेकिन मनुष्य के दृढ़ निश्चय में भी एक अलौकिक शक्ति होती है जो सत्यकेतु जी में थी। उन्होंने आर्यसमाज का इतिहास के पूरे सात खंड लिखे। वह इरादे के इतने पक्के थे कि उनके इरादे के सामने मौत भी ठहर गयी थी। जब सत्यकेतु जी पूरे खंड लिख चुके थे तो उनके अन्दर एक ऐसी आत्म संतुष्टि भलकती थी कि जैसे वह अपने अपने सारे काम पूरे कर चुके हों। अब जब मैं सत्यकेतु जी के घर जाती हूँ तो सत्यकेतु जी अपनी मग्न मुस्कान से मेरा स्वागत करते हैं “आइये भाभी जी” यह क्या ! यह तो मेरे कानों का भ्रम है या मेरी आँखों का ! उसी समय आँखों के सामने आता है। वहन सुशीला जी का बिखरा हुआ चेहरा और मैं मन ही मन उनके दुःख को अनुभव कर रही हूँ।

—श्रीमती शान्ता अमरनाथ

जी-२७-निजामुद्दीन बेस्ट, नई दिल्ली

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार :

जो मरकर भी अमर हैं

—डा० प्रशान्त वेदालंकार

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के नाम से मैं गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ते हुए पांचवीं कक्षा से ही परिचित हो गया था। इनकी पांचवीं कक्षा के लिए लिखी भारतवर्ष का इतिहास पुस्तक सचमुच अद्भुत थी, जिसका स्मरण मुझे आज तक है। वेदों से लेकर आज तक के महापुरुषों की संक्षेप में जानकारी दी गई थी उस पुस्तक में। छोटे आकार में छपी उस पुस्तक के एक ही पृष्ठ में एक राजा या महापुरुष का परिचय दे दिया गया था। राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसन्धान व प्रशिक्षण परिषद् छोटी कक्षाओं में इतिहास किस प्रकार पढ़ाया जाए, इस बात के लिए परेशान रहती है। डा० सत्यकेतु की उक्त पुस्तक उनका भी दिशा निर्देश कर सकती है। बच्चों को इतिहास टुकड़ों में नहीं उसकी समग्रता में पढ़ाया जाए—इसका सुन्दर निर्देशन डा० साहब की उक्त पुस्तक में है।

बाद में उच्च कक्षाओं में इतिहास व राजनीति की उनकी अनेक पुस्तकें पढ़ीं। उनकी विषय प्रतिपादन की अद्भुत शैली थी। इतिहास व राजनीति के लेखकों के लिए दो गुण अपेक्षित हैं—सभी मतों का प्रस्थापन तथा उनमें से तर्क संगत व वांछनीय मत का निष्पक्ष प्रतिपादन। ये दोनों ही गुण डा० सत्यकेतु के इतिहास व राजनीति की पुस्तकों में उपलब्ध हो जाते हैं।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार हिन्दी, संस्कृत, इंग्लिश व फ्रेञ्च भाषाओं पर पूरा अधिकार रखते थे। इन भाषाओं में उनके विषय की कोई भी पुस्तक या पत्र-पत्रिका हो—वह उनकी दृष्टि से बच नहीं पाती थी। यही कारण था कि उनके लेखन में सघनता थी। विपुल सामग्री को अपनी भाषा में वे मौलिक रूप से प्रस्तुत कर देते थे। सामग्री के जंगल में से उपयुक्त का चयन उनकी विशेषता थी।

वे गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक थे। वहां वैदिक व लौकिक संस्कृत की सभी पुस्तकों का उन्होंने अच्छी प्रकार मन्थन किया था। अतः प्राचीन इतिहास व भारतीय संस्कृति पर जो कुछ उन्होंने लिखा वह अन्य इतिहास व राजनीति के

लेखकों से भिन्न है। अधिक प्रामाणिक है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर राष्ट्रभाषा का गौरव बढ़ाया है। उनके लेखन से इस भ्रान्त धारणा का निराकरण हुआ है कि हिन्दी में स्तर की पुस्तकें नहीं लिखी गयीं या नहीं लिखी जा सकतीं। हिन्दी माध्यम के छात्रों के लिए उनकी पुस्तकें पूरी सामग्री जुटाती हैं। उनकी शैली में प्रसाद गुण है। प्रवाहमयी भाषा होने के कारण उसको पढ़ने में पाठक को आनन्द आता है। उसमें रोचकता भी है। राजनीति व इतिहास के हिन्दी लेखकों के लिए उनकी पुस्तकें आदर्श हैं। वे उनकी शैली का अनुकरण करके राष्ट्रभाषा में और अधिक साहित्य लिख सकते हैं।

जब मैं नवम कक्षा में था तो साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाहिक रूप से प्रकाशित उनके उपन्यास—“मैंने होटल चलाया” का मैं नियमित पाठक था। तभी हमें पता चला कि उन्होंने मसूरी में सचमुच होटल चलाया था। वहाँ आए सतरंगी अनुभव को उन्होंने उपन्यास का रूप दे दिया था। उनका चाणक्य उपन्यास भी मैंने पढ़ा था। इस प्रकार वे रचनात्मक साहित्यकार भी थे। जिसके परिणामस्वरूप उनके उपन्यासों में इतिहास व इतिहास में कल्पना का सहज समावेश हुआ है।

गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक व वहीं के प्राध्यापक होकर भी उन्होंने फ्रांस में जाकर शोधकार्य किया—उनके जीवन की यह घटना अपने आप में एक इतिहास है। बाद में उन्होंने अफ्रीका व यूरोप विशेषकर इंग्लैण्ड की अन्य यात्राएं भी कीं। इसी प्रकार पूर्वी एशिया की उनकी यात्राएं भी उल्लेखनीय हैं। वे जहां भी गये वहां उपलब्ध अपने विषय की सामग्री का उन्होंने पूर्ण मनोयोग से अनुसन्धान किया और वहां की गयी भारतीय संस्कृति व सभ्यता के प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष चिह्न भी खोज निकालते थे।

उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। उन्होंने होटल चलाया, स्कूल चलाया। अध्यापक वे थे ही। अपनी अधिकांश पुस्तकों का प्रकाशन और वितरण भी उन्होंने स्वयं किया। अन्तिम दिनों में उन्होंने गरिमा गहड़ पत्रिका का सम्पादन प्रारम्भ किया।

मेरी उनसे घनिष्ठता मसूरी में उनके घर पर हुई थी। मैं अपनी धर्मपत्नी डा० सरोज दीक्षालंकार के साथ वहां भ्रमण के लिए गया था। तब तक मेरा उनसे विशेष परिचय व घनिष्ठता नहीं थी, पर गुरुकुल कांगड़ी का स्नातक होने के कारण वहां जाकर उनसे न मिलना व्यावहारिक भूल होती। उनसे जैसे ही मिला उन्होंने मुझे तथा मेरी धर्मपत्नी को अपना अतिथि बना लिया। वहीं

मेरी उनसे, मामी जी से, बहन उषा व उसकी पुत्री से घनिष्ठता हुई। उसके बाद सदा मुझे उनके घर जाकर अपनापन ही प्रतीत होता रहा।

मैंने देखा कि उनका खान-पान व रहन-सहन अत्यन्त सादा किन्तु भव्य है। विदेशों में रहने के कारण उनके विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ थीं, पर उनके घर का सात्त्विक वातावरण सब भ्रान्तियों का सहज उत्तर था। सात्त्विकता के साथ उनके जीवन में नियमितता व कर्मठता भी अद्भुत थी। उनका जीवन ही अनुपम था। उसमें सिद्धान्त और व्यवहार एक हो गये थे। मैं उनसे बहुत छोटा था पर उन्होंने सदा मुझ से मित्र का सा व्यवहार किया।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने अपनी कुलभूमि गुरुकुल कांगड़ी की आराधना व अपनी मातृ संस्था आर्यसमाज की सेवा को अपना लक्ष्य बनाया। उनके सात भागों में प्रकाशित 'आर्यसमाज का इतिहास' ग्रन्थों के कारण केवल वे अमर नहीं हुए, इसमें उन्होंने आर्यसमाज को भी अमर कर दिया।

गुरुकुल कांगड़ी को स्थिरता प्रदान करने के लिए उनकी दौड़-धूप ८४ वर्ष की आयु में भी बनी रही। यह विधाता का विचित्र ही विधान था कि गुरुकुल कांगड़ी जाते हुए ही वे दुर्घटनाग्रस्त हुए, पर अपने प्राणों का त्याग कुलभूमि में पहुँचकर ही किया। यह उनकी मृत्यु नहीं थी वरन् महान् बलिदान था।

उनका पवित्र स्मरण करते हुए यह युक्ति कि प्रत्येक महापुरुष की उपलब्धियों के पीछे उसकी पत्नी का महान् हाथ रहता है, उन पर सत्य सिद्ध होता है। किसी ने कभी उनको मामी जी से अलग नहीं देखा। मामी जी विदुषी हैं। व्यावहारिक हैं, मृदु और मिलनसार हैं। इससे जहाँ उनके जीवन में पूर्णता रहती थी वहाँ उनके परामर्शों व सेवावृत्ति से ही डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार को बल प्राप्त होता था।

आज डा० सत्यकेतु विद्यालंकार हमारे मध्य नहीं हैं पर उनका यह अभाव शारीरिक है। उनकी आत्मा, उनकी पुस्तकें, उनके कार्य आज भी जीवित हैं। वह किसी के लिए भी प्रेरणादायक हो सकते हैं।

आइये ! उन्हें उनके ८६ वें जन्मदिन पर स्मरण करें, श्रद्धांजलि दें, उनके जीवन में जीने का पाठ पढ़ें।

—डा० प्रशान्त बेवालंकार
७/२, रूपनगर, दिल्ली
पिन-११०००७

पं० सत्यकेतु जी विद्यालकार

—श्याम सुन्दर स्नातक

आर्यसमाज का इतिहास लिख कर पं० सत्यकेतु जी अमर हो गये हैं। पीढ़ियां उन को याद करेंगी। उनको श्रद्धा सुमन अर्पित करने का एक सरल उपाय यह है कि उनकी तपस्या को—आर्यसमाज के इतिहास को हम देश और विदेश में पहुंचा दें। भारतीयों तक ही नहीं—अपितु सब देशों की राजधानियों में। उनके प्रसिद्ध पुस्तकालयों में। अब एक ज्वलन्त प्रश्न है कि क्या इस उत्तम, पाण्डित्य पूर्ण, तथ्यों से ओत-प्रोत रचना का इंगलिश में अनुवाद नहीं होना चाहिए? प्रश्न जटिल है—असम्भव नहीं।

आर्य साहित्य का यह अमर कार्य करके उन्होंने सारी आर्यजाति को ऋणी बना दिया है।

—श्याम सुन्दर स्नातक

आचार्य, गुरुकुल कांगड़ी, जिला हरिद्वार

संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है।

इस भाषा के सहश मृदु, गधुर और व्यापक
सर्व भाषाओं की माता—ऐसी कौन सी भाषा
है?

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

इतिहासकार इतिहास बनकर न रह जाये

—सूर्य मोहन

वह आयु में मुझ से लगभग अड़तालीस वर्ष बड़े थे, किन्तु पारिवारिक सम्बन्ध के अनुसार मेरे भाई लगते थे। गुरुकुल में मेरे स्वर्गीय पूज्य पिता जी श्री सुभाषचन्द्र वेदालंकार के अध्यापक थे और इस नाते से मैं अपने को उनका पौत्र समझता था। वस्तुतः मेरी माता जी उन्हें भाई कहती थीं, अतः हम भाई-बहन उन को मामा जी कहा करते थे और उनसे मिलकर जिस सम्बन्ध का अनुभव हुआ, वह मित्र-भाव का था।

वह एक महान् लेखक, विद्वान् व समाजशास्त्री थे, यह सभी को ज्ञात है। मुझे सबसे अधिक प्रभावित करने वाला था उनके वृद्ध शरीर में उलाचें लेता उनका जवान हृदय। उनमें जिस उत्साह व जिन्दादिली का दर्शन मैंने किया था, वह आज के नवयुवक में भी देखना दुर्लभ है। प्रातः चार बजे उठ जाना, 7-8 कि०मी० का प्रातः भ्रमण, आसन व्यायाम और फिर 10-12 घंटे का दैनिक लेखन। इसके अतिरिक्त अनेक सामाजिक संस्थाओं का विभिन्न प्रकार का दायित्व ! गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार की उन्नति के लिए जिस उत्साह, सत्यनिष्ठा व दृढ़ता के साथ उन्होंने कार्य किया, वह सर्व विदित है। और, लेखन की अति यह थी कि लेखनी से स्पर्श होने वाले अंगुलियों के स्थान पर गिल्टी जैसी कठोर त्वचा हो गयी थी। उनके शब्दों में जिन्दादिली मानो फूट पड़ती थी। आज जबकि समाज में निराश्रय के बादल छाये हुए हैं, उनके हृदय में आर्य संस्कृति को पुनः गौरव पद पर आसीन करने का अदम्य उत्साह भरा हुआ था। वह निराश नहीं थे, समाज में से अष्टाचार की कालिमा हटाकर स्वर्णिम भारत का स्वप्न वह इस आयु में भी विश्वास पूर्वक देखते थे, उनका यह उत्साह मेरे लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है।

एक बार उन्होंने मुझे अपने साथ गुरुकुल व मंसूरी चलने का आमन्त्रण दिया। मैंने अपने को सौभाग्यशाली समझा। उस समय उनको और नजदीक से देखने का मौका मिला। मैंने देखा, दोनों स्थानों पर उनका सभी ने बहुत स्वागत किया। दोनों स्थानों पर उनका बहुत मान था। मान शायद उन्हें जीवन-भर बहुत मिला। लेकिन आध्यात्मिक साधना की पराकाष्ठा थी कि विनम्रता

उनमें कूट-कूट कर भरी थी। अहं मानो छू भी नहीं गया था। जो महोदय उनसे मिले हैं, उन्होंने अवश्य अनुभव किया होगा कि वे कितने मृदुभाषी थे। छोटे-बड़े सब के लिए कितना स्नेह भरा था उनके हृदय में। अपने बड़प्पन का अहं भाव छोड़कर सामने वाले के स्तर पर स्वयं को लाकर अति मृदु भाव से बातचीत करना, यह उनका स्वभाव था।

वह केवल गुरुकुल के नहीं थे, केवल आर्यसमाज के नहीं थे, वरन् समस्त देश के थे। हमें उनसे बहुत कुछ सीखकर अपने जीवन में उतारना है। वह महान् इतिहासकार इतिहास बनकर न रह जाये। डा० सत्यकेतु स्थूल भाव से हमारे बीच नहीं रहे। उनका सार हमारे साथ सदैव है। सच्ची श्रद्धाञ्जलि के रूप में क्या हम उसे अपने जीवन में उतार पायेंगे ?

—सूर्य मोहन

18-बी० M.I.G। फ्लेट, पाकेट A-3

पश्चिम विहार, नई दिल्ली-62

स्वराज्य के लिए आर्यजनता ने भारी बलिदान दिये

अब स्वराज्य की रक्षा के लिए
आइये हम सब—

- आर्य संस्कृति एवं आर्यभाषा के प्रसार की शपथ लें।
- विदेशी तत्त्वों और विदेशीभाषा से राष्ट्र को बचायें।
- पुण्यभूमि भारत से गोहत्या और मद्यपान की लानत छुड़ायें।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

—एस० एन० गुप्त

“स जातः येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्”—स्व० डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार ने आर्यसमाज, भारतीय इतिहास, संस्कृति, हिन्दी-भाषा, हिन्दी साहित्य व भारतीय दर्शन को ही सदा अपना कुटुम्ब माना और ज्यों-ज्यों वे अपने कार्य क्षेत्र में आगे बढ़ते रहे इन सब का विकास व उन्नति होती रही। इन सब विषयों पर लिखीं उनकी मूल्यवान् पुस्तकें युगों तक अन्वेषकों व जनमानस का पथ प्रदर्शन करती रहेंगी। उनकी लेखनी के चमत्कार ने जो ख्याति देश विदेश में उनको दी वह उनकी संतति के लिए सदा एक अनुपम धरोहर रहेगी। उन्होंने धर्म, इतिहास और साहित्य के क्षेत्र में इतनी बड़ी सामग्री इकट्ठा कर के छोड़ी है कि शताब्दियों तक उनकी कृतियों पर शोध किया जा सकता है।

उनका जीवन सहज, सरल, नियमित व बहुत संयमित था और यही कारण था कि उनको स्वयं व दूसरों को कभी भी उनकी वृद्धावस्था का बोध नहीं हुआ और 85-86 वर्ष की आयु में भी उनकी लेखनी उसी प्रकार अनवरत चलती रही जैसे कि युवावस्था में चलती थी।

उनके अकस्मात् उठ जाने से आर्य जगत्, हिन्दू समाज व इस देश को जो हानि हुई है उसका पूरा होना कठिन है।

वैसे तो गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने इस देश को बहुत से रत्न विभिन्न कार्य क्षेत्रों में दिए हैं किन्तु डा० सत्यकेतु का नाम उनमें अग्रगण्य रहेगा।

—एस० एन० गुप्त, एडवोकेट

17-सिविल लाईन्स, मुराबाबाद—244001

विचारशील लेखक

—शशि शेखर

विद्यालंकार जी से मेरा प्रथम साक्षात्कार २७ वर्ष पूर्व हुआ था। मैंने उन्हें महान् विद्वान् सच्चे मित्र एवं परम आत्मीय के रूप में देखा है। प्रथम साक्षात्कार से ही उनके विशाल व्यक्तित्व की अमिट छाप मेरे अन्तस्तल पर ऐसी अंकित हुई है जिसको कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। वे ऐसे मानव थे जिनके हृदय के भीतर देवता छिपा था। उनके महान् साहित्य के अनुरूप ही उनका महान् व्यक्तित्व था जो अमर प्रेरणादायक तत्त्वों से निर्मित हुआ था। उनके देदीप्यमान मुखमण्डल से अपूर्व शोभा, अद्भुत कान्ति भरती रहती थी। उनके नेत्रों से अनवरत स्नेह-धारा प्रवाहित होती रहती थी। वास्तव में उनका हृदय औदार्य, गहनता और प्रेम का संगम था। मैं उनके सान्निध्य का विधाता का वरदान ही मानता हूँ।

विद्यालंकार जी आत्मीयता की सहज प्रतिमा थे। कोई भी आगन्तुक उनके व्यक्तित्व से तत्काल प्रभावित होता था। वे प्रत्येक व्यक्ति को आदर-स्नेह प्रदान करते थे। उनकी आत्मीयता सभी के लिए समान थी। वे सभी का सहज भाव से स्वागत करते थे। उनका प्रत्येक कार्य, भोजन, वस्त्र और व्यवहार उनकी उत्तम रचि का परिचायक था। प्रत्येक कार्य में उनके स्वभाव की प्रेरणा थी। सहज विनय और सरल-स्नेह उनके व्यवहार के अनिवार्य अंग थे। स्वाभिमान, विनय तथा औदार्य अनेक अलंकार थे। उनका आदर्श-चरित्र उनकी सर्वप्रियता का रहस्य था।

आज विद्यालंकार जी का पार्थिव शरीर हमारे मध्य नहीं है, किन्तु उनका यशः-रूपी शरीर सम्पूर्ण मानव जाति को आध्यात्म ज्ञान और वैदिक संस्कृति का अमर सन्देश देता रहेगा। उनके द्वारा रचित 'आर्यसमाज का इतिहास' ज्ञान का वह प्रचण्ड-मार्तण्ड है जिसकी शुभ्र रश्मियों की अलौकिक ज्योति मानव का अज्ञानान्धकार दूर करती रहेगी। यह अमर ग्रंथ वैदिक-संस्कृति का सच्चा उद्गीथ है। विद्यालंकार जी सच्चे अर्थों में महान् सन्त थे। उन्होंने आर्यों को बृहद् इतिहास के माध्यम से दिव्य आलोक दिखाया जो अनन्तकाल तक जन-जन के मार्ग को आलोकित करता रहेगा।

—शशि शेखर

हल्द्वार, ७ प्र०

डा० सत्यकेतु जी का व्यक्तित्व और उनके स्वप्न

—सुशीला देवी

डा० सत्यकेतु जी बहुत गम्भीर विद्वान् थे। उनकी विषय की पकड़ बहुत गहरी थी। क्या दर्शनशास्त्र, क्या राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि सभी विषयों में अबाध गति थी। परन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास उनका प्रिय विषय था। आज से हजारों वर्ष पुरानी घटनाओं का सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक चित्रण वह इस प्रकार प्रस्तुत करते थे, जैसे सब कुछ उनके सामने चलचित्र की भांति घट रहा है। यह सब कुछ इतना ज्वलन्त और सजीव होता था कि मन सुनते-सुनते ऊबता न था। प्राचीन इतिहास का ज्ञान हस्तामलकवत् था। उनकी पुस्तकों की लोकप्रियता का यही कारण है। उनके प्रायः सभी विशाल ग्रन्थों के संस्करण प्रति दूसरे वर्ष प्रकाशित करने पड़ते हैं। ये पुस्तकें इतनी सरल और हृदयग्राही ढंग से लिखी गई हैं कि इतिहास जैसे शुष्क विषय को पढ़ते हुए उपन्यास का सा आनन्द आता है, और पुस्तक एक बार प्रारम्भ कर छोड़ने को जी नहीं चाहता। ये पुस्तकें किशोर वय पाठकों से लेकर प्रौढ़ व्यक्तियों तक में पसंद की गई हैं। उनकी वक्तृत्व शक्ति भी उतनी ही विलक्षण थी। वे अपने श्रोताओं को बांधे रखने की अपूर्व क्षमता रखते थे। विशाल समुदाय गम्भीर विद्वत्ता के होते हुए भी उनके स्वभाव में बालसुलभ सरलता थी। उनका स्वभाव बहुत मधुर था, वे क्रोध और शिकायत करना तो जानते ही न थे। अमिमान और अहंकार छू तक नहीं गया था। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता था, उसे कभी यह नहीं अनुभव होने दिया कि वह अपने से अत्यधिक ऊँचे विद्वान् के पास बैठा है। उसे कभी हीनता का आभास नहीं होने दिया। दूसरों का मन मोह लेने की अप्रतिम शक्ति थी। पर अपना काम निकालने के लिए प्रभावशील व्यक्तियों के पीछे भागने या उन पर अपना प्रभाव जमाने की प्रकृति का उनमें अत्यन्त अभाव था। वे सबसे निरपेक्ष भाव से मिलते थे जो भी काम हाथ में लिया, उसे पूरा किया। कभी किसी एक ही व्यवसाय से नहीं चिपटे रहे। कहते थे कि मैं कोल्हू के बैल की तरह एक ही काम का होकर नहीं रह सकता। नई-नई स्कीमें बनाई, सफल हुए तो दूसरों

को सौंप दीं। परन्तु लेखनी से कभी विराम नहीं लिया, वह अबाध गति से चलती रही। उनके मुख पर सदैव शान्ति और प्रसन्नता विराजती थी। कभी किसी को अपनी ओर से निराश नहीं किया। वे शिव भगवान् के समान अवदर दानी थे। स्वयं न खाकर दूसरों को खिलाना, स्वयं न पहनकर दूसरों को पहनाना यह उनको अतिप्रिय था। वे प्राचीन इतिहास के अद्भुत ज्ञाता थे। प्रायः सभी प्राचीनतम सभ्यताएं यथा ईजिप्टोलोजी, बैबिलोनियन, सीरीयन, रोमन आदि संसार से विदा ले चुकी हैं, अब उनका जीवित चिह्न कहीं शेष नहीं है। पर वैदिक सभ्यता और संस्कृति उतनी ही प्राचीन होते हुए आज भी जीवित है। डाक्टर साहव इस संस्कृति को उसके अत्यन्त उज्ज्वल रूप में देखना चाहते थे। इसी कारण उनका गुरुकुल कांगड़ी के प्रति इतना मोह था। वे चाहते थे कि हमारे बच्चे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ हमारी सभ्यता के आधारभूत उच्च सिद्धान्तों को भी अपने जीवन में क्रियात्मक रूप दे सकें। आज के युग में भौतिकवादी सभ्यता के पीछे भागता हुआ मानव, मानवता को भूलता जा रहा है। यों तो अर्थ का दास मनुष्य सदा ही रहा है, पर आज तो उसकी अति ही हो गई है। पैसा अवश्य कमाओ पर उसमें लिप्त न रहो—“तेन त्यक्तैन भुञ्जीथाः” मनुष्य का सुमनुष्यों के प्रति सहानुभूति और प्रेम का भाव हो। आदि गुणों के विकसित करने वाले गुरुकुल का वह स्वप्न लेते थे। और जब तक जीवित रहे, यह ध्येय रहा कि एक आदर्श भारतीय संस्कृति का विद्यालय बच्चों के लिए हो जहाँ जाति, धर्म और संकीर्णता से दूर विशुद्ध भारतीय वातावरण में शिक्षा दी जा सके। खेद ! यह स्वप्न पूरा न हुआ और इसी स्वप्न के साथ उनका जीवन समाप्त हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का गुरुकुल इन्हीं स्वप्नों के अनुसार था, परन्तु समय के साथ वह अपने आदर्शों से दूर हट गया था। वे फिर उसी प्राचीन परम्परा पर उसे स्थापित करना चाहते थे। परिस्थितिवश उन्हें अनेक प्रकार के कार्य करने पड़े, पर जीवन भर मन में उसी आदर्श की लगन रही जो उनके हाथों पूर्ण करना शायद नियति को अभीष्ट न था। शायद कभी कोई भविष्य में इस कार्य को करे। आर्यसमाज संस्था के कार्यकलाप संसार को उसकी देन और उसके आदर्शों को वह बहुत ऊंची दृष्टि से देखते थे। और उसे यथोचित स्थान दिलाना समग्र विश्व को उसके स्वरूप और उसके कर्त्तृत्व से परिचित कराना उनकी आकांक्षा थी और इसी ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने आर्यसमाज का इतिहास लिखा।

अपने पेरिस निवास के समय उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का फ्रेञ्च अनुवाद प्रकाशित कराया था। उस अनुवाद की भूमिका लिखते हुए उन्होंने आर्यसमाज के कार्यकलाप का परिचय दिया था। यथा आर्यसमाज ने शिक्षा के क्षेत्र में कितना

योगदान दिया, बाल विवाह की कुरीति दूर की, विधवा-विवाह का प्रचलन कराया। कितने अनाथाश्रम, शिक्षणालय, चिकित्सालय स्थापित किए। अन्ध-विश्वास, मूर्तिपूजा, जातिगत ऊंच-नीच का भेदभाव दूर कर कितने ही सुधार किए। किस प्रकार समग्र भारत में जन जागरण का मन्त्र फूँका, यह पढ़कर अनुवादिका महोदया और मुद्रक महाशय बोले - आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द का नाम तो हमने कभी नहीं सुना था। हमने तो केवल विवेकानन्द और राजा राममोहनराय का नाम सुना है। इस बात से उन्हें बहुत चोट पहुँची थी, और तभी आर्यसमाज का इतिहास, विस्तृत रूप से लिखने का संकल्प किया था। जो ईश कृपा से सम्पन्न हुआ। परन्तु महर्षि दयानन्द के विचारों का गुरुकुल बनाने का गुरुकुल स्वप्न लिये ही चले गये।

“कालो ह्ययम् निरवधिः विपुला च पृथ्वी”।

शायद कभी सब को समान अवसर और एक से वातावरण में ज्ञान-विज्ञान, साइन्स, शास्त्रों आदि सभी के समुचित पठन-पाठन का अवसर मिलेगा। और सब को समुचित उन्नति का अवसर मिलेगा। ऐसी संस्था के स्नातक, कुशल चिकित्सक, योग्य इंजीनियर व अच्छे प्रशासक, व्यवसायी, कृषक होंगे। वे समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति में सहायक होंगे। उनके आचार-विचार वैदिक संस्कृति के अनुकूल होंगे। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इसी स्वप्न को साकार करने के लिए गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की थी, और अपने जीवन के प्रारम्भिक तीस-चालीस वर्ष गुरुकुल का स्वर्णिम युग था। उस समय देश-विदेश सभी ओर उसकी चर्चा थी। इंग्लैण्ड के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री रामसे मैकडानल्ड, प्रसिद्ध मानवतावादी श्री सी० एफ० एण्ड्रूज, महात्मा गांधी जैसी महान् हस्तियां गुरुकुल पधार कर शान्ति और प्रेरणा प्राप्त करती थीं। उसी युग के ये गुरुकुल में डा० प्राणनाथ जैसे ओरियण्टलिस्ट, वैद्य धर्मदत्त जी जैसे योग्य चिकित्सक, पं० बुद्धदेव जी जैसे वैदिक धर्म के प्रचारक डा० सत्यकेतु जैसे हिस्टोरियन और श्री रामगोपाल पत्रकार निकले। श्री रमेश वेदी जैसे वन्य जन्तु विशेषज्ञ हैं। समय के साथ गुरुकुल में ह्रास आता गया। डा० सत्यकेतु उसको उसी प्राचीन गौरव की ओर ले जाना चाहते थे। आशा है कि उनका स्वप्न पूरा अवश्य होगा।

वे गुरुकुल को ओरियण्टल अध्ययन का अन्तर्राष्ट्रीय वेण्ड भी बनाना चाहते थे। जहाँ संसार के कोने-कोने से विद्यार्थी आकर वेद वेदाङ्गों और योग की शिक्षा प्राप्त करें। आजकल इस प्रकार की संस्था की बहुत आवश्यकता है। यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका और जापान आदि सभी देशों के विद्वान् भारतीय प्राचीन ज्ञान की ओर आकृष्ट होकर भारत आना चाहते हैं। पर खेद है कि ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो इस प्रकार का ज्ञान और समुचित वातावरण को दे सके।

उनकी इच्छा गुरुकुल में इसी कमी को पूरा करने वाली संस्था खोलने की थी।

—सुशीला देवी

धर्मपत्नी स्वर्गीय डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

पुत्र की कलम से

—विश्व रंजन

पूज्य पिता श्री सत्यकेतु विद्यालंकार की मेरी स्मृतियां १९३६ से आरम्भ होती हैं, जब वे पेरिस विश्वविद्यालय से इतिहास में डी० लिट् पास करके वापिस भारत आए थे। उस समय मेरी आयु मात्र ८ वर्ष की थी। पेरिस अध्ययनार्थ जाने से पूर्व पिता जी गुरुकुल कांगड़ी में इतिहास के प्रोफेसर थे और पेरिस विश्व-विद्यालय में उन्होंने विश्व-प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० रेनू के निर्देशन में लगभग २ वर्ष अनुसंधान किया। इस बीच शायद गुरुकुल में इतिहास उपाध्याय के स्थान की पूर्ति कर ली गई थी और पेरिस से लौटने पर पिता जी को गुरुकुल में स्थान नहीं मिला था।

गुरुकुल में स्थान न मिलने पर परिवार के दिन संघर्ष, अभाव व अर्थ-संकट में गुजरे। पिता श्री का जन्म उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के एक बहुत ही छोटे व गरीब किसान परिवार में हुआ था। हमारे दादा जी बहुत ही सज्जन, नेक व सीधे इन्सान थे। ऋषि दयानन्द व आर्यसमाज में उनकी घोर आस्था थी, पिता जी उनके एक मात्र पुत्र थे। जैसे-तैसे करके उन्होंने ५ वर्ष की स्वल्प आयु में ही पिता श्री को गुरुकुल कांगड़ी पढ़ने भेज दिया, पर अर्थाभाव के कारण वे वहाँ की फीस अधिक दिन नहीं दे पाये। पिताजी की प्रतिभा व लगन को देख कर परम पूजनीय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने बिना फीस ही उन्हें गुरुकुल में पढ़ने दिया। गुरुकुल और आर्यसमाज के इस उपकार को पिता श्री सारी जिंदगी नहीं भूले। अध्ययन हेतु पेरिस भी पिताश्री स्कालरशिप पर ही गए थे।

पिता श्री में कार्य करने की अपार क्षमता थी। १९४२ से १९५० के काल में होटल के साथ-साथ उन्होंने अन्य भी अनेक व्यवसाय व उद्योग स्थापित करने के प्रयास किये। इनमें मंसूरी में एक आयुर्वेदिक फार्मसी व चन्दीसी में एक तेल मिल प्रमुख थे। पिता जी के पास पूंजी का हमेशा ही अभाव रहा, इस कारण पूंजी लगाने के लिए उन्हें सदा ही कोई पूंजी-पति भागीदार ढूँढ़ने पड़ते थे। पिता जी बड़े कुशल प्रबन्धक व आयोजक थे, उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। इसी कारण ये उद्योग भी काफी बड़े पैमाने पर चल निकले, पर साझीदारों ने सदैव पिता जी को घोखा दिया, और काम चलने पर वे पिता जी को निकाल स्वयं एक मात्र स्वामी बन बैठे। यदि पिता जी के पास थोड़ी भी पूंजी व क्रियात्मक व्यावसायिक बुद्धि होती, तो इस

बात में जरा भी सन्देह नहीं कि वे अपनी अपार कार्य-क्षमता व योग्यता के कारण भारत के प्रमुख उद्योगपतियों व पूंजीपतियों में से एक होते।

यद्यपि अर्थमाव के कारण, विवशतावश पिता जी ने १९४२ से १९५० तक के काल में होटल व अन्य व्यवसाय किये पर उनका मन व्यापार में कभी नहीं रहा। एक वैश्य परिवार में जन्मे होने के बावजूद भी वे पूर्णतया ब्राह्मण प्रकृति के व्यक्ति थे। गुरुकुल में अध्यापन के समय ही पिता जी ने मौर्य साम्राज्य के अतिरिक्त फ्रांस की राज्य-क्रान्ति पर भी एक ग्रन्थ लिखा था। १९४७ में भारत के स्वतंत्र होने के बाद, उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार किया, अतः विविध विषयों पर हिन्दी में उच्च कोटि के ग्रन्थों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। तभी १९५० में ही पिताजी ने “फ्रांस की राज्य क्रान्ति” से आगे “यूरोप का आधुनिक इतिहास” लिख कर दो बड़े खण्डों में प्रकाशित किया। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश आदि के इतिहास के प्राध्यापकों ने इस पुस्तक का बड़ा स्वागत किया और इसकी मुक्त कंठ से सराहना की। व्यावसायिक दृष्टि से भी इस पुस्तक ने अपार सफलता प्राप्त की। इसकी सफलता से उत्साहित होकर पिताजी ने अपने होटल व अन्य सभी व्यापारिक कार्य-कलाप बन्द कर दिए तथा वे पूर्णतया लेखन में ही लग गए। अगले ३ दशकों में उन्होंने ५० ग्रन्थ लिखे, जिनकी मुद्रित पृष्ठ संख्या २५,००० से भी अधिक है।

पिता जी की लेखन प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके ग्रन्थ मुख्यतया इतिहास, राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र, साहित्य (उपन्यास) आदि क्षेत्रों में हैं। उन्होंने एक फ्रेंच स्वयं-शिक्षक भी लिखा है, जिसे पढ़ कर हिन्दी भाषा-भाषी स्वयं फ्रेंच भाषा को भी सीख सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके सैकड़ों लेख और धारावाहिक हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स, धर्मयुग आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। उनके ग्रन्थों को भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है तथा हिन्दी माध्यम से अध्ययन करने वाले सभी छात्रों के लिए ये ग्रन्थ वरदान सिद्ध हुए हैं। विविध साहित्यिक संस्थाओं, राज्य व केन्द्र सरकारों ने इन पुस्तकों को उच्चतम पुरस्कारों द्वारा सम्मानित व पुरस्कृत किया है।

१९५० के बाद मसूरी में हमारा घर साहित्यकारों व शिक्षाविदों का अड्डा सा बन गया। ग्रीष्म अवकाश में अनेक जाने-माने लोग मसूरी आते थे उनमें से अनेक पिता जी से मिलते थे, और अक्सर शाम को गोष्ठियाँ जमती थीं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन तो पिता जी के सम्पर्क में आकर अपना घुमक्कड़ जीवन त्याग कर मसूरी में ही बस गए थे।

मसूरी के आर्यसमाज व शिक्षा जगत् के लोग भी अक्सर पिताजी से सलाह-मशविरे व मार्ग-दर्शन के लिए आते रहते थे। हमारे परिवार का मसूरी में बहुत

सम्मान होने से पिता जी प्रायः सभी सरकारी व गैर सरकारी सार्वजनिक समारोहों में बुलाये जाते थे, इनमें आम तौर पर वे प्रमुख वक्ता होते थे या समा का सभापतित्व करते थे। १९५२ में मसूरी नगरपालिका के चुनाव हुए, माता जी ने उसमें भाग लिया और भारी बहुमत से विजयी हुई।

१९५० के बाद पिता जी निरन्तर साहित्य-साधना में लगे रहे। इस समय में ही उन्होंने अपने इतिहास विषयक ग्रन्थ जैसे—यूरोप का आधुनिक इतिहास, एशिया का आधुनिक इतिहास, भारत का प्राचीन इतिहास, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पाटलीपुत्र की कथा, राजनीतिशास्त्र विषयक ग्रन्थ जैसे राजनीति शास्त्र (राज्य और राज्य-शासन), विदेशी राज्यों की शासन-विधि, भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन व नया संविधान, प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था व राज-शास्त्र साहित्य विषयक ग्रन्थ जैसे—आचार्य चाणक्य (ऐतिहासिक उपन्यास) अन्तर्दाह (सामाजिक उपन्यास), समाजशास्त्र विषयक ग्रंथ जैसे—समाजशास्त्र आदि लिखे। ये ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुए और इन सभी के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हिन्दी साहित्य को पिता जी के यह ग्रन्थ अमूल्य देन हैं।

पिता जी अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उनमें काम करने की अपार क्षमता थी और वे बड़े परिश्रमी थे। उनमें अपार ज्ञान था, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी व फ्रेंच भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। लिखने में तो उनकी सानी थी ही नहीं, बोलने में भी वे अद्वितीय थे। एक साधारण किसान परिवार में जन्मे होने के कारण अथवा गुरुकुल की शिक्षा-दीक्षा के कारण पिता जी स्वभाव में सरलता, सौम्यता और सर्वहित संजोये हुए थे। इतना कार्य करने पर भी उनमें आत्म-प्रचार की जरा भी इच्छा नहीं थी। पुरस्कारों के लिए विचारार्थ कभी हमने उनकी पुस्तकें भेज दीं तो भेज दी। उन्होंने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया।

वास्तव में वे एक युग पुरुष थे।

—विश्व रंजन

सी-५/१३, सफदरजंग डेवलपमेण्ट एरिया,
हौज खास, नई दिल्ली-११००१६

श्रद्धा सुमन समर्पण

जो साहित्य क्षितिज के भास्वर,
सत्यकेतु विद्यालंकार ।
श्रद्धा सुमन समर्पित उसको,
यश सौरभ का जो आगार ।
जो जीवन पर्यन्त अग्नि पंथी साधक,
गति से अविराम ।
संवर्धित कर सका भारती माँ का जो,
गौरव अविराम ।
निगम पंथ गामी जिसने,
आर्यत्व भाव का किया प्रसार ।
जो इतिहास बनाने वाला,
स्वर्णिम शिल्पी, अमर प्रकाम ।
वैदिक नाद सुनाकर जिसने,
किया विश्व का है उद्धार ।
मणि दीपक भूभावातों में,
सागर में जो कूल समान ।
पर्वत मालाओं में जिसने,
पाया शिखरों का स्थान ।
किया सफल मातृत्व सुनु बन,
स्वर्णाक्षर में जिसका नाम ।
अर्जित दिव्याभा के द्वारा,
बना अमर है जो युग गान ।
सरस्वती भी चिर विछोह में,
लगता, करती हा हा कार ।
“सत्यकेतु” का संवाहक जो,
विद्या का निरुपम शृंगार ।
‘सत्यकेतु’ संज्ञा के द्वारा,
सार्थक किया निजी संसार ।
सभी भूमिकाओं का जिसने,
किया सफलता से निर्वाह ।
मन्दाकिनी बने जिसको,
पथ में अंगारों के अम्बार ।
गूँज रहे हैं अब भी स्वर वे,
रहे प्रेरणा के मंदार ।

—डा० (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी

आर्यसमाज का इतिहास



सामान्य परिचय

एवं

मूल्यांकन

सत्यकेतु की प्रेरणा का मंत्रगीत

—देवनारायण भारद्वाज

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते धिताः ॥

अथर्व का० १२ सू० ५ मं० ३

चले चलो तुम चले चलो, धर्म ध्येय पर चले चलो ।
बढ़े चलो तुम बढ़े चलो, कर्म क्षेत्र में बढ़े चलो ॥

श्रम की महिमा को पहिचानो
तुम श्रेय स्रोत श्रम को जानो
तप ताप शीत सब कष्ट आदि
कर सहन लक्ष्य को सन्धानो ।

श्रम-तप पाथेय साथ ले, वेद मार्ग पर बढ़े चलो ।
बढ़े चलो तुम बढ़े चलो, कर्मक्षेत्र में बढ़े चलो ॥

आधार प्रकृति या प्राणी का
वर वेद ब्रह्मणा वाणी का
पुरुषार्थ तपस्या के द्वारा
हो ज्ञान गिरा कल्याणी का ।

श्रम-तप के वेदमार्ग से, सुधन हेतु तुम बढ़े चलो ।
बढ़े चलो तुम बढ़े चलो, कर्म क्षेत्र में बढ़े चलो ॥

हो दक्ष वेद विद्वान् बनो
पा वित्त विपुल धनवान् बनो
ऋत-न्याय किन्तु मत तज देना
चाहे जितना बलवान् बनो ।

सृष्टि सेतु ले सत्यकेतु, आर्य पंथ पर चढ़े चलो ।
बढ़े चलो तुम बढ़े चलो, कर्म क्षेत्र में बढ़े चलो ॥

आर्यसमाज का बृहत् इतिहास पांच हजार पृष्ठों में—क्या, क्यों, कैसे ?

—क्षीतीश वेदालंकार

सदियों की मीहनिद्रा के पश्चात् उन्नीसवीं सदी में जितने भी राष्ट्रीय पुनर्जागरण के आन्दोलन प्रारम्भ हुए उनमें सब से महत्त्वपूर्ण आर्यसमाज का आन्दोलन है। गत एक सौ वर्षों में देशवासियों के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों में जितनी क्रांति इस आन्दोलन के माध्यम से हुई, उतनी अन्य किसी संस्था या आन्दोलन के द्वारा नहीं। जितनी सर्वग्राही और व्यापक पकड़ जनमानस पर आज भी इस आन्दोलन की है, उतनी अन्य किसी की नहीं। यही कारण है कि देश की सीमाओं के बाहर भी यह आन्दोलन अपनी जड़ जमा चुका है।

परन्तु इस आन्दोलन का इतिहास तैयार करने की ओर आर्य जनता ने विशेष ध्यान नहीं दिया। सबसे पहले इस न्यूनता की ओर स्वामी श्रद्धानन्द जी का ध्यान गया। वे स्वयं एक कुशल पत्रकार भी थे। उन्होंने इतिहास सम्बन्धी सामग्री तैयार करनी प्रारम्भ की। परन्तु अपनी अन्य सामाजिक और राजनीतिक व्यस्तताओं के कारण वे इस कार्य को नहीं कर पाए। उस अमर हुतात्मा के बलिदान के पश्चात् उनके सुपुत्र श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने इस कार्य का दायित्व संभाला और दो खण्डों में—लगभग ५०० पृष्ठों में—आर्यसमाज का इतिहास लिखा जिसे सार्वदेशिक सभा ने प्रकाशित किया पर वह इतिहास भी विषयवस्तु की दृष्टि से लगभग आधी सदी पुराना पड़ गया। श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ द्वारा लिखा इतिहास भी उन्नीसवीं सदी का कालातीत हो गया। तब से यह दिशा किसी महारथी के अभाव में सूनी पड़ी थी।

योजना कैसे बनी

अकस्मात् प्रसिद्ध इतिहासज्ञ, अनेक सर्वमान्य इतिहास ग्रन्थों के प्रणेता और लेखनी के धनी श्री सत्यकेतु विद्यालंकार का इस कमी की ओर ध्यान गया। ध्यान जाने की यह घटना भी कम रोमांचकारी नहीं है। जीवन के ७५ वर्ष पूरे करने

के बाद वे अचानक भयंकर रूप से बीमार पड़े। उन दिनों वे मसूरी रहते थे। मसूरी के डाक्टरों ने उन्हें तुरन्त दिल्ली ले जाने का परामर्श दिया। दिल्ली लाकर होली फैमिली अस्पताल में उन्हें रखा गया। उस रुग्णावस्था में ही एक दिन उन्हें ध्यान आया कि मैंने पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया, यूरोप और चीन तथा भारत के विभिन्न कालों का इतिहास लिखा, अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे, पर आज तक मैंने आर्यसमाज का इतिहास नहीं लिखा। यह ऋण मुझे चुकाना है। उन्होंने मन में निश्चय किया कि अब यदि मैं जीवित रहा तो इसी काम को पूरा करूँगा। उन्होंने केवल अपने मन में ही निश्चय नहीं किया, बल्कि कागज पर लिख कर इस निश्चय से अपने परिवार वालों को भी अवगत कर दिया। ईश्वर का चमत्कार देखिए—अगले दिन से उनके रोग में और स्वास्थ्य में तेजी से सुधार होने लगा। उनको लगा कि शेष जीवन परमात्मा ने मुझे आर्यसमाज का इतिहास लिखने के लिए ही प्रदान किया है। यह इतनी विशाल योजना थी कि किसी एक व्यक्ति के लिए उसे पूरा करना असम्भव ही समझा जाएगा। केवल लेखनी ही नहीं, सारे देश में और देश के बाहर भी, जहाँ भी आर्यसमाज की यत्किञ्चित् ज्योति दिखाई देती है वहाँ पहुँचकर इतिहास की सामग्री एकत्रित करना, फिर प्रभूत व्यय-साध्य इस योजना के लिए धन की व्यवस्था करना, तदनन्तर उसके प्रकाशन का प्रबन्ध करना... योजना के ये इतने विभाग हैं कि एक-एक विभाग में कई-कई उत्साही व्यक्ति जुटते और तब सब का समन्वित परिश्रम अभीष्ट फल प्रदान कर सकता है। इसके लिए कोई विश्वविद्यालय या कोई समर्थ सभा आगे आती और बीड़ा उठाती, पर उसके आसार कहीं दिखते नहीं थे। तब श्री सत्य-केतु विद्यालंकार ने अकेले ही सहस्रबाहु बन कर इस महान् योजना को पूरा करने में लग गए। किसी महारथी के अभाव में जो दिशा सूनी दिखाई देती थी, अब वह सनाथ होने लगी।

उन्होंने “आर्यस्वाध्याय केन्द्र” की स्थापना की। सन् १९८० में उदयपुर में हुई सार्वदेशिक की अन्तरंग सभा ने इस केन्द्र को स्वायत्त संस्था के रूप में मान्यता दी और आर्थिक समस्या हल करने के लिए निम्नलिखित वर्गों के सदस्य बनाने का अधिकार दिया—(१) संरक्षक सदस्य—पाँच हजार रु० या अधिक राशि देने वाले, (२) प्रतिष्ठित सदस्य—एक हजार रु० या अधिक धनराशि देने वाले, (३) सहायक सदस्य—आर्यसमाज के इतिहास के सब खण्डों का रियायती अग्रिम मूल्य देने वाले, (४) सम्माननीय सदस्य—विद्या, ज्ञान और सेवा के आधार पर मनोनीत व्यक्ति, (५) प्रतिनिधि सदस्य—विविध आर्यसंगठनों, समाजों, आर्य शिक्षणालयों और अन्य आर्यसंस्थाओं द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि, (६) साधारण सदस्य—दस रु० देकर केन्द्र की सदस्यता स्वीकार करने वाले।

इस योजना की रूपरेखा जब आर्यजनता के सामने आई तब जिन व्यक्तियों के मन में इसके लिए सर्वप्रथम उत्साह पैदा हुआ, वे सदस्य बनने प्रारम्भ हो गए। योजना की विशालता को और अनुकूल साधनों के अभाव को देखकर कइयों के मन में इस योजना की पूर्ति में सन्देह भी स्वाभाविक था। इससे प्रारम्भ में सदस्य बनाने में कठिनाई का अनुमान लगाया जा सकता है, पर ५० सत्यकेतु जी के दृढ़ संकल्प के आगे सब बाधाएं एक-एक कर पार होती गईं और काम आगे बढ़ता गया।

आर्यसमाज के प्रारम्भिक इतिहास की सामग्री एकत्र करना बहुत दुष्कर काम था। एक सौ से भी अधिक वर्ष पुरानी सामग्री कहाँ मिलती। वे व्यक्ति नहीं रहे। इतनी पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें भी अब कहाँ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के मानचित्र में जो परिवर्तन आया उसके कारण भी बहुत सी सामग्री लुप्त हो गई। जिस पंजाब में आर्यसमाज का सब से अधिक कार्य था, वह पाकिस्तान में चला गया। आर्यसमाज के भवन, शिक्षणालय तथा अन्य गतिविधियों के सब केन्द्र ध्वस्त हो गए या इस प्रयोजन के नहीं रहे। आर्यसमाज के पुस्तकालय भी अग्नि की भेंट हो गए। इस प्रकार प्रारम्भिक इतिहास की सामग्री का प्रमुख आवार नष्ट हो गया। केवल एक ही आधार बचा—भारत स्थित ब्रिटिशकालीन प्राचीन अभिलेखागार और लन्दन स्थित ब्रिटिश म्यूजियम, पब्लिक रिकार्ड आफिस और इण्डिया आफिस लाइब्रेरी। ग्रंथों ने अपने समय के उनकी दृष्टि से आवश्यक रिकार्ड वहाँ सुरक्षित रखे थे। दिल्ली स्थित नेशनल आर्चाइव्स की छानवीन कर वहाँ से आवश्यक सामग्री और रिकार्ड प्राप्त कर उनकी प्रतिलिपियाँ या फोटो कापी तैयार करने का भार पं० जी ने श्री पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार को सौंपा और लन्दन स्थित सामग्री की जांच पड़ताल के लिए स्वयं लन्दन की यात्रा की। विशेष रूप से सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम में ऋषि दयानन्द की भूमिका के सम्बन्ध में तथा अन्य राजनैतिक आन्दोलनों में आर्यसमाजियों के भाग लेने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री इन अभिलेखागारों में ही सुरक्षित मिल सकती थी। पं० जी ने लगभग दो मास तक लन्दन में रहकर महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्रित की और वहाँ से लौटकर आर्यसमाज के इतिहास के लेखन में लग गए। सौभाग्य से पं० जी के प्रबुद्ध शिष्य प्रो० हरिदत्त वेदालंकार का सहयोग भी उनको मिल गया। अब यद्यपि हरिदत्त वेदालंकार भी दिवंगत हो चुके हैं, परन्तु आर्यसमाज के इस सप्तखण्डीय बृहत् इतिहास में इनका योगदान स्मरणीय रहेगा। प्रत्येक खण्ड में उनके द्वारा कई अध्याय लिखे गए हैं। इसी प्रकार पाँचवें खण्ड में डा० भवानी लाल भारतीय का और सातवें खण्ड में श्री दत्तात्रेय तिवारी का सहयोग भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी प्रकार विभिन्न स्थानों पर जाकर सम्बन्धित सामग्री

लाने में ब्र० नन्दकिशोर विद्यावाचस्पति का उपयोग भी अनुपेक्षणीय है।

इस इतिहास के प्रत्येक खंड में लगभग आठ सौ पृष्ठ हैं और प्रत्येक खंड में औसतन तीस अध्याय हैं। एक-एक अध्याय एक-एक पुस्तिका के समकक्ष है। यों समझिये कि सौ-सौ पृष्ठों की सामान्य आकार की लगभग दो सौ पुस्तकें इन सातों खण्डों में समाहित हैं।

पं० सत्यकेतु जी अपने जीवनकाल में ही ये सातों खण्ड प्रकाशित कर गए। सातवाँ खण्ड प्रकाशित होने के कुछ मास बाद ही एक भयंकर कार दुर्घटना में उनका प्राणान्त हो गया। मेरी आस्तिक बुद्धि कहती है कि परम प्रभु ने उनकी भयंकर रुग्णावस्था में इस इतिहास-यज्ञ की पूर्ति के निमित्त ही उनके जीवन की डोर बढ़ाई थी। तभी तो यज्ञ पूर्ण होने पर दुर्घटना के व्याज से डोर टूट गई। भले ही डोर टूट जाए, परन्तु श्री पं० सत्यकेतु विद्यालंकार को—यद्यपि उन्होंने और अनेक चिरस्मरणीय ग्रन्थ लिखे हैं जिन पर उन्हें देशव्यापी ख्याति मिली है और अनेक स्पृहणीय पुरस्कार भी प्राप्त हुए—अमर करने के लिए यह आर्यसमाज का वृहत् इतिहास ही पर्याप्त है।

समय, स्थान, ग्रन्थ का कलेवर और अपनी शक्ति की सीमा को देखते हुए इन सातों खण्डों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करूंगा।

प्रथम खण्ड (प्रारम्भ से लेकर सन् १८८३ तक)

इस खण्ड में २३ अध्याय हैं जिनमें से २० अध्याय डा० सत्यकेतु जी ने लिखे हैं और तीन अध्याय प्रो० हरिदत्त ने। इसकी रूपरेखा इस प्रकार है।

प्रथम अध्याय

आर्य शब्द से ऋषि दयानन्द का क्या अभिप्राय था, इस विवेचन से ग्रन्थ प्रारम्भ होता है। ऋषि दयानन्द मानते थे कि मनुष्य जाति एक ही है और उसके आर्य तथा दस्यु दो भेद हैं। जो श्रेष्ठ गुण कर्म स्वभाव के लोग हैं वे आर्य हैं और आर्यावर्त में सदा से रहते आए हैं। आर्य नाम की कोई जाति या नस्ल नहीं है, जैसा कि पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं। त्रिविष्टप (तिब्बत में) आदि सृष्टि हुई और वहाँ से आकर आर्यों ने ही इस देश को आबाद किया, इसको आर्यावर्त नाम दिया, इसकी नदियों, पर्वतों और स्थानों का नामकरण किया। आर्यों से पहले इस देश में कोई आदिवासी जातियाँ रहती थीं, या आर्य लोग किसी अन्य देश से आकर इस देश में बसे, ऋषि इसका खण्डन करते हैं, क्योंकि समस्त संसार में प्राचीनतम साहित्य आर्यों का ही है, और उस सारे साहित्य में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं है। हाँ, आर्यों के बाहर जाने के संकेत तो हैं।

इसी प्रकार भाषाओं के आधार पर भी पाश्चात्य विद्वानों ने मनुष्यों को अनेक जातियों में विभक्त किया है। पर ऋषि का मन्तव्य है कि संसार की सब भाषाओं की जननी वैदिक भाषा है जिसे प्राचीन ऋषियों ने 'दैवी वाक्' कहा, और मनुष्यों की भाषा को 'मानुषी वाक्' कहा। मानव जाति की भाषाओं में व्याकरण, छन्द, लय, अभिव्यक्ति आदि की जो समानता पाई जाती है उससे यही पता लगता है कि समस्त मानव जाति के पूर्वज एक ही परिवार के लोग थे, एक ही भाषा बोलते थे। फिर प्रदेश, जलवायु, पर्यावरण और उच्चारण-भेद के कारण भाषाओं में विविधता पैदा हो गई।

ऋषि दयानन्द यह भी मानते थे कि प्राचीन आर्यावर्त अत्यन्त उन्नत था, सर्वत्र उनका सार्वभौम शासन था और अन्य देशों के राजा उनके अधीन माण्डलिक राजाओं की तरह थे। मनुस्मृति में, महाभारत में, उपनिषदों में और पुराणों में इसके अनेक प्रमाण हैं। प्राचीन साहित्य में आर्य राज्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय मिलता है। भारत की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार स्वायम्भुव मनु ने— जो सृष्टि के प्रथम मानव माने जाते हैं, पृथ्वी को सात द्वीपों में विभक्त किया था। जो इस प्रकार थे—जम्बु द्वीप, प्लक्ष द्वीप, शात्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रौंच द्वीप, शाक द्वीप और पुष्कर द्वीप। प्राचीन साहित्य में 'सप्तद्वीपा वसुमती' शब्द का बारम्बार उल्लेख आया है। भारतवर्ष भी जम्बुद्वीप का ही भाग था। सम्भवतः इसे आधुनिक एशिया महाद्वीप कह सकते हैं। मनु की सन्तान ही (मानव मात्र, विभिन्न देशों में पहुँच कर आर्य मर्यादा पालन न करने के कारण असुर, दस्यु, म्लेच्छ आदि कहलाए। महाभारत में जिन अनेक जनपदों का उल्लेख हुआ है। उनमें से कुछ ऐसे हैं जो भारतवर्ष के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते। जैसे—यवन, गांधार, चीन, तुषार, शक, पल्लव, हारहूग, कम्बोज, दरद, बबर, लम्पाक, दशेरक, तंगण, वाल्हीक आदि। इनमें से अनेक राज्यों की सेनाएं महाभारत के युद्ध में कौरवों या पाण्डवों का पक्ष लेकर लड़ी थीं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी कई विदेशी राजा उपस्थित हुए थे।

इसी प्रकार प्राचीन संसार के विविध देशों में कभी आर्य सभ्यता रही है। वहाँ आर्यों के ही धर्म और मर्यादाओं का पालन होता था। ज्यों-ज्यों इतिहास और पुरातत्त्व की नई-नई खोजें होती जा रही हैं, त्यों-त्यों इस बात की पुष्टि होती जा रही है। ईरान, ईराक, (सुमेरिया), मिस्र आदि जिन देशों की सभ्यता प्राचीनतम मानी जाती है, उन देशों में आर्यों की संस्कृति के और वैदिक देवताओं के उल्लेख मिले हैं। मिस्र के प्राचीन मन्दिरों में और मूर्तियों में वैदिक संस्कृति की छाप इतनी है कि इतिहासज्ञ इस समानता को देखकर चकित हुए बिना नहीं रहते। जिसे अब हम इस समय अफ्रीका महाद्वीप सत्यकेतु स्मृति अंक

कहते हैं उसे ही सम्भवतः पुराणों में कुशद्वीप कहा गया है। इस द्वीप के पुराण-वर्णित वर्णन को आधार बनाकर ही कैप्टेन स्पीक ने युगाण्डा के पास नील नदी के उद्गम की खोज की थी। मध्य अमेरिका (मैक्सिको), दक्षिणी अमेरिका और उत्तरी अमेरिका में भी आर्य संस्कृति के अवशेष मिले हैं। अमेरिका के मूल निवासी आज भी 'रेड इंडियन्स' कहलाते हैं, यह क्या उनके भारतीय संस्कृति से अपरिचित न होने का प्रमाण नहीं है? आयुर्वेद के प्रवर्तक महर्षि धन्वन्तरि की ताजिकिस्तान, चीन, जापान, तिब्बत, सोवियत संघ और पूर्वी एशिया के अनेक देशों में आज भी विभिन्न रूपों में पूजा और प्रतिष्ठा होने के प्रमाण मिले हैं। वाल्मीकि रामायण में यह उल्लेख भी मिलता है कि लंका का सालकटंकट पाताल देश गया था। मय, इन्का और एजटक सदृश प्राचीन अमेरिकन सभ्यताओं पर आधुनिक विद्वानों ने एशियाई सभ्यता का जो प्रभाव स्वीकार किया है, उसका कारण सम्भवतः साल-कटंकट के वंशज ही रहे होंगे।

महर्षि दयानन्द ने जिस चक्रवर्ती आर्य राज्य की कल्पना की है उसका अभिप्राय भी सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में स्पष्ट कर दिया है। आर्यों के चक्रवर्ती राज्य का यह अर्थ नहीं कि किसी अन्य राज्य की को सत्ता ही न रहे। वे सत्ता की इकाई 'ग्राम' को मानते थे। सब ग्रामों को वे स्वायत्त और स्वशासित देखना चाहते थे। ग्राम के ऊपर दस-बीस-सौ हजार ग्रामों के संगठन हों और उन सब में राज्य कार्य चलाने के लिए राजममाण हों। इसी प्रकार सम्पूर्ण संसार के लिए जो शासन-संस्था हो, उसकी भी एक राजसभा रहे, जिसे महर्षि ने 'सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा' नाम दिया है। यह एक तरह से आधुनिक संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी चीज है। ऋषि वंशानुगत राजा के बजाय निर्वाचित सभापति को ही राजा कहते थे। इस प्रकार वे सम्पूर्ण मानव समाज को 'आर्य' अर्थात् श्रेष्ठ बनाना चाहते थे। किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों के लिए उन्होंने आर्य शब्द का प्रयोग नहीं किया। 'सारे संसार का उपकार करने' के लिए ही उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। वे भारत को पारस मणि कहते थे जिसके स्पर्श से लोहा भा सोना बन जाता है। उनका विश्वास था कि जिस प्रकार इस देश ने कभी अतीत में सारे संसार का अपने गुणों के कारण नेतृत्व किया था, उसी प्रकार भविष्य में भी करेगा। इसी कल्पना को साकार करने के लिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। यह थी वह वैचारिक पृष्ठभूमि जिसके आधार पर ऋषि ने आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय किया।

इस विषय प्रवेश के साथ प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय

दूसरे अध्याय में बताया गया है कि श्रीकृष्ण द्वारा महाभारत के माध्यम

से समस्त भारतवर्ष को एक सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने से आगे लगभग ढाई हजार वर्ष तक किसी विदेशी आक्रमणकारी की इस देश पर हमला करने की हिम्मत नहीं हुई। परन्तु जब विलासिता और आपसी फूट बढ़ गई और केन्द्रीय राजशक्ति क्षीण हो गई तब विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए। मिस्र के इतिहास से पता लगता है कि वहाँ के राजा ओसिरिस ने महाभारत के लगभग ढाई हजार वर्ष बाद पूर्व दिशा में अपने राज्य का विस्तार करने के लिए भारत पर आक्रमण किया। उसके बाद असीरिया की साम्राज्ञी ने आक्रमण किया। ईरान के राजा हरवामनी ने बाख्त्री (बैक्ट्रिया) और शकस्थान (सीस्तान) पर विजय प्राप्त कर हिन्दुकुश पर्वतमाला तक का प्रदेश हस्तगत कर लिया। लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व ईरान के हरवामनी वंश में ही प्रतापी राजा दारयवहु या डेरियस दारा हुआ जिसने कम्बोज, पश्चिमी गांधार और सिन्ध पर भी विजय प्राप्त कर ली। ये सब प्रदेश भारत के ही अन्तर्गत थे। पहले कभी बाख्त्री और सीस्तान भी भारत के ही अंग थे। सम्भवतः यह पहला अवसर था जब आर्यावर्त के निवासियों को ईरान सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करना पड़ा। उसके बाद ईसवी पूर्व चौथी सदी में सिकन्दर का भारत पर जबरदस्त आक्रमण हुआ और वह भारत के अन्दर पंजाब की व्यास नदी तक आ गया। यद्यपि वह भारत के किसी भी स्थान पर अपना स्थायी शासन स्थापित नहीं कर सका, पर यह उस युग की केन्द्रीय राजशक्ति के क्षीण होते जाने का पर्याप्त प्रमाण है।

इस राजशक्ति के ह्रास के साथ और विदेशी आचार-विचार से सम्पर्क के कारण इस देश की धार्मिक और सामाजिक मर्यादाओं में भी परिवर्तन आने लगा। यज्ञों में पशुबलि की प्रथा चल पड़ी। एक ईश्वर के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की पूजा की परम्परा प्रारम्भ हुई। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था यदि गुण कर्मानुसार थी, तो अब जन्म का महत्त्व बढ़ने लगा। सम्भवतः विदेशियों को अपनी सामाजिक आचार परम्परा से अलग रखने की भावना इसके मूल में रही हो। पर इससे समाज में ऊँच-नीच की भावना विकसित हुई तथा स्त्रियों और शूद्रों को विद्या पढ़ने के अधिकार से वंचित किया गया। तंत्र-मंत्र और जादू-टोना तथा अन्य अनेक अन्धविश्वास भी महाभारत के बाद आर्य संस्कृति में प्रविष्ट होते गए।

तब धर्म में आई इस विकृति को दूर करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हुए। यज्ञों के जटिल कर्मकाण्ड, उनमें निरोह और मूक पशुओं की बलि और जन्मना ऊँच-नीच की प्रवृत्ति के विरुद्ध एक ओर उपनिषदों के ऋषियों ने आवाज बुलन्द की, तो दूसरी ओर उपनिषत्काल के बाद उस प्रवृत्ति के विरुद्ध संगठित रूप से आंदोलन करने वाले बौद्ध और जैन सम्प्रदाय अवतरित हुए। इन दोनों सम्प्रदायों

ने पशुबलि रूप में हिंसा के ताण्डव का विरोध करने के लिए ही अहिंसा को परम धर्म स्वीकार किया और वेदों के नाम पर यज्ञीय कर्मकाण्ड और पशुबलि का समर्थन करने वालों के वेदों को प्रमाण मानने से इन्कार कर दिया। इन दोनों मतों ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को तोड़ने के लिए अब्राह्मणों को अपना अनुयायी बनाया और जीवन की पवित्रता पर अधिक बल दिया। इन वेद-विरोधी आंदोलनों को जन समर्थन भी खूब मिला। जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज और धर्म का नेतृत्व मनुष्यमात्र के हित की कामना करने वाले अब्राह्मणों के हाथ में आ गया। इसी युग में कई ऐसे सम्प्रदायों का भी जन्म हुआ जिन्होंने अर्ध्यात्मवाद, नैतिकता, आस्तिकता और वेदानुगामिता का खुल्लमखुल्ला विरोध कर भौतिकवाद और शरीरिक सुख को ही अपना जीवन-दर्शन बनाया। ऐसे सम्प्रदायों में वाममार्ग और चार्वाक के नाम गिनाए जा सकते हैं।

इन नए मतों में नवीनता का और जनता को आकर्षित करने का उत्साह उत्साह था। इसीलिए वे भारत के बाहर भी लोकप्रिय हुए। जैन मत मध्यपि भारत के बाहर नहीं फैला, पर बौद्ध मत ने योजनाबद्ध रूप से हिमालय और समुद्र के पार पहुँचकर भी अपने जीवन की पवित्रता तथा त्याग-तपस्या से उन देशों में अपनी जड़ जमाई। धीरे-धीरे इन दोनों मतों ने भारत की राजनीति में भी दखल देना प्रारम्भ किया और राजशक्ति की सहायता से उन्हें अपने प्रसार में सफलता भी मिली। इन मतों के आचार्यों ने जिस विचारधारा का प्रसार किया वह कुछ मान्य-ताओं में भिन्न होने पर भी मूलतः आर्य विचारधारा ही थी। उन्होंने संस्कृत के स्थान पर लोकसभाओं को और स्थापत्य, मूर्ति निर्माण, संगीत और चित्रकला आदि भारतीय कलाओं का भी खूब प्रसार किया। परिणाम स्वरूप एशिया के बहुत बड़े भाग पर जो भारतीय संस्कृति की विजय पताका फहराई उसे एक तरफ से आर्य संस्कृति की ही विजय कहा जा सकता है। यह सांस्कृतिक साम्राज्य सैकड़ों वर्ष जीत जाने पर आज भी विद्यमान है।

पर इन मतों को विचारधारा एकांगी थी। वे केवल भिक्षु और भ्रमण करने पर जोर देकर जीवन से पलन कर निवृत्ति मार्ग का, संसार की असारता का और उसके दुःसमय होने का ही उपदेश करते थे। जिसके फलस्वरूप चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में समाज के विभिन्न वर्गों के लिए जो कर्म विधान था, वह क्षीण हो गया। भिक्षु बन जाने पर खेती कौन करता, व्यापार कौन करता और देश की रक्षा के लिए सैनिक कौन बनता। निवृत्त मार्ग के उपासक की सांसारिक प्रवृत्तियों से विरक्ति स्वाभाविक थी। धर्म विजय को धुन ये सैन्य शक्ति की उपेक्षा हो गई और विदेशी आक्रमणकारियों के समक्ष हमारी राजशक्ति नहीं टिक सकी। भौतिक सुख के सब साधन उपलब्ध होने पर भिक्षु और भ्रमण भी विलासी बन गए।

तब उसकी भी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और मौर्य राज्य में तथा शुंगकाल में

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का आन्दोलन चला। इस युग में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह अनेक ग्रंथों में प्राचीन वैदिक धर्म से भिन्न था। तब तक विदेशियों के सम्पर्क से और जैन तथा बौद्ध विचारधारा के प्रभाव से प्राचीन वैदिक धारा में काफी मिलावट हो गई थी। इन दोनों मतों के अनुकरण में ही उन महापुरुषों की पूजा प्रारम्भ हुई जिनमें लोकोत्तर गुण थे। निराकार प्रभु के स्थान पर प्रभु को साकार रूप दिया जाने लगा। यज्ञों का कर्मकाण्ड खण्डित हो ही चुका था, उनका स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया और मन्दिरों का नया कर्मकाण्ड प्रारम्भ हुआ। विद्या के अभाव में इस मन्दिर परम्परा को और अधिक बल मिला क्योंकि इसमें ज्ञान और कर्म के वजाय केवल भक्ति पर ही बल दिया गया जिससे शिक्षित अशिक्षित सभी आकर्षित हुए।

इस नये वैदिक धर्म की दो प्रधान शाखाएं थीं—भागवत और शैव। भागवत सम्प्रदाय के उपास्य देवता श्रीकृष्ण बने और शैवों के शिव—जो एक तरह से बौद्ध और जैन मत के प्रवर्तकों के ही प्रतीक थे। आगे जाकर इस भागवत धर्म के, और शैव धर्म के अनेक अवान्तर सम्प्रदाय भी बन गए। भागवत धर्म के ही अन्तर्गत विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण के साथ राम की पूजा भी जुड़ गई और शिव के साथ सैरव आदि अन्य रौद्र रूप देवताओं की कल्पना करके उनकी उपासना प्रारम्भ हो गई। आचार्य चाणक्य और महर्षि पतंजलि जैसे दिग्गज विद्वान् इसी युग में हुए और उन्होंने वैदिक मर्यादाओं की पुनः स्थापना का भरसक प्रयत्न किया।

तीसरा अध्याय

आर्य धर्म के इस पुनः उत्कर्ष का वर्णन करने के लिए एक अलग तीसरा अध्याय लिखा गया जिसमें उन राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इनमें शुंग वंश के पश्चात् सातवाहन, मार-शिव और वाकाटक वंश हुए जिन्होंने भारत के बहुत बड़े भाग पर शासन किया। ये सब राजा आर्य संस्कृति को मानने वाले थे और वेदशास्त्रों में इनकी आस्था थी। इन राजाओं में चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, कुमार गुप्त, पृष्यमित्र, विक्रमादित्य जैसे अनेक प्रतापी राजा हुए जिन्होंने शकों, कुषाणों, पल्लवों और यवनों के आक्रमणों को निरस्त किया। पर आधुनिक इतिहास ग्रन्थों में इन राजाओं की विजयों का बहुत कम उल्लेख मिलता है। इन्हीं आर्य राजाओं ने पूर्वी एशिया के अनेक देशों में अपने राज्य स्थापित किए। संस्कृत का भी पुनः प्रचार हुआ। जिन देशों में ये आर्य उपनिवेश बने उनके नाम इस प्रकार गिनाए जा सकते हैं—कम्बुज—वर्तमान कम्पूचिया, कम्बोडिया, चम्पा—वर्तमान वियतनाम, स्याम—वर्तमान थाइलैण्ड, मलाया—वर्तमान मलेशिया, स्वर्णद्वीप—वर्तमान बर्मा (सुमात्रा), यवद्वीप—वर्तमान

= जावा—इण्डोनेशिया के अन्तर्गत । बोनियो — मलयेशिया के अन्तर्गत । वाली—
 इण्डोनेशिया के अन्तर्गत, जिसे आज भी 'मन्दिरों का शहर' कहा जाता है ।
 - फिलिपीन और सेलेबस—दक्षिण पूर्व एशिया में बोनियो के निकट । उपरला
 - हिन्द—जिसमें अफगानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत तथा उसके उत्तर में स्थित
 मंगोलिया, चीनी तुकिस्तान, खोतान आदि इन सब प्रदेशों में उस समय के आर्य
 धर्म की छाप के अवशेष आज भी विद्यमान हैं ।

इन विदेशों में आर्य राज्य के विस्तार के अलावा विदेशी व विधर्मी जातियों
 को भी आर्य संस्कृति ने कम प्रभावित नहीं किया । किस प्रकार शक, हूण, यवन
 और पल्लव (पार्थियन) आदि इस देश की प्रचलित विचारधारा को अपनाकर
 भारतीय समाज के अंग बनते गए और इस देश ने उन्हें पूरी तरह आत्मसात् कर
 लिया, यह भारत के गौरवशाली इतिहास का अंग है, जिसका प्रायः अन्य इतिहास-
 कार उल्लेख नहीं करते । इस समाजीकरण और पूर्ण विलीनीकरण का प्रमाण यह है
 कि आज उन विदेशी जातियों का नाम तक यहां नहीं मिलता, यद्यपि उनकी संख्या
 नगण्य नहीं रही होगी । यह आर्यों की शक्ति और धर्म का चरम उत्कर्ष था जब
 केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया के अधिकांश
 देशों में आर्यों के राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना हुई । बीच में बौद्ध और जैन धर्म
 के प्रचार से आर्यधर्म को धक्का तो लगा, पर वह पुनः नई जिजीविषा के साथ उठ
 खड़ा हुआ । जिन देशों का ऊपर उल्लेख हुआ है, वे वेद-प्रामाण्य को स्वीकार करते
 थे, शास्त्रमर्यादा का पालन करते थे और याज्ञिक कर्मकाण्ड में विश्वास रखते थे ।

तभी सातवीं सदी में अरब में इस्लाम के नाम से एक नई शक्ति का उदय
 हुआ । हजरत मुहम्मद साहब ने अपने अनुयायियों में ऐसी जीवन शक्ति का संचार
 किया कि वे भी महत्वाकांक्षी बनकर अपनी शक्ति का उपयोग साम्राज्य विस्तार
 में करने लगे । देखते ही देखते चन्द वर्षों में उन्होंने मिस्र और सीरिया को जीत
 लिया । अफ्रीका महाद्वीप के उत्तरी प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया ।
 फारस उनके कब्जे में चला गया और उत्तर में वक्षु नदी और पूर्व में हिन्दुकुश
 पर्वतमाला तक वे छा गए । पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया और
 अफगानिस्तान भी उनका पादाक्रान्त होने से नहीं बचा । तब उन्होंने जलमार्ग से
 सिन्ध पर आक्रमण का प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली । लगभग आधी
 सदी तक वे सिन्ध पर आधिपत्य का प्रयत्न करते रहे, पर विफल रहे । जब सिन्ध
 पर उनका अधिकार हो भी गया, तब भी चौथाई सदी तक अनेक आक्रमण करके
 भी सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके । गुजरात के प्रतिहार और चालुक्य नरेशों ने उन्हें
 आगे नहीं बढ़ने दिया । धीरे-धीरे सिन्ध से भी उनका शासन समाप्त हो गया ।
 उसके बाद पूर्व और उत्तर दोनों दिशाओं से उन्होंने आगे बढ़ने का प्रयत्न किया,

पर कन्नौज नरेश यशोवर्माने और कश्मीर नरेश ललितादित्य ने उन्हें दोनों दिशाओं में आगे बढ़ने से रोक दिया। इन आर्य राजाओं ने क्षात्रशक्ति को उचित महत्त्व दिया और भारत की राजशक्ति को इतना सबल बना दिया कि विश्वविजयिनी अरब सेना को दो सदी तक उन्होंने इस देश की धरती पर पांव नहीं जमाने दिया।

इस प्रकार इस प्रथम खण्ड के द्वितीय और तृतीय अध्याय में जितनी अधिक सामग्री है वह श्री सत्यकेतु विद्यालंकार जसे अनेक देशों के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् की कलम से ही सम्भव थी।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय में उन विकृतियों का वर्णन है जिनके कारण आर्यधर्म धीरे-धीरे ह्रास की ओर चलता गया। बौद्ध धर्म भी आगे चल कर हीनयान, महायान, वज्रयान, तंत्रयान और सहजयान में परिवर्तित होता गया। जैनियों के भी दिगम्बर, श्वेताम्बर, क्षुत्लक, तेरापंथ और आभाणक आदि भेद बनते गए। इन सब में गुह्य साधनाओं का महत्त्व बढ़ता गया। गुरुमंत्र की दीक्षा प्रारम्भ हुई। अन्ततः मंत्रों चक्र के रूप में एक ऐसा सम्प्रदाय सामने आया जिसमें उचित-अनुचित, खाद्य-अखाद्य और गम्य-अगम्य का कोई भेद नहीं रहा। आध्यात्मिक साधना के रूप में जिन गुरुओं और क्रियाओं को मान्यता मिली उनके उदाहरण खजुराहो और जगन्नाथ पुरी के मन्दिरों में अंकित अश्लील मूर्तियों में मिल सकते हैं। जब काम-कला के विस्तार को ही अध्यात्म और साधना का अंग मान लिया जाए, तब सामाजिक शक्ति में, सत्य सनातन वैदिक धर्म में, और राजकीय शक्ति में ह्रास होगा ही। परिणामस्वरूप १२ वीं सदी के अन्तिम चरण में भारत पर तुर्की और अफगानों का आधिपत्य प्रारम्भ हो गया।

तुर्क हूणों की ही एक शाखा के वंशज थे। भारतीयों के प्रभाव से अफगानों और तुर्कों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, पर हूणों ने यूरोप में रोमन साम्राज्य को और भारत में गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था। दसवीं सदी के आसपास बौद्ध धर्मानुयायी तुर्कों ने अरब साम्राज्य पर हमले शुरू किए। अरब उनके सामने नहीं टिक सके, पर इस्लाम की जीवनी शक्ति के आगे धार्मिक दृष्टि से तुर्क पराजित हो गए—विजेता होकर भी उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया। उस समय गजनी का राज्य भी तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत ही था। गजनी के राजा सुबुक्तगीन ने अपने राज्य का विस्तार करने के लिए भारत पर आक्रमण किया। उसका मुकाबला करने के लिए राजा जयपाल ने भारी तैयारी की, पर सुबुक्तगीन को परास्त नहीं कर सका, तब पेशावर तक के प्रदेश पर तुर्कों का अधिकार हो

गया। प्राचीन समय में यही गान्धार देश कहलाता था जो भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। सुवृत्तगीत के बाद उसके पुत्र महमूद गजनी ने भारत पर दूर-दूर तक आक्रमण किए और वह अपनी विजय-यात्रा में थानेसर, कन्नौज, खालियर-सोमनाथ तक चढ़ आया। इन सबको विजय करने पर भी वह सीमावर्ती गान्धार प्रदेश के सिवाय भारत के किसी अन्य प्रदेश को गजनी-साम्राज्य का अंग नहीं बना सका। महमूद के बाद उसका पुत्र मसूद और मसूद के बाद उसके अन्य उत्तराधिकारी भी भारत पर बारम्बार आक्रमण करते रहे, परन्तु किसी को सफलता नहीं मिली। जब गजनी पर तुर्क साम्राज्य शीण हो गया, तब अफगानों ने भारत पर हमलों का सिलसिला प्रारम्भ किया। इन्हीं अफगानों में शहाबुद्दीन गौरी बहुत महत्वाकांक्षी था। उसने दिल्ली के चौहानों तथा कन्नौज के राजाओं से युद्ध किया और उत्तरी भारत के एक बड़े भाग पर कब्जा कर लिया। शहाबुद्दीन गौरी ने अपने सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को अपने विजित भारतीय प्रदेश का शासन करने के लिए भेजा। उसने गौरी की मृत्यु के पश्चात् स्वतन्त्र रूप से दिल्ली को राजधानी बना कर शासन किया। लगभग तीन सदी तक तुर्क अफगानों का शासन रहा। उनके उत्तराधिकारी अलाउद्दीन ने दक्षिणापथ तक अपनी विजय-यात्रा की, पर वह दक्षिणी भारत को स्थायी रूप से अपने शासन में नहीं ला सका। उसने मेवाड़ और चित्तौड़ को भी हथियाना चाहा, पर इनकी स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी अधीनता में आए प्रदेशों के अफगान शासकों ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया।

ये मुसलमान बादशाह साम, दाम, दण्ड, भेद से भारतीय जनता को इस्लाम की ओर आकर्षित करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे। जातिभेद के शिकार कुछ निचले तबके के लोग मुसलमान बने भी, परन्तु सर्वभक्षी इस्लाम को विशेष सफलता नहीं मिली। उसके तीन कारण थे—(१) लगातार हमलों पर हमले भेलते हुए भी राजपूत राजाओं की शक्ति सर्वथा क्षीण नहीं हुई थी। वे अपने-अपने क्षेत्र में इस्लाम से संघर्ष करते रहे। (२) वैदिक धर्म में अनेक विकृतियाँ आ जाने पर भी मुसलमान बादशाह भारतीय जनता की अपने धर्म के प्रति आस्था नहीं ढिगा सके। जिन देशों पर इस्लाम ने अब तक विजय प्राप्त की थी उनके निवासियों में अपने धर्म के प्रति वैसी आस्था नहीं थी। (३) उस युग में ऐसे अनेक सन्त और धर्माचार्य पैदा हुए जिन्होंने जनता का मनोबल बनाए रखा। इन सन्तों ने जहाँ जाति-पाँति पर करारी चोट की, वहाँ वैष्णवकालीन भक्ति का ऐसा स्रोत प्रवाहित किया कि उसमें सवर्ण-अवर्ण सभी बह गए। मध्ययुग में इन सन्तों ने आर्य जाति की रक्षा के लिए जो कार्य किया, उसे भुलाया नहीं जा सकता। ये सन्त भी किसी एक प्रान्त में नहीं, प्रत्युत भारत के लगभग सभी प्रान्तों में हुए—इसे देखकर लगता है कि देश के अन्तःकरण में सचमुच ही सांस्कृतिक एकता की एक अन्तःसलिला चिरकाल

से प्रवाहित थी जो शुष्क नहीं हुई थी ।

तभी सोलहवीं सदी में बाबर ने ताशकन्द से आकर भारत पर हमला किया । उसने तुर्क-अफगानों का शासन समाप्त कर मुगलों के आधिपत्य की परम्परा चलाई । उसके समय मुगलों का आधिपत्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक और उत्तर में हिमालय से मालवा तक स्थापित हो चुका था, पर उसका उत्तराधिकारी हुमायूँ निर्बल निकला । अफगानों ने और राजपूतों ने फिर अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये । तब अकबर आया, जिसने भारत में सचमुच मुगल शासन की जड़ जमाई । उसे तुर्क-अफगानों और राजपूतों की राजशक्तियों से एक साथ लोहा लेना था । यह कठिन था । इसलिए उसने राजपूत राजाओं का सहयोग लेने का प्रयत्न किया, जिसमें उसे सफलता मिली । अकबर ने अपने राज्य में राजपूतों को ऊँचे पद दिये और उन्हीं की सैन्यशक्ति से उसने तुर्क-अफगानों पर विजय प्राप्त की, पर मेवाड़ नरेश महाराणा प्रताप ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की, वे अन्तिम दम तक संघर्ष करते रहे । तुर्क अफगान शासन में भी मुस्लिम वर्ग का ही शासन था, पर उन्होंने राजपूत राजाओं या अन्य हिन्दुओं को कभी ऊँचा स्थान नहीं दिया । अकबर की सफलता का रहस्य हिन्दू राजाओं के सहयोग पर ही निर्भर था । उसने राजा टोडरमल को दीवान या अर्थ सचिव बनाया । राजा मानसिंह को अफगानिस्तान जैसे मुस्लिम देश का शासक बनाया और महाराजा जयसिंह को सेनापति बनाया । इस तरह अकबर के शासन को पूर्णतः मुस्लिम शासन कहना कठिन है ।

अकबर के बाद जहांगीर और शाहजहाँ ने भी हिन्दुओं के प्रति प्रायः वही नीति अपनाई, पर औरंगजेब ने उस नीति का परित्याग कर भारत को इस्लामी राज्य बनाने का प्रयत्न किया । उसने हिन्दुओं पर जजिया टैक्स लगाया, विश्वनाथ सोमनाथ और मथुरा के प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिर तोड़े, और हिन्दुओं के धार्मिक क्रिया-कलाप पर भी प्रतिबन्ध लगाये । हिन्दुओं को उच्च पदों से हटाकर मुसलमानों को उनके स्थान पर नियुक्त किया । उसकी इस कट्टरता के विरुद्ध स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए । दक्षिण में छत्रपति शिवाजी, राजस्थान में राणा राजसिंह और दुर्गादास राठौर तथा पंजाब में सिखों ने उसके विरुद्ध हथियार उठाए । उसकी हिन्दू विरोधी नीति ने विशाल मुगल साम्राज्य को खण्ड-खण्ड कर दिया । जाटों ने मथुरा, आगरा, भरतपुर में, मराठों ने दक्षिण पथ के अलावा अटक से कटक तक और पंजाब में सिखों ने उसकी सैन्यशक्ति को मात दी और मुगल साम्राज्य को खोखला कर दिया । नादिरशाह के आक्रमण से मुगलों की रही सही शक्ति भी नष्ट हो गई । तब दिल्ली का बादशाह मराठों के हाथ की कठपुतली मात्र रह गया । आर्यों की इस शक्ति के पुनरुत्थान में समय गुरु रामदास और गोस्वामी तुलसीदास

तथा गुरु नानक जैसे सन्तों के योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बारहवीं सदी से इस देश में जो मुस्लिम शासन स्थापित हुआ था, वह अठारहवीं सदी आते-आते लड़खड़ा गया । भारत की राजशक्ति मुख्यतः हिन्दुओं के हाथ में आ गई, पर उनके हाथ में भी यह शक्ति देर तक स्थिर नहीं रह सकी । तब एक विदेशी विघर्षी जाति ने भारत में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ कर दिया । इससे पहले सब हमले हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार करके होते रहे थे, पर यह हमला समुद्री मार्ग से हुआ था । अंग्रेज जाति ईसाई मत को मानने वाली थी । धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक इस जाति ने प्रायः सम्पूर्ण भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया ।

पाँचवाँ अध्याय

पाँचवाँ अध्याय ब्रिटिश शासन के सूत्रपात से ही प्रारम्भ होता है । पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों का बाहरी दुनिया से परिचय नहीं था । उस युग में दिग्दर्शक यन्त्र के अभाव में चप्पुओं से खेकर नावों द्वारा समुद्रों में दूर-दूर तक आना-जाना सम्भव नहीं था । इसलिए यूरोप के लोगों के लिए एशिया या अफ्रीका में अपने साम्राज्यों का विस्तार सम्भव नहीं हो सका, पर पन्द्रहवीं सदी में स्थिति में परिवर्तन आया । इससे पहले यूरोप और एशिया के मध्य व्यापार इटली, सिकन्दरिया और बेरूत के माध्यम से होता था । यूरोप में भारत के मसालों, चन्दन, हीरे-मोती और कपड़ों की भारी मांग थी । इस सारे व्यापार पर अरब व्यापारियों का एकाधिकार था । तब तक स्वेज नहर नहीं बनी थी । सब से पहले पुर्तगालियों ने कल्पना की कि अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँचा जा सकता है । उन्होंने अभियान प्रारम्भ किया । अन्त में वास्कोडिगामा को भारत पहुँचने में सफलता मिल गई । इस प्रकार जब एशिया और यूरोप के मध्य व्यापार के लिए समुद्री मार्ग खुल गया, तब यूरोप के अन्य देश भी इस दिशा में आगे बढ़े । हालैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों में इस पूर्वी व्यापार को हस्तगत करने के लिए व्यापारिक कम्पनियाँ बनीं । उन्होंने भारत और अन्य एशियाई देशों में अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कीं । सोलहवीं और सतरहवीं सदी में इस व्यापार में होड़ लग गई । पहले पुर्तगालियों ने भारत में राजशक्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया । मुगलों के साथ उनका संघर्ष हुआ, पर दक्षिण में मराठों के उत्कर्ष के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली । फिर हालैण्ड ने एशिया में अपने पांव जमाने का प्रयत्न किया । उसे इण्डोनेशिया में सफलता मिल गई । तब अठारहवीं सदी में नेपोलियन के उदय के साथ फ्रांसीसी इस क्षेत्र में आगे बढ़े, पर वे भी भारत में पांडीचेरी और चन्दननगर में ही अपना शासन स्थापित कर सके । पुर्तगालियों को गोवा, दामण और दीव टापुओं पर ही

सन्तोष करना पड़ा। भारत में मुगलशक्ति ज्यों-ज्यों क्षीण होती गई, त्यों-त्यों अंग्रेज अपने कूटनीतिक कौशल से राजशक्ति हथियाते गए।

यूरोपीय शक्तियों के एशियायी देशों में हावी होने का कारण यह नहीं कि वे सांस्कृतिक दृष्टि से या अन्य किसी दृष्टि से अधिक उन्नत थे। उनका आर्थिक और औद्योगिक जीवन एशियाई देशों से अधिक उन्नत नहीं था। पर जिन कारणों से यूरोप की स्थिति में परिवर्तन आया उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ऐसे यान्त्रिक आविष्कार जिनसे मानवीय श्रम की वृद्धि हो। (२) जल, कोयला और बिजली से यन्त्र चलाने की शक्ति का ज्ञान। (३) रसायनशास्त्र और विज्ञान की नई विधियों का आविष्कार। इस औद्योगिक क्रांति से और नये वैज्ञानिक आविष्कारों से पश्चिमी यूरोप के देशों के हाथ में ऐसी शक्ति आ गई जिसका उपयोग कर वे अन्य देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते थे। तभी वे एशिया, अफ्रीका और अमरीका में अपने उपनिवेश स्थापित करने में सफल हो सके।

इस औद्योगिक क्रांति के साथ वहां राज्यक्रान्तियों का सिलसिला भी प्रारम्भ हुआ जिससे वहां के लोगों में सैन्य संगठन, युद्धनीति और शासन व्यवस्था सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन आ गया। इससे उन्हें पिछड़े हुए देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना सरल हो गया। अठारहवीं सदी में यूरोप में जब यह राजनीतिक, सामाजिक और औद्योगिक तथा वैचारिक क्रांति हो रही थी, तब भारत में मुगल शक्ति के क्षीण हो जाने के कारण ऐसा केन्द्रीय सुदृढ़ शासन नहीं रहा था जो भारत को राजनीतिक एकता की ओर प्रेरित कर सके। मराठों, जाटों, राजपूतों और सिखों के रूप में जिस आर्यशक्ति का उदय हुआ था, उसमें भी हिन्दुत्व या आर्यत्व के नाम पर समग्र देश को एक सूत्र में बांधने की कल्पना का अभाव था। उस समय सामन्तवादी शासन व्यवस्था के कारण परस्पर वैमनस्य ही अधिक था, सौमनस्य कम। इसलिए न तो दृढ़ केन्द्र स्थापित हो सकता था और न ही न्याय और समता पर आधारित सुदृढ़ सामाजिक संगठन। इसलिए अंग्रेजों के आधिपत्य और ईसाई धर्म के प्रचार के कारण भारतीय आर्यों के धर्म और संस्कृति पर जो आक्रमण हुआ, वह अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध हुआ। उसके पीछे राजशक्ति तो थी ही, ज्ञान-विज्ञान की उत्कृष्टता, यान्त्रिक शक्ति और नये विचारों का बल भी था। इन्हीं तीनों चीजों का लाभ ईसाई धर्म प्रचारकों को भी मिला। वे भारतीयों को सुगमता से अपने धर्म का अनुयायी बनाने लगे। जो भारतीय इससे पहले प्रबल विदेशी आक्रमणों के सामने विचलित नहीं हुए थे और अपने धर्म और संस्कृति के प्रति दृढ़ आस्थावान् रहे थे, अब उनकी वह आस्था चलायमान होने लगी। अंग्रेजों की सुदृढ़ शासन और कानून की व्यवस्था देखकर

उस समय के बहुत से शिक्षित और प्रबुद्ध भारतीय तो अंग्रेजों के शासन को भारत के लिए वरदान तक समझने लगे ।

तब जैसे यूरोप में वैचारिक नवयुग आया, वैसे ही भारत में भी । अंग्रेजों ने भारत में सुव्यवस्थित शासन के साथ रेल, डाक, तार आदि के माध्यम से राज-नीतिक एकता भी स्थापित की और जिस तरह लोकतंत्र, समाजवाद और राष्ट्रीय एकता की लहर यूरोप में चली, वैसे ही लहर भारत में भी चली । अंग्रेजी के पठन-पाठन से इस लहर को बल मिला । अंग्रेजी भाषा के कारण भारत का अन्य देशों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने लगा ।

नवयुग के इन नये विचारों की लहर दो रूपों में चली । पहले शिक्षा के केन्द्र मदरसे व पाठशालाएँ हुआ करती थीं जिनका संचालन धार्मिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था । शुरू में अंग्रेज शासक भी इसी मन्तव्य के थे कि भारतीयों को अरबी, फारसी और संस्कृत की ही शिक्षा दी जाए, उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने की जरूरत नहीं । पहले आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में भी लैटिन और ग्रीक की शिक्षा को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था । इसीलिए वारेन हेस्टिंग्स ने सन् १७८१ में कलकत्ते में एक मदरसे की स्थापना की जिसमें अरबी, फारसी के उच्चतम अध्ययन की व्यवस्था थी । सन् १७८४ में सर विलियम जोन्स ने एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारत के प्राचीन ज्ञान का अनुशीलन था । काशी में सन् १७९२ में संस्कृत कालेज की स्थापना हुई जिसके प्रिंसिपल संस्कृतभक्त अंग्रेज बने ।

ईसाई मिशनरियों का विचार था कि भारत में ईसायित के प्रचार के लिए अंग्रेजी की शिक्षा बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है । इसीलिए उन्होंने अपने प्रभुत्व वाले बंगाल और मद्रास प्रान्त में ऐसे शिक्षणालय प्रारम्भ किए जहाँ अंग्रेजी के साथ इतिहास, भूगोल, गणित और भौतिक विज्ञानों की शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था थी । इसी समय पादरियों ने भारत की विभिन्न भाषाओं में वाइबिल का अनुवाद करवाना भी प्रारम्भ किया । इससे भारतीय भाषाओं के गद्य साहित्य के विकास में बहुत सहायता मिली । इन विद्यालयों की ओर अनेक विचारशील लोग भी आकृष्ट हुए । राजा राममोहन राय और उनके साथियों ने हिन्दू कालेज की स्थापना की, जो बाद में प्रेजिडेन्सी कालेज के नाम से विख्यात हुआ । अंग्रेजी शासन के विस्तार के साथ ऐसे शिक्षणालयों का भी विस्तार होता गया । इनमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही रखी गई । भारतीयों ने परायों से ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं किया । इसीलिए यदि इन शिक्षणालयों में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान सीखने का माध्यम भी अंग्रेजी के बजाय भारतीय भाषाओं

को रखा जाता तो, अधिक अच्छा होता। आखिर फ्रान्स, जर्मनी, सोवियत संघ और जापान आदि देशों ने बिना अंग्रेजी के भी ज्ञान-विज्ञान की दिशा में कम प्रगति नहीं की। परन्तु अंग्रेजी को माध्यम बनाने के पीछे अंग्रेजों का विशेष उद्देश्य भी था जो बाद में मैकाले के द्वारा स्पष्ट रूप से फलीभूत हुआ। वह था भारतीयों को मानसिक दृष्टि से गुलाम बनाना। अंग्रेजी की शिक्षा अंग्रेजों ने किसी भी उद्देश्य से प्रारम्भ की हो, पर उसका यह लाभ भी हुआ कि उस युग में यूरोप में, और स्वयं ब्रिटेन में भी, जिस बुद्धि-स्वातंत्र्य, मानवाधिकार, राष्ट्रीयता, लोक-सन्त्रवाद और सब के प्रति न्याय की भावना प्रतिपादित की जा रही थी, उन प्रगतिशील विचारों की ओर शिक्षित भारतीयों का भी रुझान होने लगा।

इसी नवीन शिक्षा ने अनेक देशभक्त भारतीयों का ध्यान अपने देश के प्राचीन लुप्त गौरव की ओर खींचा। परिणाम स्वरूप सरकार द्वारा अपने शिक्षणालयों में भी संस्कृत और प्राचीन भारतीय वाङ्मय के वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन की परम्परा चली। पहले केवल पुराने ढंग के पंडित ही संस्कृत के अध्ययन में प्रवृत्त होते थे, अब नवीन यूनिवर्सिटियों में उसके अध्ययन से नवशिक्षित भारतीयों में भी अपने प्राचीन साहित्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और वे भारतीय संस्कृति के उन आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने के लिए उद्यत हुए। उसी युग में यूरोप के अनेक देशों का संस्कृत से प्रथम परिचय हुआ तो यूरोप के लोग उसके साहित्य की गरिमा और सौन्दर्य से चमत्कृत हो उठे। तब तो जैसे वहां भी संस्कृत में निहित ज्ञान-विज्ञान को अधिक से अधिक मात्रा में ग्रहण करने की लालसा बढ़ गई। वे यह भी समझ गए कि भारतीय वैश्व अंग्रेजों के गुलाम बन गए, पर धर्म, संस्कृति, अध्यात्म, दर्शन तथा अन्य अनेक विषयों में वे आज भी संसार का नेतृत्व कर सकते हैं। इधर भारतवासी अंग्रेजी के माध्यम से मानसिक दासता के शिकार होते जाते थे, उधर विदेशों में उसके प्राचीन साहित्य की ओर, और वेदों की ओर, रुचि बढ़ती जाती थी।

इस नवयुग प्रवर्तन ने भारतीय भाषाओं के साहित्य के विकास में भी बहुत योग दिया। कागज और प्रेस के आविष्कार से पुस्तकें छापने में और उनका अधिक से अधिक प्रचार करने में सहायता मिली। नई-नई पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं सामने आने लगीं जिससे सर्व साधारण को भी अपने ज्ञान में वृद्धि करना सुगम हो गया। भारत के प्राचीन साहित्यकार प्रायः पद्य में ही रचना किया करते थे। गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के ग्रन्थ भी पद्यमय ही होते थे। छपाखाना आ जाने पर गद्य ग्रन्थों को लिखना और उनको प्रचारित करना सरल हो गया। भारतीय भाषाओं में गद्य लिखने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ चली। इस साहित्य ने नव जागरण में भी सहायता पहुंचाई। सर्व प्रथम बंगाल में ब्रिटिश शासन आने के कारण बंगला भाषा में ही न केवल अनेक अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद हुआ, बल्कि अनेक

मौलिक ग्रन्थ लिखे गए। बंगला भाषा में नई शली के काव्य, नाटक और उपन्यास भी लिखे जाने लगे। इन लेखकों में अधिकांश जहां अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता थे, वहां पाश्चात्य साहित्य से भी परिचित थे। इसी युग में बंकिमचन्द्र का 'आनन्द मठ' नामक उपन्यास लिखा गया जिसने बंगाल में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की भावना भर दी। उसमें निहित 'वन्दे मातरम्' गीत तो क्रांतिकारियों का गुरुमंत्र ही बन गया। कितने ही क्रांतिकारी 'वन्देमातरम्' का नारा लगाते हुए फांसी के फन्दे पर झूल गए। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसी प्रकार गद्य का विस्फोट हुआ। रेलों, सड़कों और नहरों के निर्माण ने तथा ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले स्कूलों-कालेजों ने, कल-कारखानों ने, पत्र-पत्रिकाओं ने और प्रगतिशील साहित्य की रचना ने भारत में उसी नवयुग का श्रीगणेश कर दिया जिस प्रकार का नवयुग यूरोप के देशों में अठारहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ था।

भारतीय इतिहास में एक बात विशेष ध्यान देने की है। वह यह कि आर्य (हिन्दू) धर्म को तीन प्रबल शक्तियों से लोहा लेना पड़ा और उसमें उसे सफलता मिली। सब से पहले बौद्ध धर्म से लोहा लिया, फिर इस्लाम से लोहा लिया, फिर ईसाइयत से लोहा लिया। इन तीनों मतों के पीछे राजशक्तियाँ थीं, उनके अनुयायियों में अपने धर्म के प्रचार के लिए धन-बल की भी कमी नहीं थी, पर इन तीनों से विजय पाने में आर्यों को सफलता मिली। अंग्रेजों के समय आर्य धर्म और आर्य संस्कृति पर जिस प्रच्छन्न और मनोवैज्ञानिक ढंग से आक्रमण प्रारम्भ हुआ, वह सब से जबर्दस्त था। ईसाई प्रचारकों को राजशक्ति के साथ, ज्ञान-विज्ञान और औद्योगिक क्रांति का बल भी प्राप्त था। इसके अतिरिक्त भारत में ईसाइयत के प्रचार में केवल ब्रिटेन की ही नहीं, प्रत्युत यूरोप के सभी देशों की रुचि थी, क्योंकि वे सभी ईसाई मतानुयायी थे। इसलिए इस आक्रमण की धार कहीं अधिक पतनी थी।

ऐसे समय आर्य धर्म और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए इस देश में अनेक सुधारक महापुरुष हुए, पर उनमें सब से विलक्षण और सब से मुख्य हैं—ऋषि दयानन्द। महर्षि दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी नहीं जानते थे, न ही उन्हें तथाकथित प्रगतिशील पाश्चात्य साहित्य को पढ़ने का अवसर मिला था। वे संस्कृत के पंडित थे और वेदादि शास्त्रों का गहन अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचे थे कि उनके समय का हिन्दू समाज सत्य सनातन वैदिक धर्म से भटक चुका है। उन्होंने यह भी कहा कि पाश्चात्य जगत् ने ज्ञान विज्ञान में जो उन्नति की है, उससे कहीं अधिक उन्नति प्राचीन आर्य कर चुके थे। भारत कभी संसार का शिरोमणि था। उसे शिरोमणि बनना है। इसी भावना को लेकर विदेशी संस्कृति और विधर्मियों के सभी प्रकार के आक्रमणों को विफल करते हुए भारत को पुनः वेद मार्ग पर

प्रतिष्ठित कर प्राचीन गौरवपूर्ण पद तक पहुँचाने के लिए प्रबल आंदोलन के रूप में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। इस नये आंदोलन ने आर्य जाति में नये प्राणों का संचार किया और आर्य धर्म पर सभी प्रकार के आक्रमणों का सामना करने में उसे समर्थ बनाया। इस वक्तव्य के साथ पाँचवाँ अध्याय समाप्त होता है।

छठा अध्याय

छठे अध्याय में, ऋषि दयानन्द के कार्य क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दशा कैसी थी, यह बताया गया है। क्योंकि उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में भारत की उन परिस्थितियों को बिना समझे ऋषि दयानन्द के कर्तव्य का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध के बाद भारत में अंग्रेजी राज का सूत्रपात हुआ। यह भी सही है कि इसके बाद प्रायः हर दस वर्ष बाद अंग्रेजी शासन के विरुद्ध कोई न कोई जबर्दस्त आंदोलन चलता रहा। पर चमत्कार की बात यह है कि उन आंदोलनों के बावजूद एक सदी से भी कम समय में अंग्रेजों ने समस्त भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इससे पूर्व कभी किसी अन्य विदेशी आक्रमणकारी ने भारत के इतने बड़े भूभाग पर अपनी विजय पताका फहराई हो, इतिहास में इसका प्रमाण नहीं मिलता। यह पहला अवसर था जब भारत की राजशक्ति व क्षात्रबल पूर्णतः पराजित हो गए थे। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और सिन्ध-बिलोचिस्तान से लेकर असम तक सर्वत्र अंग्रेजों का अखण्ड शासन था, और भारत के समस्त राजकुल, राजनेता तथा विचारशील व्यक्ति अपने देश की इस दुर्दशा से स्तब्ध और किर्तव्यविमूढ़ थे। देश में पहली बार ऐसा शासन स्थापित हुआ था जो पूर्णतः विदेशी था और जिसका प्रयोजन इस देश का शोषण करना था। यह राजनीतिक दुर्दशा की पराकाष्ठा थी।

मुगलों के शासनकाल में भी ग्रामों की स्वायत्तता और ग्राम पंचायतें अक्षुण्ण थीं, परन्तु अंग्रेजों ने उन्हें समाप्त कर दिया। मालगुजारी वसूल करने का काम उन व्यक्तियों को सौंपा गया जो अधिक से अधिक मालगुजारी वसूल कर सकें। इसके लिए नीलामी की प्रथा जारी की गई। जो सब से ऊँची बोली बोलता, उसी को यह अधिकार दे दिया जाता। इस तरह जागीरदारों की एक नई श्रेणी का विकास हुआ और ग्राम पंचायतें क्षीण हो गईं। वंशक्रमानुगत एकतंत्र राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन में भी ग्रामों की स्वायत्तता नष्ट नहीं हुई थी। पर अब एक ऐसा विदेशी शासन स्थापित हुआ जो सर्वथा निरंकुश था। इस निरंकुश शासन के विरुद्ध आन्दोलन भी हुए, पर वे सफल नहीं हो सके। इन आन्दोलनों में सब से जबर्दस्त आन्दोलन सन् १८५७ में हुआ। उस समय ऋषि दयानन्द की आयु ३३

वर्ष की थी। इसलिए ऐसा नहीं लगता कि इतनी बड़ी राज्यक्रान्ति से वे अप्रभावित रहे हों और उन्होंने उसमें कोई सक्रिय भाग न लिया हो। पर ऋषि ने स्वयं अपनी आंखों के सामने उस राज्यक्रान्ति को विफल होते तो देखा ही। उन्होंने यह भी देखा कि विभिन्न राजकुलों के राजा हिन्दू होते हुए भी परस्पर एकता अनुभव नहीं करते। अवध, बंगाल और हैदराबाद के नवाबों ने मुस्लिम होते हुए भी उस राज्यक्रान्ति में सहयोग नहीं दिया। कुछ राजाओं ने तो अंग्रेजों का ही साथ दिया। अर्थात् देश में एक राष्ट्र की भावना का अभाव था और उसके लिए ऐक्यबद्ध होकर संघर्ष करने करने की भावना विकसित नहीं हुई थी।

सतरहवीं सदी में भारत आर्थिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों से पीछे नहीं था। पर अंग्रेजों ने किसानों और मजदूरों का शोषण करके उन्हें विपन्न बना दिया। ग्रामीण उद्योग धन्धे समाप्त कर दिए। कल-कारखाने खोलकर लोगों को बेकार कर दिया। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति होने पर भी अंग्रेजों ने इस देश में नये-नये उद्योगों का विस्तार नहीं होने दिया। बढ़िया कपड़ा तैयार करने वाले जुलाहों के अंगूठे कटवा दिये और यहां के वस्त्र-उद्योग को समाप्त कर मानचेस्टर और लंकाशायर की कपड़ा मिलों में बना कपड़ा यहां बेचना प्रारम्भ किया। यहाँ से कच्चा माल कौड़ियों के दाम ले जाकर उससे फिनिश माल तैयार कर खुद महंगे दामों पर यहां बेचते। भारत से आयात किए जाने वाले माल पर ६० से ८० प्रतिशत तक कर लगा दिया और ब्रिटिश माल के निर्यात को खुली छूट दी कुछ प्रकार के वस्त्रों पर तो आयात कर में १००० प्रतिशत तक वृद्धि कर दी गई। आयात-निर्यात की इस भेदभावपूर्ण नीति से भारत का आर्थिक असन्तुलन बढ़ता गया और उसे ठीक करने के लिए भारत की बहुमूल्य सम्पत्ति बड़ी मात्रा में ब्रिटेन भेजी जाती रही।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत के विविध राज्यों को विजय करने और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में जो कुछ भी खर्च करना पड़ा, वह सब भारत पर लाद दिया गया। अफगानिस्तान, बर्मा, चीन, ईरान, मिश्र आदि देशों पर ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना के लिए भारतीय सेनाओं का प्रयोग किया गया और उन पर जो जो खर्च हुआ, वह सब भारत के खाते में लिखा गया। इस प्रकार भारत पर ऋण की राशि बढ़ती रही और उसे 'राष्ट्रीय ऋण' कहा गया। यह खर्च किया अंग्रेजों ने, अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा पूरी करने के लिए, उसका दण्ड भुगता भारत ने। भारत में जो अंग्रेज अफसर थे उनके वेतन, पेंशन आदि सब भारत से ही वसूल किए जाते। नमक पर ३०० प्रतिशत कर लगाया गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक उपयोग में आने वाली यह चीज बहुत महंगी हो गई। उस समय ब्रिटेन में नमक का मूल्य ३० शिलिंग प्रति टन था, जबकि भारत में २१

पीण्ड प्रति टन। इंग्लैण्ड की तुलना में भारत में उत्पन्न नमक भारत में ही १४ गुना महंगा कर दिया गया और इंग्लैण्ड से नमक लाकर यहाँ बेचा जाने लगा। इस व्यापार का सारा मुनाफा अंग्रेज व्यापारियों को प्राप्त होता था। इसी घांघली को देखकर महात्मा गांधी ने इस कानून को तोड़ने के लिए नमक सत्याग्रह प्रारम्भ किया था। परन्तु महात्मा गांधी से भी ५० साल पहले ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण में नमक कर हटाने का आग्रह किया था। पटसन, नील और चाय की खेती पर अंग्रेज व्यापारियों का एकाधिकार था ही।

उसी काल में, जिन गरीब खेतिहर मजदूरों और निचले तबके के लोगों ने सन् १८५७ में विद्रोहियों का साथ दिया था, उनको प्रयत्नपूर्वक बेकार और बेरोजगार बना दिया गया। फिर उन्हें गिरमिटिया कुली बनाकर बड़ी संख्या में फीजी, मारीशस, त्रिनीदाद, गुयाना, जमैका, सुरिनाम आदि ब्रिटिश उपनिवेशों में ले जाया गया और वहाँ उनसे बंधुआ मजदूरों की तरह काम लिया गया। इन सब उपनिवेशों में गोरों के विशाल खेत थे और उन पर उनका एकाधिकार था। इन मजदूरों को ५ साल के बाद वापस स्वदेश भेजने के समझौते पर हस्ताक्षर करवा के ले जाया गया, पर वे ५ साल कभी पूरे नहीं हुए। इन मजदूरों पर जैसे अत्याचार किए गए उसकी कथा बड़ी कारुणिक है।

ऋषि दयानन्द के कार्यक्षेत्र में आने से पूर्व इस देश की जो धार्मिक और सामाजिक दशा थी, उसका उल्लेख प्रायः लेखों और मंचों पर होता रहता है। उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।

सातवाँ अध्याय

इसके बाद सातवें अध्याय में उन धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा है जो सुधार की दृष्टि से उस युग में चलाए गए। इन आन्दोलनों में ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, पारसी और मुस्लिम सुधार आन्दोलन तथा धियोमोफी मुख्य हैं। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द भी उसी युग की देन हैं। इन सभी आन्दोलनों की गुण-दोषात्मक आलोचना करने के बाद इस अध्याय में यह भी बताया गया है कि किन कमियों के कारण ये आन्दोलन जनता पर अपनी पकड़ खोते गए और आर्यसमाज का आन्दोलन लोकप्रियता प्राप्त करता गया। आर्यसमाज की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उसने शुरू से ही अपने दो आधार बनाए—(१) वेद, और (२) राष्ट्र। यही आर्यसमाज की दो भुजाएँ हैं। अन्य सुधार आन्दोलन न तो वेद को आधारशिला बना पाये, न राष्ट्र को। इसलिए उन्हें विधर्मियों के सामने निरुत्तर होना पड़ता था। राष्ट्र को आधार बनाए बिना वे विदेशी शासन के प्रति

जनता का उचित आक्रोश भी नहीं जगा सके। ब्राह्मसमाज आर्यसमाज से ५० वर्ष पहले प्रचलित हुआ, उसने देश बुद्धिजीवियों को प्रभावित भी किया, पर सन् १८३० से १९०१ तक के ७० वर्षों में उसके अनुयायियों की संख्या केवल ४०५० थी, जबकि सन १८७५ से १९०१ तक के केवल २५ वर्षों में आर्यसमाजियों की संख्या ६,६०,२३३ तक पहुँच गई थी (भारत सरकार की जनगणना रिपोर्ट १९३१, भाग २, पृष्ठ ५१५)।

उस समय तक ईसाई या मुसलमान तो हिन्दुओं के धर्म की आलोचना करते रहते थे और उनके अवतारों की खिल्ली उड़ाते रहते थे, पर उनका जवाब देने का कोई साहस नहीं करता था। सबसे पहले आर्यसमाज ने ही इन विधर्मियों के आक्षेपों का न केवल उत्तर दिया, प्रत्युत उनके धर्मग्रन्थों की तर्क-विरुद्ध तथा सृष्टि नियम विरुद्ध बातों का सप्रमाण खण्डन किया। इस से जहाँ ईसाइयों और मुसलमानों का मनोबल शिथिल पड़ा, वहाँ हिन्दुओं को अपने धर्म पर गर्व की अनुभूति हुई। प्रसिद्ध राष्ट्रीय राजनेता श्री विपिन चन्द्रपाल ने आर्यसमाज के इस रोल की प्रशंसा करते हुए लिखा था—“पहले हिन्दू ईसाई और मुस्लिम धर्म प्रचारकों द्वारा किए जाने वाले हमलों में अपने को बिल्कुल असहाय अनुभव करते थे। अब वे उठ कर उनका मुकाबला करने लगे।”

अष्टम अध्याय

आठवें अध्याय में महर्षि दयानन्द की जीवनी के सम्बन्ध में उपलब्ध साहित्य के विवेचन के पश्चात् उनके बाल्यकाल, प्रचारकार्य और नव-जागरण के आन्दोलनों से सम्पर्क का उल्लेख है और ऋषि के द्वारा संस्थापित पाठशालाओं का वर्णन है। इतिहास ग्रन्थ के लिए आवश्यक होने पर भी यहाँ उसकी चर्चा करना अनावश्यक है।

प्रथम खण्ड के पृष्ठ २०६ पर ऋषि द्वारा सन् १८६६ के जुलाई मास में छपाए गए एक संस्कृत के विज्ञापन का हवाला है जिसमें आठ गण्णों और आठ सत्त्यों का वर्णन है। इससे पता लगता है कि आर्यसमाज की स्थापना से भी पहले वे किन बातों का प्रचार करते थे। उन गण्णों का त्याग ही श्रेयस्कर है। वे आठ गण्णें ये हैं—ब्रह्मवैवर्त आदि सब पुराण, मूर्तिपूजा, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सब सम्प्रदाय, वाम मार्ग, भांग आदि मादक द्रव्यों का सेवन, परस्त्रीगमन, चोरी, कपट, छद्म, अभिमान और असत्य भाषण। इन्हीं आठ बातों का वे अपने व्याख्यानों में खण्डन किया करते थे। इसी प्रकार जिन आठ सत्त्यों का वे प्रतिपादन किया करते थे, वे इस प्रकार हैं—(१) परमेश्वर तथा ऋषियों द्वारा प्रदत्त ऋग्वेद आदि इक्कीस शास्त्र, (२) ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन, गुरु सेवा, वेदाध्ययन और

स्वधर्मानुष्ठान, (३) वेद प्रतिपादित वर्णाश्रम का पालन, सन्ध्या अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान, (४) गृहस्थाश्रम में धर्मानुकूल विवाह, पंच यज्ञों का अनुष्ठान, ऋतु-काल में पत्नी समागम, श्रुति-स्मृति द्वारा प्रतिपादित आचार का अनुष्ठान, (५) वानप्रस्थ आश्रम में शम, दम तपश्चरण, यम-नियमों का सेवन, उपासना व सत्संग करते हुए वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का पालन, (६) विचार, विवेक, वैराग्य और पराविद्या का अभ्यास कर संन्यास का ग्रहण, (७) जन्म, मरण, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, संगदोष आदि का ज्ञान-विज्ञान द्वारा परित्याग, (८) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि क्लेशों से निवृत्ति और उस मोक्षस्वरूप स्वराज्य की प्राप्ति, जो पंच महाभूतों से अतीत है, अर्थात् जिससे भौतिक सत्ताओं का कोई सम्पर्क नहीं है, जो सर्वांश में आत्मरूप है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस विज्ञापन का महत्त्व है, क्योंकि इससे पहले कहीं इसका उल्लेख नहीं हुआ। ऊपर आठ सत्यों में जिन २१ ग्रन्थों का संकेत है विज्ञापन में उनका भी वर्णन है। स्वामी जी उन्हें सन् १८६६ तक प्रमाण मानते थे, पर बाद में और अधिक मनन-चिन्तन के बाद उन्होंने केवल चारों वेदों को ही स्वतः प्रमाण माना, अन्य ग्रन्थों को नहीं।

उसके बाद फर्रुखाबाद, कासगंज, मिर्जापुर और जलेश्वर में स्वामी जी द्वारा स्थापित पाठशालाओं का वर्णन है। ये पाठशालाएँ वेदज्ञ विद्वान् तैयार करने के उद्देश्य से खोली गई थीं, परन्तु योग्य अध्यापकों के न मिलने से पाठशालाएँ ५-७ साल से अधिक नहीं चल पाईं।

नवम अध्याय

दिसम्बर १८७२ में ऋषि कलकत्ता गए। वहाँ लगभग चार मास तक रह कर उन्होंने उस समय के बंगाल के बुद्धिजीवियों से और विशेष रूप से ब्राह्मसमाज के नेताओं से सम्पर्क किया। इस काल में वे मुख्यरूप से कलकत्ता, वर्धमान और हुगली में रहे। उनके जीवन में तथा आर्यसमाज की स्थापना में इस कलकत्ता प्रवास का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उस समय भारत में जो नया युग करवट ले रहा था, उसके प्रमुख सूत्रधार बंगाल के ही बुद्धिजीवी थे। बंगाल के अंग्रेजी शिक्षित सुधारवादी लोगों पर ब्राह्मसमाज का बहुत प्रभाव था। काशी के शास्त्रार्थ के कारण बंगाल के पंडितों तक भी ऋषि दयानन्द की ख्याति पहुँच चुकी थी। कलकत्ता के सुशिक्षित व्यक्ति उनके दर्शन करने को लालायित थे। उस समय के प्रसिद्ध अंग्रेजी अखबार 'इण्डियन मिरर' में ऋषि के कलकत्ता आगमन का विस्तृत समाचार छपा। उसके बाद ऋषि ने संस्कृत, हिन्दी, बंगला और अंग्रेजी में एक विज्ञापन भी निकाला जिसमें जिज्ञासुओं को धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श के लिए

आमंत्रित किया गया था। इससे उनके दर्शनार्थियों में वे सभी प्रकार के लोग आने लगे जो संस्कृत और शास्त्रों के पण्डित थे, सुधारवादी थे और सम्भ्रान्त वर्ग के लोग थे। ब्राह्मसमाज के अनेक प्रचारक और नेता भी उनसे मिलने आते रहे। चर्चा का मुख्य विषय वर्णव्यवस्था और मूर्तिपूजा हुआ करता था। कुछ विद्वान् तो स्वामी जी की विद्या और पाण्डित्य से बहुत प्रभावित हुए। हेमचन्द्र चक्रवर्ती जैसे विद्वान् तो स्वामी जी के साथ ही रहने लगे और स्वामी जी जिज्ञासुओं से जो वार्तालाप करते, उसे वे अपनी डायरी में नोट कर लेते।

तब तक ब्राह्म समाज में भी मतभेद प्रारम्भ हो गए थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर—रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता, वेदों में आस्था रखते थे, पर कुछ ब्राह्म-समाजी नेता वेदों की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट करते और पाश्चात्य विचारों के आधार पर ही सुधार के पक्ष में थे। केशवचन्द्र सेन के ब्राह्मसमाज में सम्मिलित होने से उसे बहुत बल मिला, पर देवेन्द्रनाथ ठाकुर के साथ उनके मतभेद बढ़ जाने से ब्राह्मसमाज भी दो भागों में बंट गया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने आदि ब्राह्म-समाज बनाया। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्मसमाजी हिन्दू समाज से दूरतर होते चले गए और धीरे-धीरे वे पाश्चात्य विचारों के साथ-साथ ईसाइयत की ओर झुकने लगे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर और उनके साधियों के विचार ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों से बहुत मिलते थे। उन्होंने अपने निवास स्थान पर हुए माघोत्सव में ऋषि दयानन्द को व्याख्यान देने के लिए भी बुलाया था।

कलकत्ता प्रवास का एक उल्लेखनीय पहलू यह भी है कि तब तक ऋषि दयानन्द सरल संस्कृत में ही भाषण दिया करते थे, और केवल कौपीन धारण कर अवधूत वेश में रहते थे। श्री केशवचन्द्र सेन के परामर्श से ऋषि दयानन्द ने भविष्य में हिन्दी में भाषण देने और वस्त्र पहनने का निश्चय किया। यह उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन था। ब्राह्मसमाज के नेताओं और उनकी कार्य पद्धति को उन्होंने निकट से देखा। सम्भवतः आर्यसमाज की स्थापना का विचार भी उनके मन में उसी समय आया। आर्यसमाज ने बाद में जिस प्रकार जन-आन्दोलन का रूप ग्रहण किया उसका सूत्रपात भी कलकत्ता में ही हुआ। स्वामी जी की इस बंगाल यात्रा को उस समय के बंगाली समाचार-पत्रों ने 'दिनिजय' की संज्ञा दी। इस कलकत्ता प्रवास का परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दी में भाषण देने के कारण ऋषि की पहुँच ग्राम जनता तक हो गई। उनकी प्रचार-पद्धति में भी परिवर्तन हो हो गया। वे भाषण के अलावा पुस्तक प्रकाशन की ओर भी प्रवृत्त हुए। काशी में एक आर्य विद्यालय खोला। छहों दर्शन, दस उपनिषद्, मनुस्मृति, गृह्यसूत्र, चारों वेद चारों उपवेद और कल्प ग्रन्थों के पठन-पाठन की व्यवस्था की। इस विद्यालय में शूद्रों को भी प्रविष्ट किया गया। यह उस युग में क्रान्तिकारी कदम

था, पर यह विद्यालय भी योग्य अध्यापकों के अभाव में अधिक समय नहीं चल पाया। ऋषि ने 'आर्यप्रकाश' नामक एक मासिक पत्र प्रकाशित करने की भी योजना बनाई। अपने मन्तव्यों के प्रचार के लिए पुस्तक और पत्रिका प्रकाशन का महत्त्व उन्होंने अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया।

सन् १८७४ के अवतूबर मास में ऋषि दयानन्द बम्बई गए। नासिक में पौराणिक पण्डितों से उनका शास्त्रार्थ भी हुआ। बम्बई में उनके प्रचार से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने मूर्तिपूजा छोड़ दी। यहां भी वे प्रार्थना समाज के अनेक नेताओं के सम्पर्क में आए, पर इन नेताओं को हिन्दू धर्म में सुधार की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। वे केवल सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के पक्षपाती थे। प्रार्थना समाज के नेताओं में जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ऋषि के विशेष प्रशंसक बने। जब ऋषि ने बम्बई में वल्लभाचार्य के मत का खण्डन प्रारम्भ किया तो तहलका सा मच गया, क्योंकि अनेक प्रतिष्ठित लोग इस मत के अनुयायी थे। इन प्रतिष्ठित लोगों में से कइयों ने ऋषि के तर्कों और पाण्डित्य से प्रभावित होकर एक 'वेद धर्म सभा' स्थापित की। कलकत्ता की तरह यहां भी चार भाषाओं में विज्ञापन छपवाकर ऋषि ने जिज्ञासुओं को शंका समाधान के लिए आमंत्रित किया। इसके प्रकाशित होते ही शहर में धूम मच गई। पर वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी उनके विरोधी भी हो गए और उनके विरुद्ध मिथ्या अपवाद फैलाने लगे। वे उन्हें प्रच्छन्न ईसाई और १८५७ की राज्य क्रान्ति के नेता नाना साहित्य का साथी कहने लगे। इससे यह ध्वनि निकलती है कि उस समय भी लोगों को ऋषि दयानन्द के सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति में शामिल होने की भनक थी।

इसके बाद सन् १८७५ के प्रारम्भ में वे जब अहमदाबाद गए, तभी उन्होंने आर्यसमाज के नाम से एक नया संगठन बनाने का विचार प्रकट किया, पर अहमदाबाद में उन्हें परिस्थिति अधिक अनुकूल प्रतीत नहीं हुई। तब राजकोट में उन्होंने अपने विचार को कार्यान्वित किया। उससे दो साल पहले वहाँ प्रार्थना समाज की स्थापना हो चुकी थी। स्वामी जी ने प्रस्ताव किया कि प्रार्थना समाज को ही आर्यसमाज में रूपान्तरित कर दिया जाए। प्रार्थना समाज के सब सदस्य इस प्रस्ताव से सहमत हो गए। इस प्रकार प्रथम आर्यसमाज की स्थापना राजकोट में हो गई। उसके तीस सदस्य बने, प्रधान और मन्त्री भी निर्वाचित हो गए। आर्यसमाज के नियम भी बने, और वे छप भी गए, पर छह मास होने से पूर्व ही इस आर्यसमाज का अन्त हो गया। इस विफलता का कारण यह रहा—उस समय अंग्रेजों द्वारा बड़ीदा नरेश को सिंहासनच्युत करने के विरुद्ध गुजरात में प्रबल आन्दोलन चल रहा था। गट्टू लाल नामक एक संस्कृत कवि ने आर्यसमाज के अधिवेशन में अपने श्लोकों में ब्रिटिश सरकार के रवैये पर टिप्पणी कर दी।

अखबारों में उसका विवरण छपने पर काठियावाड़ का पोलिटिकल एजेण्ट नाराज हो गया। उस समय आर्यसमाज के अनेक सदस्य और अधिकारी सरकारी सर्विस में थे। पोलिटिकल एजेण्ट ने एक सरकारी वकील का वकालत करने का अधिकार छीन लिया। इससे आर्यसमाज के अन्य सब अधिकारी भी भयभीत हो गए और उन्होंने आर्यसमाज से सम्बन्ध तोड़ लिया।

उसके बाद जब स्वामी जी दुवारा बम्बई आए, तब गिरगांव में १७ फरवरी, १८७५ को एक सभा बुलाई गई जिसमें अनेक प्रतिष्ठित लोग शामिल हुए। उसमें राजकृष्ण महाराज नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने यह सुझाव रखा कि आर्यसमाज के नियमों में जीव और ब्रह्म को एकता का सिद्धान्त शामिल कर लिया जाए तो इसके कारण अनेक बुद्धिजीवी आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हो जाएंगे। पर स्वामी जी इस असत्य सिद्धान्त पर आर्यसमाज की नींव रखने को तैयार नहीं हुए। इस कारण राजकृष्ण महाराज नाराज हो गए और स्वामी जी के विरुद्ध अनर्गल प्रचार करने लगे। उसके बाद स्वामी जी के भक्तों ने १० अप्रैल १८७५ को (चैत्र शुक्ला ५, शनिवार, संवत् १९३२ को) सभा बुलाई और उसी दिन आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना हो गई। उस दिन स्वामी जी ने आर्यसमाज रूपी जिस पीछे का आरोपण किया था, वह बाद में एक सदी से भी कम समय में एक विशाल वट-वृक्ष का रूप धारण कर गया और उसकी हजारों शाखा-प्रशाखाएं संसार भर में फैल गईं।

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के साथ जो २८ नियम बनाए गए थे वे इसी अध्याय के परिशिष्ट (१) में दिए गए हैं। परिशिष्ट (२) में उन सौ व्यक्तियों की सूची है जो आर्यसमाज की स्थापना के समय उसके सदस्य बने थे। परिशिष्ट (३) में आर्यसमाज की स्थापना तिथि सम्बन्धी विवाद का विश्लेषण है। ये २८ नियम सब आर्यसमाजों में दो वर्ष तक मान्य रहे। पर बाद में सन् १८७७ में १० नियम बनाए गए जो वर्तमान समय में भी प्रचलित हैं। बम्बई में निमित्त २८ नियमों की विशेषता यह है कि वे लोकतन्त्र पर आधारित हैं और ऋषि द्वारा किसी भी प्रकार के गुरुडम के विचार के विरुद्ध हैं। वे आर्यसमाज को एक सम्प्रदाय नहीं बनने देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना हो जाने पर हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के आग्रह पर उन्होंने अपनी फोटो लेने की अनुमति तो दे दी, पर साथ ही यह आदेश भी दे दिया कि मेरी फोटो आर्यसमाज मन्दिर में न लगाई जाए।

दशम और एकादश अध्याय

इन दोनों अध्यायों में उत्तर प्रदेश और पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना

का और पंजाब में उसकी सर्वाधिक सफलता का विस्तार से उल्लेख है। फिर भी इन दोनों अध्यायों में वर्णित एक-दो विशेष प्रसंगों का उल्लेख आवश्यक है।

दसवें अध्याय में ही सन् १८७७ में दिल्ली दरबार में स्वामी जी के कर्तृत्व का उल्लेख है। वे दिल्ली में शेरमल के अनारवाग में ठहरे थे जो अजमेरी गेट के दक्षिण-पश्चिम में कुतुब रोड पर स्थित था। इस अवसर पर स्वामी जी ने एक विज्ञापन वंटवा कर आग्रह किया था कि राजा-महाराजा और पण्डित लोग एक सभा में मिलकर शास्त्र-चर्चा द्वारा सत्य धर्म का निर्णय करें और फिर सारे देश में उसका प्रचार करें जिससे धर्म के नाम पर आपसी मतभेद मिट सके। स्वामी विरजानन्द ने भी सन् १८६१ में इस प्रकार की एक सभा बुलाई थी। महाराजा जयसिंह ने इस प्रकार की एक सभा का सब खर्च उठाने का दायित्व लिया, परन्तु केवल इन्दौर नरेश स्वामी जी से मिले। महाराजा कश्मीर भी मिलने के इच्छुक थे, पर पौराणिक पंडितों ने उन्हें नहीं मिलने दिया। राजा महाराजाओं को स्वामी जी इसलिए सम्मिलित करना चाहते थे कि यदि उनके मन में देशोन्नति और स्वतन्त्रता की भावना पैदा हो जाए तो वे अपनी प्रजा को भी उस दिशा में प्रेरित कर सकते हैं। सर्व-साधारण पर पण्डितों का प्रभाव था ही, इसलिए उनके अन्दर भी वह भावना भरना आवश्यक था। स्वामी जी के निमंत्रण को स्वीकार कर निम्न व्यक्ति उनके डेरे पर उपस्थित हुए—बाबू केशवचन्द्र सेन (ब्राह्म समाज, कलकत्ता), बाबू नवीनचन्द्र राय (ब्राह्म समाज, लाहौर), श्री सैयद अहमद खां (अलीगढ़), मुंशी अलखधारी (पंजाब), बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि (आर्यसमाज बम्बई), मुंशी इन्द्रमणि (मुरादाबाद) और स्वयं स्वामी जी। विभिन्न धार्मिक नेताओं का यह सम्मेलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। स्वामी जी ने सब से कहा कि हम पृथक्-पृथक् धर्मोपदेश न करके एकता के साथ करें तो अधिक फल होगा। स्वामी जी चाहते थे कि सब लोग वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार कर लें और तदनुसार सुधार-कार्य में प्रवृत्त हों। यह बड़ा व्यावहारिक आपसी मतभेद मिटाने वाला सुझाव था। इसके पीछे यह भावना भी थी कि वेद सबसे प्राचीन हैं इसलिए उनको मूलधार स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर सर सैयद और ब्राह्म समाज के नेता वेदों की प्रामाणिकता मानने को तैयार नहीं हुए। इस लिए देश की धार्मिक एकता का यह दुर्लभ प्रयास विफल हो गया।

तब स्वामी जी ने वेदों की महत्ता प्रकट करने के लिए वेदभाष्य की ओर ध्यान दिया। सब से पहले उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' लिखी। अपने वेदभाष्य का नमूना उन्होंने सब पण्डितों के पास भेजा। उनका वेदभाष्य उस समय तक प्रचलित सायण, महीधर और उव्वट आदि भाष्यकारों के सर्वथा विपरीत था। वे वेद के शब्दों को 'योगिक' मानते थे। जिन अंग्रेजों ने वेदभाष्य किया उसके पीछे

उनका मंशा ईसाई पादरियों को ईसाइयत के प्रचार में सहायता करना और वेदों का ऐसा अर्थ सुशिक्षित जन समुदाय के समक्ष रखना था कि उनकी वेदों के प्रति आस्था समाप्त हो जाए। उनकी दृष्टि में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ करने के लिए यह बहुत आवश्यक था।

स्वामी जी के वेदभाष्य से विद्वानों में खलवली मचना स्वामाधिक था— भारतीय विद्वानों में भी और पाश्चात्य विद्वानों में भी। आश्चर्य की बात है कि बाद में सन् १८८५ में कांग्रेस को जन्म देने वाले सर ए० ओ० ह्यूम ने भी इस वेदभाष्य के विरुद्ध 'थियोसोफिस्ट' में एक लेख लिखा जिसमें स्वामी जी के अर्थ के निश्चिन्त होने में शंका प्रकट की और कहा कि भ्रान्ति-रहित तो केवल परमात्मा ही हो सकता है, और स्वामी जी क्योंकि परमात्मा नहीं हैं, इसलिए वे भ्रान्तिरहित नहीं हो सकते। इसके उत्तर में स्वामी जी ने लिखा कि मैं ईश्वर नहीं, किन्तु ईश्वर का उपासक हूँ और निःस्वार्थ भाव से सब मनुष्यों के कल्याण के लिए वेद का अर्थ प्रकाशित करता हूँ। यदि किसी मंत्र के अर्थ में आपको भ्रान्ति प्रतीत हो तो मैं उसका समाधान करने को तैयार हूँ।

वेदभाष्य के सिलसिले में इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि स्वामी जी ने लाहौर में रहते हुए आर्यसमाज के अधिकारियों की मार्फत यह प्रयत्न भी किया कि पंजाब सरकार से उसके लिए अनुदान मिल जाए और कालिजों में संस्कृत के पाठ्यक्रम में अन्य भाष्यों के साथ यह भाष्य भी पढ़ाया जाए। इसके लिए स्वामी जी अनेक सरकारी अधिकारियों से मिले। लेफ्टिनेंट गवर्नर से भी मेट की और अपने वेदभाष्य का एक नमूना भी उन्हें दिया, परन्तु बनारस संस्कृत कालिज के प्रिंसिपल थार० ग्रिफिथ और कलकत्ता प्रेजिडेंसी कालिज के प्रिंसिपल सी० एच० टोनी के विरोध के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली। पाश्चात्य विद्वानों ने स्वामी जी के भाष्य पर जो आक्षेप किये उनका भी उन्होंने विस्तृत और युक्तियुक्त उत्तर दिया, पर सरकार ने किसी भी प्रकार की सहायता देने से इन्कार कर दिया। पंजाब में वैदिक धर्म का प्रचार करने में स्वामी जी को सब से अधिक पौराणिक पंडितों के विरोध का ही सामना करना पड़ा। फिर भी अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण पंजाब में ही स्वामी जी को सब से अधिक सफलता मिली। इसी समय लाहौर में आर्यसमाज के नये नियम और उपनियम बने जो आज तक सर्वमान्य हैं।

एषादश और द्वादश अध्याय

ग्याहरवें अध्याय में जहां उत्तर प्रदेश और राजस्थान में आर्यसमाजों की स्थापना का विवरण है, वहां आगरा में 'गोकर्णानिधि' लिखने और गोरक्षा के लिए हस्ताक्षर अभियान चलाने की चर्चा है। स्वामी जी चाहते थे कि दो करोड़

लोगों के हस्ताक्षर कराके वायसराय को भेजे जाएं और उनसे गोहत्या बन्द करने की अपील की जाए। उत्तर प्रदेश के बाद उन्होंने राजस्थान की ओर प्रयाण किया, अनेक रियासतों के राजाओं से सम्पर्क किया और उनमें स्वातन्त्र्य चेतना जगाने का प्रयत्न किया। उदयपुर में उन्होंने अपना वसोयतनामा भी पंजीकृत कराया और परोपकारिणी सभा की भी स्थापना की और उसी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। राजस्थान में प्रचार करते करते ही जोधपुर में उन्हें विष दिया गया और अजमेर में सन् १८८३ में अक्तूबर मास में दीपावली के अवसर पर उनका देहावसान हो गया।

इसी अध्याय में स्वामी जी के कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थों का और उनके लिए स्वामी जी द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लेख है।

वारहवें अध्याय में स्वामी जी के थियोसोफिकल सोसायटी के नेताओं से सम्बन्ध का उल्लेख है जिसमें कर्नल अल्काट और मैडम ब्लेवेट्स्की के छद्म का पर्दाफाश होने पर उनके साथ स्वामी जी को किस प्रकार सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा, इसका विस्तृत वर्णन है।

त्रयोदश से सप्तदश अध्याय तक

तेरहवें अध्याय में ऋषि की धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख है। इस विषय पर इसी ग्रन्थ में एक अन्य लेख दिया जा रहा है, इसलिए यहाँ उसे दुहराना अनावश्यक है। चौदहवें अध्याय में स्वामी जी की राजनैतिक मान्यताओं का वर्णन है जिसमें उनकी दृष्टि में स्वराज्य के स्वरूप, चक्रवर्ती राज्य के आदर्श, शासन, कानून और न्याय व्यवस्था संबंधी मान्यताओं का वर्णन है, जो राजनीति में रुचि रखने वाले प्रत्येक भारतीय के लिए पठनीय और मननीय हैं। पन्द्रहवें अध्याय में सामाजिक संगठन और आर्थिक व्यवस्था, समानता पर आधारित समाज व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति और भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद समन्वय के संबंध में स्वामी जी के प्रगतिशील विचारों का विशद उल्लेख है। सोलहवें अध्याय में शिक्षा प्रणाली और पठन-पाठन विधि के संबंध में और भौतिक विज्ञान के संबंध में स्वामी जी के विचार हैं। सत्तरहवें अध्याय में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह, नियोग, विदेशयात्रा और भक्ष्य-अभक्ष्य संबंधी कुरीतियों के निवारण के संबंध में स्वामी जी के विचार हैं।

अष्टादश अध्याय

गठारहवें अध्याय में उस युग में स्वामी जी के सम्पर्क में आए उनके सहयोगी व्यक्तियों का संक्षिप्त जीवन परिचय है। जिनमें प्रमुख हैं—श्याम जी कृष्ण वर्मा, गोपाल राव हरि देशमुख, महादेव गोविन्द रानाडे, महात्मा ज्योतिबा फुले, केशवचंद्र

सेन, रमाबाई पंडिता, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, पं० भीमसेन शर्मा, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, मुंशी समर्थदान और पं० ज्वालादत्त शामिल हैं।

उन्नीसवां अध्याय

उन्नीसवें अध्याय में उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल, बिहार और अन्य प्रदेशों में सन् १८८३ तक स्थापित आर्यसमाजों का विवरण है। जिन प्रारम्भिक आर्यसमाजों के सर्वप्रथम बने सदस्यों की सूची उपलब्ध हुई, वह भी दे दी गई है। इसी अध्याय में स्वामी जी द्वारा देहरादून में एक मुसलमान को अपने कर कमलों से शुद्ध करने का वर्णन है जिसका नाम था—मोहम्मद उमर वल्द खाजा हुसैन। उसे शुद्ध करके स्वामी जी ने अलखधारी नाम दिया, जो बाद में आर्यसमाज का एक अत्यन्त उत्साही कार्यकर्ता बना और उसने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा दी। अध्याय के अन्त में परिशिष्ट (१) में सन् १८८३ तक विभिन्न प्रान्तों में स्थापित आर्यसमाजों की सूची परोपकारिणी नभा के ग्वार्ड से लेकर दी गई है। इन आर्यसमाजों की कुल संख्या ७९ है। उस समय तक स्थापित दस अन्य समाजों का भी उल्लेख है जो परोपकारिणी की सूची में आने से रह गए।

परिशिष्ट (२) में वम्बई आर्यसमाज के नियमों में संशोधन की चर्चा है और परिशिष्ट (३) में १४ अगस्त १८७९ के 'स्टेस्ट्मैन' में सम्पादक के नाम छपा वह पत्र अंकित है जिसमें लाहौर आर्यसमाज के सदस्यों को स्वामी जी ने विदेशी वस्त्रों का उपयोग न करने का परामर्श दिया है।

इसके बाद ऋषि दयानन्द के समकालीन ३९ व्यक्तियों के दुर्लभ चित्र हैं जिनमें राजा-महाराजा और आर्यसमाज के प्रारम्भिक विशिष्ट कार्यकर्ता तथा जोधपुर के दीवान फैजुल्ला खां और नन्हीं भगतन भी शामिल हैं। अन्तिम दो ने ऋषि को विष देने के षड्यंत्र में प्रमुख रूप से भाग लिया था।

बीसवां अध्याय

बीसवें अध्याय में ऋषि दयानन्द द्वारा शुद्धि (वैदिक धर्म में प्रत्यावर्तन) आंदोलन के श्रीगणेश का वर्णन है, पर उसकी पृष्ठभूमि के रूप में अनेक स्मृतियों और पुराणों के उद्धरण भी दिए हैं जिनसे इस आंदोलन को शास्त्रीय आधार तो मिलता ही है, हिन्दू समाज की शुद्धि विरोधी मान्यताओं का खण्डन भी होता ही है। इस दृष्टि से यह अध्याय शुद्धि आंदोलन के लिए काम करने वालों के लिए अवश्य पठनीय है। प्राचीन काल में, मुगल काल में और आधुनिक काल में इन उदाहरणों के प्रचार से आर्यधर्म में पुनः उस शक्ति का संचार हुआ जिसके अभाव

में उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा। ऋषि दयानन्द केवल आर्यधर्म से विचलित होकर विधर्मी बने लोगों को ही शुद्ध करने के पक्ष में नहीं थे, बल्कि वे उन लोगों की भी शुद्धि के पक्ष में भी थे जिनका सीधा संबंध अरब, तुर्क तथा यूरोपियन देशों से था। ऐतिहासिक दृष्टि से इस आंदोलन का बहुत महत्व है क्योंकि पौराणिक हिन्दू समाज की एतत्सम्बन्धी मूढ़ मान्यताओं का इससे खण्डन होता है। बाद में चलकर स्वामी श्रद्धानन्द, पं० लेखराम, महात्मा हंसराज और लाला लाजपत राय आदि आर्य नेताओं ने इस आंदोलन को व्यापक रूप दिया।

इक्कीसवां अध्याय

इस अध्याय में आर्यसमाज के संगठन और प्रचार पद्धति का निरूपण किया गया है, परन्तु इस निरूपण से पूर्व बौद्ध, जैन, ईसाई और मुसलमान आदि के संगठनों और प्रचार-पद्धति का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है जिससे अपनी प्रचार पद्धति में परिवर्तन करते समय आर्य जनता प्रेरणा ग्रहण कर सकती है। आर्यसमाज का मुख्य आधार उसके साधु-संन्यासी, उपदेशक, भजनोपदेशक और अन्य ढंग के प्रचारक तो हैं ही, उसके वाषिकोत्सवों, शिक्षणालयों और पत्र-पत्रिकाओं से भी आर्यसमाज के प्रचार में बहुत सहयोग मिलता है। पर आर्यसमाज को अपने प्रचार के लिए लेखनी और वाणी के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों का भी—जिनमें वीडियो कैसेट फिल्में और नाटक आदि के साथ साथ दूरदर्शन और आकाशवाणी भी हैं, प्रयोग करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

बाईसवां अध्याय

इस अध्याय में महर्षि द्वारा विरचित ग्रन्थों तथा पुस्तिकाओं का विवेचन है। ऋषि को आर्यसमाज की स्थापना के बाद केवल आठ वर्ष ही कार्य करने का अवसर मिला। पर इन आठ वर्षों में जितना साहित्य उन्होंने तैयार किया है, वह लगभग बीस हजार पृष्ठों में समाया। इन ग्रन्थों में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ-प्रकाश और वेदभाष्य जैसे गम्भीर ग्रंथ भी हैं और अन्य कई छोटे-बड़े ग्रन्थ भी हैं। लेखक ने ऋषि के ग्रन्थों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—(१) वेदभाष्य तथा उससे सम्बद्ध ग्रन्थ। (२) सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण। सत्यार्थप्रकाश का संशोधित द्वितीय संस्करण जो सर्वथा नये ढंग से लिखा गया और जिसकी मूल हस्तलिखित प्रति अभी तक सुरक्षित है। (४) नैतिक और नैमित्तिक धर्मानुष्ठान के के ग्रन्थ। (५) वेद-विरुद्ध मत-मतान्तरों के खण्डन से सम्बन्धित ग्रंथ। (६) संस्कृत भाषा तथा व्याकरण से सम्बन्धित ग्रंथ। (७) आर्य ग्रंथों के अध्ययन एवं शोध में सहायक ग्रन्थ (८) अन्य मत-मतान्तरों के अध्ययन एवं शोध के लिए उपयोगी ग्रन्थ। (९) शास्त्रार्थ और व्याख्यान। (१०) विविध रचनाएँ।

इन वर्गों में से प्रत्येक वर्ग की पुस्तकों के विस्तृत विवेचन के पश्चात्

विविध रचनाओं में आर्योद्देश्यरत्नमाला, गोशुणानिधि, व्यवहारमानु और आत्म-चरित्र तथा गौतम-अहिल्या कथा और गर्दभतापनी उपनिषद् का उल्लेख है। अन्तिम कृति ऋषि की संस्कृत काव्य की प्रतिभा को व्यक्त करती है, पर वह अभी तक अप्रकाशित है।

तेईसवां अध्याय

इस खण्ड में तेईसवां अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह कि सन् १८५७ के संग्राम में ऋषि दयानन्द ने कोई सक्रिय भाग लिया या नहीं—इस सम्बन्ध में लेखक ने अपनी राय दी है। इस विषय में आर्य विद्वानों में परस्पर मत-भेद रहा है, इसलिए श्री सत्यकेतु विद्यालंकार जैसे मर्मज्ञ इतिहासकार की राय का विशेष महत्त्व है। दूसरा कारण यह कि पं० जी ने लन्दन की यात्रा करके वहाँ के अभिलेखागारों से जो विशिष्ट सामग्री प्राप्त की थी, उसका उपयोग इस अध्याय में हुआ है। इस खण्ड का यह सब से लम्बा अध्याय है।

ऋषि के जीवन वृत्त का जैसा क्रमिक वर्णन उपलब्ध है, उसमें सन् १८५६-५७-५८ का सर्वथा उल्लेख न होना इस कल्पना को जन्म देता है कि यह चुप्पी अकारण नहीं है। यह मौन ही मुखर होकर बोलता है। यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि इन वर्षों में वे उसी प्रदेश में भ्रमण कर रहे थे जो सैन्य विद्रोह का केन्द्र था। इसके अतिरिक्त सत्यार्थप्रकाश के समुल्लास में ऋषि ने श्रीकृष्ण का वर्णन करते हुए संवत् १९१४ की द्वारका में घटी एक घटना का भी उल्लेख किया है जो किसी अन्य इतिहासकार ने नहीं किया। संवत् १९१४ से अभिप्राय सन् १८५७ से ही है। इस घटना के उल्लेख से इतना तो प्रमाणित है कि वे १८५७ के संग्राम से सुपरिचित थे।

कलकत्ता के श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री ने लगभग ४० साल के परिश्रम के पश्चात् 'ऋषि की अज्ञात जीवनी' नाम से एक लेखमाला लिखी थी, जो बाद में 'योगी के आत्मचरित्र' नाम से श्री स्वामी सच्चिदानन्द 'योगी' ने पुस्तक रूप में प्रकाशित की। इस पुस्तक का आधार यह था—सन् १८७२ के दिसम्बर मास में ऋषि कलकत्ता पहुँचे थे और वहाँ चार मास रहे थे। इसी प्रवास में वे बंगाल के बुद्धिजीवियों और ब्राह्मणसमाज के नेताओं के सम्पर्क में आए। उन लोगों ने जब ऋषि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तब उन्होंने संस्कृत में अपना जीवन-वृत्त सुनाया जिसका उसी समय बंगला भाषा में अनुवाद कर लिया गया। यह अनुवाद उन बंगाली विद्वानों के घरों में चिरकाल तक पड़ा रहा। श्री दीनबन्धु ने जिन १२ घरों से उक्त सामग्री प्राप्त की थी उसका पूरा विवरण उन्होंने प्रकाशित कर दिया था। इस जीवनी से कई नई बातें पता लगती हैं जिनसे ऋषि

दयानन्द के सन् १८५७ के विद्रोह के नेताओं से निकट सम्पर्क का और आपसी परामर्श का पता लगता है। इस जीवनी के अनुसार सन् १९५५ में हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर ही नाना साहब धुन्धूपन्त, अजीमुल्ला खां, बाला साहब, तात्या टोपे, बाबू कुंवरसिंह, भांसी की रानी लक्ष्मीबाई और बंगाल के श्री गोविन्दनाथ राय स्वामी जी से उनके डेरे पर मिले थे। उस विद्रोह में कमल और रोटी का जो प्रतीक चूना गया था, उसका सुझाव स्वामी जी ने ही दिया था। विद्रोह के समर्थन में साधुओं के संगठन का दायित्व स्वामी जी ने संभाला था। साधुओं के ऐसे सशस्त्र संगठन उस समय मौजूद थे, उसके प्रमाण अन्य ग्रंथों से भी मिलते हैं।

परन्तु डा० भयानीलाल भारतीय, पण्डित श्रीराम शर्मा, आस्ट्रेलिया के 'प्रोफेसर ऋषि दयानन्द की जीवनी के लेखक अंग्रेज डा० जोर्डन्स और उनके शिष्य आर० ध्वाएँतस तथा कुछ अन्य विद्वान् इस अज्ञात जीवनी को प्रामाणिक नहीं मानते। पं० सत्यकेतु जी ने पुष्कल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि १८५७ का युद्ध केवल सिपाही विद्रोह नहीं था, प्रत्युत स्वाधीनता संग्राम था और उसकी राष्ट्रव्यापी योजना तैयार की गई थी जिसमें कई उच्च सैनिक अधिकारी भी शामिल थे। परन्तु इस संग्राम में साधुओं के योगदान के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण गवाही बाबा सीताराम की है जो मैसूर के समीप गिरफ्तार किया गया था। यह गवाही बाबा सीताराम ने मेजर एच० बी० देवरां और कैप्टिन जे० एल० पीयर्स के सैनिक कमीशन के समक्ष दी थी, और १८ जून से २५ जून, १८५८ तक चली थी। यह सारा विवरण पण्डित जी को ब्रिटिश अभिलेखागार से प्राप्त हुआ था। इसकी बहुत कुछ पुष्टि सन् १८९६ में फ्रेंच भाषा में लिखे गए एक उपन्यास से भी होती है जिसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में 'मरियम—१८५७ के भारतीय गदर की कहानी' (Marium—A story of the Indian Muting of 1857) नाम से हुआ।

सीताराम बाबा की गवाही बहुत लम्बी है। अंग्रेजी के लिखित ५८ पृष्ठों में पूरी होती है। सैनिक कमीशन द्वारा यन्त्रणा दिए जाने के पश्चात् बाबा ने कहा कि इस विद्रोह का संचालन नाना साहब के "गुरु दत्ता बाबा" द्वारा किया जा रहा है, जो १२५ वर्ष की आयु के हैं और कांगड़ा से परे कालीघार की तरफ रहते हैं। उनका एक शिष्य दीनदयाल है जो दक्षिण भारत में काम कर रहा है। उसने दक्षिण भारत के अनेक राजाओं को और तिरुपति के शिवराम बाबा को पत्र लिखकर इस विद्रोह में शामिल होने के लिए प्रेरित किया है। सीताराम बाबा ने यह भी बताया कि सिन्धिया नरेश की दादी बैजीबाई इस विद्रोह के लिए कई साल से योजना बना रही थी। इधर नानासाहब भी ऐसे ही प्रयत्न में लगे थे।

दस्सा बाबा के परामर्श से दोनों सहयोग करने को तैयार हो गए और आगामी योजनाएं उनके सहयोग से ही तैयार हुईं। सीताराम बाबा की गवाही से यह भी पता लगा कि दीनदयाल नामक जो साधु दक्षिण भारत में काम कर रहा था, वह अकेला नहीं था, उसके साथ बीस साधु और थे। ये साधु मालाएं और बाजूबन्द तथा जटाजूट धारण करते रहते थे और उन्हीं में पत्र आदि छिपाकर रखा करते थे। दीनदयाल उस गवाही के अनुसार आगामी दस दिन में बंगलौर पहुंचने वाले थे।

श्री सत्यकेतु जी का अनुमान है कि दस्सा बाबा और दीनदयाल ये दोनों नाम एकदम सही नहीं हैं और सीताराम बाबा ने असली नाम गोपनीय रखने के लिए ही उक्त नाम दिए हैं। पं० जी के कथनानुसार दस्सा बाबा से अभिप्राय दशनामी साधु से हो सकता है। शंकराचार्य ने साधुओं के जो दस संगठन बनाए थे, वे दशनामी कहे जाते हैं। वे हैं—सरस्वती, पुरी, गिरि, सागर, अरण्य, पर्वत, वन, आश्रम, तीर्थ और भारती। ये दशनामी साधु शस्त्र भी धारण करते थे और उनकी सेनाएं युद्ध में भी भाग लिया करती थीं। अंग्रेजों से भी उनकी कई लड़ाइयां हुई थीं, इसीलिए इतिहास में उसे 'संन्यासी विद्रोह' नाम दिया गया है। नाना साहब और रानी भांसी के पक्ष में दशनामी साधुओं के महानिर्वाणी अखाड़े ने रणक्षेत्र में शस्त्र लेकर संघर्ष किया था। सोरम गांव की सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड में उन साधुओं के स्वामी पूर्णानन्द और स्वामी ओमानन्द नाम दिए गए हैं। सन् १८५७ में स्वामी पूर्णानन्द की आयु ११० वर्ष और स्वामी ओमानन्द की आयु १६० वर्ष थी। सन् १८५६ में स्वामी विरजानन्द ने मथुरा में एक पंचायत बुलाई थी और हिन्दू-मुसलमान दोनों उसमें शामिल हुए थे। इस पंचायत में 'एक नावीना (अन्धे) हिन्दू दरवेश' को पालकी में बिठाकर लाया गया था। उस साधु ने जो भाषण वहाँ दिया था वह सोरम के रिकार्ड में सुरक्षित है। पुस्तक में वह भाषण दिया गया है। पंचायत के रिकार्ड के नोट में उस साधु का नाम विरजानन्द बताया गया है। स्वामी विरजानन्द ने अपने भाषण में लोगों से अंग्रेजों हकूमत के विरुद्ध उठ खड़े होने का आह्वान किया था। इसी समा में 'एक गोल मुख वाले दयानन्द' के नाम का उल्लेख भी हुआ है। हालांकि स्वामी विरजानन्द और स्वामी दयानन्द दोनों दशनामी साधु थे, पर दस्सा बाबा से अभिप्राय इन दोनों से नहीं लगता, क्योंकि सीताराम बाबा ने दस्सा बाबा की आयु १२५ वर्ष बताई थी। सम्भावना यह है कि इन्हीं स्वामी पूर्णानन्द को सीताराम ने 'दस्सा बाबा' कहा होगा, जिनकी आयु पंचायत के रिकार्ड में ११० वर्ष बताई गई है। हो सकता है सीताराम ने आयु के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति की हो।

स्वामी पूर्णानन्द कनखल में रहते थे। अपने समय के इस प्रसिद्ध विद्वान्

सन्त को पूर्णदास सन्त भी कहते थे। स्वामी विरजानन्द उन्हें अपना गुरु मानते थे। स्वामी पूर्णानन्द ने ही स्वामी दयानन्द को विरजानन्द के पास विद्या पढ़ने भेजा था। सन् १८५६ में और उसके बाद वैंसी कई समाएँ हुईं, उनमें भी दयानन्द की उपस्थिति का उल्लेख है। स्वामी विरजानन्द ने पंजाब का निवासी होकर भी मथुरा को जान बूझकर अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया था। स्वामी पूर्णानन्द और स्वामी ओमानन्द ने त्रिव्रोह की जो योजना बनाई थी उसे पूरा करने के लिए स्वामी विरजानन्द ने तीन साल तक तैयारी की। उनके शिष्यों ने सर्व-साधारण में यह प्रचार किया कि इस अवधि में मथुरा की यात्रा करने वालों के सब पाप नष्ट हो जाएंगे और भगवान् श्रीकृष्ण ने गोसाईं जी को स्वप्न में दर्शन देकर कहा है कि इस वर्ष हमारे जन्मस्थान आकर जो तीर्थ करेगा उसकी सात पीढ़ियाँ तर जाएंगी। मुसलमान फकीरों ने यह फतवा दिया कि भादों के शुरू में जो आठ रोज तक मसजिदों में नमाज पढ़ेगा, उसको बड़ा सबाब मिलेगा। इस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि १८५७ के पहले तीन वर्षों में हिन्दू और मुसलमान भारी संख्या में मथुरा आते रहे। इसके अलावा उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य व्यापार तथा यातायात के सब मुख्य मार्ग मथुरा से होकर ही गुजरते थे। हिन्दुओं का तो वह प्रसिद्ध तीर्थ था ही। आगरा, फतहपुर सीकरी और अजमेर शरीफ आदि मुस्लिम धर्मस्थलों की यात्रा करने वाले लोग भी मथुरा होकर ही जाते थे।

अब रहा प्रश्न यह कि सीताराम बाबा ने अपनी गवाही में जिस दीनदयाल साधु का उल्लेख किया है, वह कौन था। पं० सत्यकेतु जी का कहना है कि वह साधु ऋषि दयानन्द हो सकते हैं। दीनदयाल नाम भी सीताराम बाबा ने गोपनीयता बनाए रखने के लिए ही लिया लगता है। ऋषि दयानन्द उस समय दक्षिण भारत की ओर भ्रमण कर रहे थे, यह अन्य संदर्भों से विदित होता है। पं० सत्यकेतु श्री सीताराम बाबा की गवाही को और पंचायत के रिकार्ड को निराधार तथा अप्रामाणिक नहीं मानते। उनका कहना है कि यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब किसी असली नाम को छिपाने के लिए दूसरे नाम का प्रयोग किया जाता है, तो दूसरा नकली नाम असली नाम की छाया अवश्य लिये रहता है। सम्भवतः यही बात दयानन्द और दीनदयाल के सम्बन्ध में भी हुई है।

श्री विद्यालंकार ने अन्य अनेक विसंगतियों का भी उचित समाधान किया है और अध्याय के अन्त में डा० एच० डी० ग्रिसवोल्ड के सन् १८६२ में 'इण्डियन एवेंजलिक रिव्यू' नामक ग्रन्थ के इस वक्तव्य को उद्धृत किया है—“पं० दयानन्द के उद्धोष के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे चाहते थे कि भारत में भारतीयों का अपना धर्म रहे और भारत की प्रभुसत्ता भी भारतीयों के हाथ में रहे। वे यह मानते थे कि वेदों की विषुद्ध शिक्षा से भारतीय लोग धीरे-धीरे इस योग्य हो

जाएंगे कि अपना शासन स्वयं कर सकें, और इस प्रकार अन्ततः उन्हें पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जाए।" ग्रिसवोल्ड ने यह शब्द ऋषि दयानन्द के देहावसान के केवल ६ वर्ष बाद ही कहे थे।

इसके बाद परिशिष्ट में पंजाब में आर्यसमाज की अनुपम सफलता के कारणों का विवेचन हुआ है। फिर सहायक ग्रन्थ सूची (हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती के कुल मिलाकर लगभग १५० ग्रन्थ), आर्य स्वाध्याय केन्द्र के सहायक सदस्यों की सूची और शब्दानुक्रमिका के साथ यह खण्ड समाप्त होता है। अकेले इस प्रथम खण्ड से ही आर्यसमाज के सभी अंगों का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। अगले खण्डों में एक-एक अंग को लेकर विस्तृत विवेचन किया गया है।

द्वितीय खण्ड (१८८३ से १९४७ तक आर्यसमाज का प्रचार)

इस खण्ड में २० अध्याय पं० सत्यकेतु जी ने, ६ अध्याय प्रो० हरिदत्त ने और एक अध्याय डा० भवानीलाल भारतीय ने लिखा है।

इस खण्ड के तीस अध्यायों में संसार के धर्मसाम्राज्यों के साथ आर्यसमाज की प्रगति के तुलनात्मक विवेचन से प्रारम्भ करके, ऋषि दयानन्द के देहावसान के पश्चात् हुए आर्यसमाजों की क्रमिक स्थापना का वर्णन है। आर्यसमाज के आन्दोलन का और कार्य का स्वरूप क्या था, अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से उसकी मान्यताओं में क्या अन्तर था, किस प्रकार पौराणिकों तथा अन्य मतावलम्बियों से उसका संघर्ष चलता रहा, किस प्रकार विभिन्न प्रान्तों में अनेक आर्यसमाजों की स्थापना के पश्चात् प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हुई, किस प्रकार आर्यसमाज ने दलितोद्धार, शुद्धि, समाज सेवा और शिक्षा-प्रसार के आन्दोलनों को सबल बनाया, इस सब का अलग-अलग अध्यायों में वर्णन करते हुए देश-विभाजन तक विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति का विस्तृत विवेचन है।

उत्तर भारत के बाद दक्षिण भारत, पूर्वी भारत और पश्चिम भारत में आर्यसमाज के कार्य की प्रगति का विवेचन है। फिर आर्यसमाज के सार्वभौम संग-संगठन के रूप में सार्वदेशिक सभा का गठन और उसकी ओर से विभिन्न अवसरों पर आयोजित आर्यमहासम्मेलनों का वर्णन है। मथुरा और टंकारा में ऋषि जन्म-शताब्दी और शुद्धि आन्दोलन तथा हिन्दू संगठन के कारण हुए स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान का वर्णन है।

तदनन्तर हैदराबाद की निजाम रियासत में सन् १९३८-३९ में हुए धर्मयुद्ध की पृष्ठभूमि, आतंक का राज्य, शोलापुर में आर्य महासम्मेलन के पश्चात् सत्याग्रह का विगुल, सत्याग्रह की अपूर्व सफलता, आर्यसमाज की विजय और सत्याग्रह में

शहीद हुए नर-पुंगवों का उल्लेख है। फिर सिन्ध में सत्यार्थप्रकाश पर लगे प्रतिबन्ध के निवारण के लिए आर्यसमाज की विजय का वर्णन है।

इस प्रकार भारत में आर्यसमाज की प्रगति का वर्णन करने के पश्चात् मारीशस, फीजी, दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका, गुयाना, त्रिनीदाद, सुरिनाम, कनाडा और अमरीका में आर्यसमाज के प्रचार का वर्णन है। यूरोप में, इंग्लैण्ड में और विशेष रूप से लन्दन में आर्यसमाज की गतिविधियों के वर्णन के साथ सन् १९८१ में वहाँ हुए सार्वभौम आर्य महासम्मेलन का वर्णन भी है। इसके साथ ही पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया में आर्यसमाज के प्रवेश के साथ बर्मा, थाइलैण्ड, सिंगापुर, मलेशिया, ईरान, ईराक, अदन और अरब देशों में आर्यसमाज के प्रचार के वर्णन के साथ यह खण्ड समाप्त होता है। इस खण्ड में १०० चित्र भी हैं।

तृतीय खण्ड (शिक्षाक्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप)

इस खण्ड में २६ अध्याय हैं जिनमें से सात अध्याय के लेखक प्रो० हरिदत्त वेदालंकार तथा शेष सबके लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार हैं।

प्राचीन भारत की शिक्षापद्धति क्या थी और शिक्षण केन्द्र कैसे थे। बौद्ध युग के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा-तक्षशिला आदि की क्या स्थिति थी। हिन्दू मन्दिरों और मठों में पाठशालाएं कैसे चलती थीं। मिथिला नदिया और वाराणसी जैसे विद्या-केन्द्र कैसे कार्य करते थे। स्त्रियों, शूद्रों और शिल्पियों की शिक्षा की क्या व्यवस्था थी? बृहत्तर भारत में आश्रमों की कैसी परम्परा थी और इन शिक्षण-संस्थाओं का कैसे ह्रास हुआ—इसका प्रथम अध्याय में वर्णन है। दूसरे अध्याय में अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं के श्रीगणेश से लेकर ईस्ट इंडिया कम्पनी और मिशनरियों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र पर वर्चस्व का वर्णन है। तीसरे अध्याय में महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा पद्धति और शिक्षा क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रवेश का उल्लेख है।

चौथे अध्याय में ऋषि की मृत्यु के पश्चात् उनके स्मारक के रूप में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल और कालिज की स्थापना के प्रयासों में सफलता और डी० ए० बी० शिक्षण संस्थाओं की शिक्षा नीति के सम्बन्ध में मतभेदों से प्रारंभ करके इस विषय का विस्तार दसवें अध्याय में किया गया है। परिशिष्ट में डी० ए० बी० की प्रथम नियमावली भी दी गई है।

पांचवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें अध्याय में गुरुकुल की स्थापना की पूर्व पीठिका, प्रथम नियमावली, प्राचीन और नवीन प्रवृत्तियों के संघर्ष, सरकार के सत्यकेतु स्मृति अंक

गुरुकुल पर कोप और गुरुकुल कांगड़ी के विस्तार के साथ उसके मुलतान, कुरुक्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ, मटिण्डू आदि शाखा गुरुकुलों का वर्णन करते हुए सन्यास लेने के बाद स्वामी श्रद्धानन्द की गुरुकुल से विदाई का वर्णन है। आठवें और नौवें अध्याय में स्वामी दर्शनानन्द जी द्वारा स्थापित महाविद्यालय ज्वालापुर, गुरुकुल रुन्दावन और गुरुकुल सिकन्दराबाद आदि का वर्णन है। नौवें अध्याय में महाविद्यालय ज्वालापुर की प्रगति और उसके स्नातकों द्वारा शिक्षा, साहित्य, विद्वत्ता और आर्यसमाज के क्षेत्र में कार्यकलाप और उसका मूल्यांकन विशेष रूप से किया गया है।

इससे पूर्व छठे और सातवें अध्याय में स्त्री शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उन्नीसवीं सदी में स्थिति और ऋषि दयानन्द के स्त्री शिक्षा विषयक दृष्टिकोण का वर्णन है। सातवें अध्याय में जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना और उसके विकास से सम्बन्धित घटनाचक्र का, कन्या महाविद्यालय की स्नातिकाओं द्वारा किए गए कार्य का मूल्यांकन है।

चौदहवें अध्याय में आर्य गुरुकुल परम्परा का उल्लेख है जिसमें गुरुकुल चित्तौड़गढ़, गुरुकुल भुवनेश्वर, गुरुकुल एटा, गुरुकुल आमसेना (उड़ीसा), गुरुकुल महाविद्यालय रुद्रपुर, गुरुकुल वैदिक आश्रम वेदव्यास (उड़ीसा), गुरुकुल गदपुरी तथा आर्य पद्धति की अन्य शिक्षण संस्थाओं का उल्लेख है। साथ ही उपदेशक विद्यालय यमुनानगर, संस्कृत विद्यालय दयानन्द मठ दीनानगर और पाणिनि महाविद्यालय बहालगढ़ का वर्णन है।

पंद्रहवें अध्याय में कन्या गुरुकुल देहरादून, कन्या गुरुकुल हाथरस और कन्या गुरुकुल कनखल का और सतरहवें अध्याय में कन्या गुरुकुल खानपुर कला, कन्या गुरुकुल नरेला, कन्या गुरुकुल लोवाकला, कन्या गुरुकुल मोरमाजरा (करनाल), कन्या गुरुकुल खरड़ (जींद) तथा अन्य कन्या गुरुकुलों का वर्णन है। आर्यसमाज के नेताओं ने कन्या गुरुकुलों का यह सिलसिला केवल उत्तर भारत में ही नहीं, बल्कि गुजरात में भी चलाया। गुजरात में तीन कन्या गुरुकुल अपनी सुव्यवस्था के लिए प्रसिद्ध हैं। वे हैं—कन्या गुरुकुल बड़ौदा, कन्या गुरुकुल पोरबन्दर और कन्या गुरुकुल जामनगर। इन गुजरात के गुरुकुलों में अफाका, यूरोप तथा अमरीका में बसे गुजरातियों की कन्याएं भी शिक्षा प्राप्ति के लिए अच्छी संख्या में आती हैं।

अठारहवें अध्याय में देश-विभाजन के बाद डी० ए० वी० संस्थाओं तथा अन्य आर्य शिक्षण संस्थाओं को हुई अपार क्षति के बावजूद स्वतन्त्र भारत में उनके पुनः पुष्पित और पल्लवित होने का उल्लेख है। इसी अध्याय में डी. ए. वी. द्वारा व्यावसायिक व प्राविधिक संस्थाएं तथा आयुर्वेदिक कालिज का और हिसार

में दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय खोले जाने का वर्णन है। साथ ही उन्नीसवें अध्याय में उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, उड़ीसा तथा अन्य प्रदेशों में डी. ए. बी. शिक्षण संस्थाओं के खोले जाने और उनकी प्रगति का वर्णन है।

बीसवें अध्याय में बिहार, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, बंगाल तथा कर्नाटक, गुजरात, हरयाणा तथा दिल्ली संघ क्षेत्र के गुरुकुलों का वर्णन है। इक्कीसवें अध्याय में गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन की प्रगति, आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना, उसके स्नातकों द्वारा समाज सेवा के अनेक क्षेत्रों में किए गए कार्य का मूल्यांकन तथा उसकी वर्तमान दशा का वर्णन है। इसी प्रकार तेईसवें अध्याय में यूनिवर्सिटी की अस्थायी मान्यता मिलने के बाद गुरुकुल कांगड़ी में घटित घटना-चक्र, अव्यवस्था तथा अराजकता से लेकर वर्तमान दशा तथा उसके मूल्यांकन और भविष्य की सम्भावनाओं का वर्णन है। बाईसवें अध्याय में विभिन्न प्रान्तों में गुरुकुलेतर अन्य कन्या शिक्षणालयों का वर्णन है।

चौबीसवें अध्याय में डी. ए. बी. से भिन्न, विभिन्न प्रान्तों में खुले आर्य स्कूलों और कालेजों तथा अन्य आर्यशिक्षण संस्थाओं का उल्लेख है।

पच्चीसवें अध्याय में डी. ए. बी. स्कूलों, कालिजों की समस्याओं का विवेचन है और इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है कि क्या आर्यसमाज को अपने आपको अल्पसंख्यक वर्ग घोषित कर अपनी शिक्षण संस्थाओं के लिए अल्पसंख्यकों को मिलने वाले विशेषाधिकारों का लाभ उठाना चाहिए।

छब्बीसवें अध्याय में विदेशों में बसे भारतीय मूल के लोगों की स्थिति का विवेचन करते हुए वहां स्थापित आर्य शिक्षण संस्थाओं का वर्णन है। इन में मारीशस, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी तथा अन्य देश शामिल हैं। अन्त में भारत में आर्य शिक्षण संस्थाओं के भविष्य की समस्याओं के विवेचन के साथ यह खण्ड समाप्त होता है।

इस खण्ड की पृष्ठ संख्या ७२० है, चित्रों के ५० पृष्ठ अलग हैं।

चतुर्थ खण्ड (आर्यसमाज और राजनीति)

सन् १८७५ से १९२६ तक)

इस खण्ड में ७ अध्याय डा० सत्यकेतु जी ने, १ अध्याय डा० भवानीलाल भारतीय ने और इक्कीस अध्याय प्रो० हरिदत्त ने लिखे हैं। कुल २६ अध्याय हैं। इसी अध्याय में ब्रिटिश सरकार और स्वातंत्र्योत्तर भारत सरकार के गृह मंत्रालय के गुप्तचर विभाग द्वारा तैयार रिपोर्टों और अभिलेखागारों से प्राप्त सामग्री का विशेष रूप से उपयोग किया गया है।

महर्षि दयानन्द ने जिस व्यापक व सर्वांगीण रूप से धर्म का प्रतिपादन किया था, राजधर्म भी उसका आवश्यक अंग है। सत्यार्थप्रकाश में पूरा एक अध्याय (छठा राजधर्म पर ही है। परन्तु अभी तक 'आर्यसमाज और राजनीति' विषय पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया। स्वाधीनता से पूर्व सरकारी गोपनीय रिपोर्टों तक आर्यसमाज के शोधार्थियों की पहुंच सम्भव नहीं थी, पर स्वतंत्र भारत की सरकार ने शोधार्थियों के लिए वह सामग्री सुलभ कर दी। वर्तमान खण्ड मुख्य रूप से उसी सामग्री पर आधारित है। इसलिए इस विषय में रुचि रखने वालों के लिए अकेला यह खण्ड ही पूरे शोध-ग्रन्थ का काम देगा।

यह सुविदित ही है कि शुरू से ब्रिटिश सरकार आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखती थी। इसलिए आर्यसमाज के प्रमुख प्रचारकों के पीछे गुप्तचर छाया की तरह लगे रहते थे। उनके भाषणों की पूरी रिपोर्ट सरकार के गुप्तचर विभाग के मुख्य कार्यालय में रखी जाती थी। इस खण्ड की प्रस्तावना में उत्तर प्रदेश (जिसे उस समय संयुक्त प्रान्त कहते थे) के उन आर्य प्रचारकों और कार्यकर्ताओं की पूरी नामावली दी गई है जिनकी बाकायदा अलग-अलग रिपोर्ट रखी जाती थी। गुप्तचर विभाग के नियमानुसार २५-३० वर्ष की नियत अवधि के पश्चात् वे फाइलें नष्ट कर दी जाती हैं। यदि ये फाइलें आज भी उपलब्ध होतीं तो आर्यसमाज के राजनीति विषयक कार्यकलाप पर और अधिक तथा अतिरोचक सामग्री प्राप्त होती। सौभाग्यवश उन गुप्तचर रिपोर्टों के आधार पर तत्कालीन उप-अधीक्षक अंग्रेज सी० ई० डब्ल्यू० सैण्ड्स द्वारा तैयार की रिपोर्ट अभी तक सुरक्षित मिल गई। इसलिए इस खण्ड में दी गई अधिकांश सामग्री सर्वथा नई है। वह सामग्री इतनी अधिक है कि इस खण्ड में केवल सन् १९२६ तक की अवधि नियत करके तब तक की ही सामग्री दी गई है। शेष सामग्री उपयोग सातवें खण्ड में किया गया है।

महर्षि दयानन्द की प्रेरणा से कितने ही आर्यसमाजी क्रांतिकारी आन्दोलनों में केवल सम्मिलित ही नहीं हुए, बल्कि उनका उन्होंने नेतृत्व भी किया। ब्रिटिश सरकार यह मानती थी कि कोई भी आर्यसमाजी पूर्णतः राजभक्त नहीं हो सकता। इस अंश तक यह बात ठीक है कि ऋषि की शिक्षाओं से प्रभावित कोई व्यक्ति विदेशी शासन का समर्थक नहीं हो सकता। परन्तु कुछ आर्यनेता नीति के रूप में राजभक्त भी रहे हैं और उन्होंने आर्यसमाज को राजनीति में भाग लेने से सदा रोकने का प्रयत्न किया है, यह सत्य भी स्वीकार किया जाना चाहिए। इसका एक कारण यह भी है कि ब्रिटिश शासन में आर्यसमाज को वैदिक धर्म प्रचार करने की स्वतन्त्रता थी। कांग्रेस के कई पुराने नेताओं के समान कुछ आर्यसमाजी भी ब्रिटिश शासन को भारत के लिए बरदान मानते थे। उन्हें भी आर्यसंस्कृति और आर्यावर्त से प्रेम था और वे अपने ढंग से देश की उन्नति का प्रयत्न करते रहते थे।

इस खण्ड के पहले अध्याय में संसार भर में राज्यों और धार्मिक समुदायों में संघर्ष से प्रारम्भ करके धार्मिक समुदायों द्वारा राजनीति में हस्तक्षेप के कारण राज्य और धर्म में पैदा हुए विरोध का और स्वराज्य प्राप्ति के लिए ऋषि के पथ प्रदर्शन का उल्लेख है। द्वितीय अध्याय में मुख्य रूप से १८५७ के संग्राम तथा अन्य सशस्त्र संघर्षों की विफलता के बाद आर्यसमाज के उदय का और तीसरे अध्याय में स्वाधीनता की भावना के बीजारोपण के साथ चौथे अध्याय में आर्यसमाज की राजनीति के मौलिक मन्तव्यों का उल्लेख है। आर्यसमाज की राजनीति का मुख्य आधार है—स्वदेशी, स्वराज्य, स्वभाषा, लोकतन्त्र, सामाजिक न्याय, धर्मानुप्राणित राजनीति और मानसिक पराधीनता का निवारण कर सही राष्ट्रीयता का विकास।

पाँचवें और छठे अध्याय में आर्यसमाज की राजनीति के प्रारम्भिक युग (१८८३ से १९१८ तक) का और आर्यसमाज द्वारा स्वाधीनता के लिए किए गए जनान्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन, राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय योगदान का वर्णन है। उस युग में यदि कुछ आर्य नेताओं ने राजभक्ति का परिचय दिया तो उसके कारणों और परिणामों का उल्लेख है। सातवें अध्याय में पंजाब और उत्तर प्रदेश में आर्यसमाज द्वारा कांग्रेस के विकास में विशेष योगदान का तथा बाद में कांग्रेस से विरोध का भी वर्णन है। आठवें अध्याय में आर्यसमाज पर सरकारी प्रकोप का, गोरक्षा आन्दोलन का और आर्य विद्वानों से शास्त्रार्थों में पराजित होकर किरानी-कुरानी-पुराणों द्वारा संगठित होकर ब्रिटिश सरकार के आर्यसमाज के विरुद्ध कान मरने का उल्लेख है। ईसाई प्रचारकों और मुस्लिम प्रचारकों ने भी आर्यसमाज के विरुद्ध विष वमन में कसर नहीं छोड़ी, जिस से भारत के अनेक बड़े नगरों में साम्प्रदायिक दंगे हुए। राष्ट्रीय ऐक्य को तोड़ने के लिए अंग्रेजों ने भी तब साम्प्रदायिक तत्त्वों को खूब प्रोत्साहन दिया।

उस युग में आर्यसमाज के साथ गुरुकुल कांगड़ी पर भी सरकारी कोप की काली घटा छा गई। गुप्तचर विभाग द्वारा गुरुकुल के विरोध में रिपोर्टें दी गईं। प्राध्यापक वेदभूति श्रीपाद दामोदर सातवलेकर को गुरुकुल में ही गिरफ्तारी हुई। गुरुकुल की बारम्बार इस सूचना पर तलाशी ली गई कि वहाँ ब्रह्मचारियों को बम बनाना सिखाया जाता है और जंगल के एकान्त में घुड़सवारी तथा घनुविद्या का तथा अन्य शस्त्रास्त्रों को चलाने का अभ्यास कराया जाता है। उस समय दीनबन्धु सी०एफ० एण्ड्रूज ने बड़े अंग्रेज अधिकारियों से मिलकर उनके समक्ष गुरुकुल के केवल धार्मिक और राष्ट्रीय शिक्षणालय के रूप को उभार कर मध्यस्थता की। तभी इंग्लैण्ड के भावी प्रधानमंत्री सर रैम्जे मैकडानल्ड, वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड और उत्तर प्रदेश के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने स्वयं गुरुकुल की यात्रा

की। इससे छात्रों की राष्ट्रीय भावना तो नष्ट नहीं हुई, पर देश-विदेश के पत्रों में सर्वोच्च अंग्रेज अधिकारियों की इस यात्रा की चर्चा के कारण सरकार के कोप के कारण सम्भावित अवांछनीय स्थिति से गुरुकुल बच गया। इस सब घटना चक्र का विवरण नीचे और दसवें अध्याय में है।

ग्यारहवें अध्याय में आर्यसमाज की देशभक्ति की भावना और ईसाइयत के विरोध को जोड़कर अंग्रेजी शासन को हटाने की भूमिका मानने का और सत्यार्थ-प्रकाश के राजद्रोहात्मक अंशों के उद्धरण देकर, सैण्ड्स की रिपोर्ट के आधार पर आर्यसमाज के विरुद्ध सरकार की कार्यवाही का वर्णन है। सैण्ड्स की रिपोर्ट सन् १९१० के मार्च मास में प्रकाशित हुई थी। उसके आधार पर भारत सरकार के गुप्तचर विभाग के निदेशक सो० ग्यार० क्लीवलैंड ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में अपनी राय इन शब्दों में दी थी — “भारत में यह सबसे भयंकर ब्रिटिश सरकार विरोधी आन्दोलन है। यह सुनिश्चित सामाजिक-धार्मिक और राजनीतिक विश्वास पर आक्षेप करता है, वैचनी और असन्तोष को विद्रोह में परिवर्तित करता है और विभिन्न वर्गों को एक राष्ट्रीय तथा स्पष्ट रूप से ब्रिटिश-विरोधी आधार पर एक सूत्र में आवद्ध करता है।”

क्लीवलैंड की उक्त टिप्पणी पर भारत सरकार के गृह विभाग के उच्च-अधिकारियों ने गम्भीरता से विचार किया। श्री ए० अर्ली ने सुझाव दिया कि समस्त आर्यसमाज के विरुद्ध कार्यवाही करना मुझे अव्यावहारिक प्रतीत होता है। इसलिए वैधानिक आन्दोलनों की सीमा का अतिक्रमण करने वालों के विरुद्ध तो हमें सख्ती बरतनी चाहिए, पर समूचे आर्यसमाज के प्रति नहीं। इस प्रकार दो विरोधावृष्टिकोणों को देखते हुए गृह-विभाग के जे० एल० जे० एनकिन्स ने सुझाव दिया कि देशक आर्यसमाज के कुछ सिद्धान्त ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा से मेल नहीं खाते और अनेक राजद्रोहात्मक कार्यों में भी आर्यसमाजी लगे हुए हैं, किन्तु आमतौर पर मनुष्यों के कार्य सदा अपने सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं होते। आर्यसमाज अन्य धर्मों के प्रति जो विरोध प्रकट करता है, उससे अन्य धर्मों वाले भी उसके प्रभाव और विस्तार को सीमित कर देते हैं। दूसरी ओर इस बात को भी नजरन्दाज नहीं करना चाहिए कि ज्यों-ज्यों आर्यसमाज का प्रभाव बढ़ेगा त्यों-त्यों मुसलमान ब्रिटिश शासन की शरण में चले जाएंगे। इस प्रकार आर्यसमाज के प्रचार से ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षा भी प्राप्त होती है।

इस टिप्पणी से जहाँ यह पता लगता है कि भारत सरकार आर्यसमाज के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही को उचित नहीं मानती थी, वहाँ आर्यसमाज और मुसलमानों में मतभेद बढ़ाकर मुसलमानों को ब्रिटिश राज्य का प्रबल प्रुष्ठ पोषक भी बनाना चाहती थी और ‘फूट डालो, राज्य करो’ की नीति अपना रही थी।

आर्यसन्देश

इसी टिप्पणी में गवर्नरों की भूमिका के बारे में भी एक नवीन सुझाव दिया गया था। वह यह था कि गवर्नर आर्यसमाज के नेताओं पर अपना प्रभाव और दबाव डालकर उन्हें इस बात के लिए बाधित करे कि वे आर्यसमाज को राजद्रोह के पथ पर जाने से रोकें। आर्यसमाज के नेताओं के वशीकरण का यह मंत्र असाधारण महत्व का था। तभी उत्तर प्रदेश के गवर्नर तथा अन्य उच्च सरकारी अधिकारी बार-बार गुरुकुल कांगड़ी तथा गुरुकुल वृन्दावन एवं आर्यसमाज की अन्य संस्थाओं में जाने लगे। इन संस्थाओं के प्रति आर्यजनता की जैसी श्रद्धा थी उसके कारण जनता पर भी इस दांव का अच्छा असर पड़ा। उसके बाद जब वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड गुरुकुल कांगड़ी गए, तब से आर्यसमाज के प्रति उसे राजद्रोही संस्था समझे जाने की प्रवृत्ति में परिवर्तन आने लगा।

उपरोक्त घटनाचक्र के कारण आर्यसमाज के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई तो रुक गई, पर सेना में आर्यसमाजियों को भर्ती करने के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया। जिन इलाकों से सैनिक अधिक संख्या में भर्ती होते थे इनमें आर्यसमाज का काफी प्रभाव था। बनारस छावनी में तथा कुछ अन्य छावनियों में सर्वथा घामिक क्रिया-कलाप के लिए आर्यसमाजों की स्थापना हुई। सेना में विभिन्न घर्मों के मानने वाले लोग भर्ती होते थे और उन सब को अपने विश्वास के अनुसार अपने धर्म के पालन की पूरी स्वतन्त्रता थी। इसीलिए आर्यसमाजियों को भी यह स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए थी, पर जब प्रधान सेनापतियों को हिन्दी के ऐसे अनेक गुप्तनाम पत्र मिले जिनके शुरु में 'ओ३म्' लिखा होता था—'क्योंकि आर्यसमाजी इसे परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम मानते हैं—तब सेनापति के कान खड़े हो गए। उसे 'ओ३म्' में भी विद्रोह की ध्वनि सुनाई दी। कानपुर की एक रेजिमेण्ट ने जब अपने साप्ताहिक सत्संग लगाना शुरू किया तब उसे आपत्तिजनक समझा गया और सत्संग में जाना निषिद्ध कर दिया गया। एक सिपाही को इस काम के लिए दण्डित भी किया गया। जाट रेजिमेण्ट के कुछ सैनिक 'जाट समाचार' 'जाट हितकारी' और 'केसरी' जैसे पत्र मंगाते थे, उन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस रेजिमेण्ट की गतिविधियों पर अंकुश के लिए लेफ्टि० कर्नल प्रसी को दूसरी रेजिमेण्ट में भेज दिया गया।

यह ध्यान देने की बात है कि उस युग में बंग भंग के बाद सारे देश में स्वदेशी आन्दोलन उत्साह से चलाया जा रहा था। पंजाब के लगभग सभी शहरों कस्बों में 'स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी' सभाएं स्थापित की गई थीं और लाला लाजपत-राय के नेतृत्व में पंजाब के आर्यसमाजी इस आन्दोलन में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे। हरियाणा भी उन दिनों पंजाब का ही भाग था। जो सैनिक छुट्टी पर आते वे इस स्वदेशी आन्दोलन से अप्रभावित कैसे रहते। गुप्तचर विभाग ने भी अति-

शयोक्तिपूर्ण रिपोर्ट दी। फलतः सैनिकों के शहरी जनता से सम्पर्क पर भी रोक लगा दी गई और सैनिकों की सारी डाक भी सीधी कमांडेंट के घर जाने लगी, जिससे वे उसका भलीभांति निरीक्षण कर सकें। उन्हीं दिनों दसवीं रेजिमेंट से कई सिपाहियों को आर्यसमाजी साहित्य रखने और आर्यसमाजी गतिविधियों में भाग लेने के आरोप में सेना से निष्कासित भी किया गया। इस रेजिमेंट में जाटों की संख्या काफी थी। कोहाट, वंगलौर और बड़ौदा में कुछ सिपाहियों ने आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में भाग लिया तो भविष्य में उन्हें ऐसा न करने की चेतावनी दी गई। कुछ जाट सैनिकों पर राजद्रोह का अभियोग भी चलाया गया। प्रधान सेना कार्यालय ने यह विज्ञप्ति भी निकाली कि हिन्दू और सिख अपनी धार्मिक समानताओं में अपने कमांडिंग ऑफसर की अनुमति लेकर जा सकते हैं, किन्तु आर्यसमाज के सत्संगों और समारोहों में किसी के जाने की छूट नहीं होगी। दसवीं रेजिमेंट में भर्ती होने के लिए इच्छुक लोगों से पूछा जाता था कि 'तुम आर्य हो' उसके हां कहने पर उसे अयोग्य घोषित कर दिया जाता था। सैन्य अधिकारियों ने यह भी कहा कि यदि आर्यसमाजियों को सेना में भर्ती होने से रोक दिया जाए तो वह कठोर कार्यवाही नहीं मानी जाएगी।

अन्त में प्रधान सेनापति ने स्वयं निर्णय किया कि एक ही मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है और सेना की राजभक्ति सदा निष्कलंक होनी चाहिए, इसलिए भविष्य में कोई आर्यसमाजी सेना में भर्ती नहीं किया जाएगा।

प्रधान सेनापति ने यह स्वीकार किया कि अनेक राजभक्त और माननीय सदस्य आर्यसमाज के भी सदस्य हैं और ईडर के मेजर जनरल सर प्रतापसिंह आर्यसमाजी होते हुए भी वायसराय की काउंसिल के सदस्य हैं, पर उनका मत यही रहा कि आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था के रूप में भले ही शुरू हुआ, पर अब वह अधिकांश में राजनीतिक संस्था बन गया है। इसलिए सेना पर इसका प्रभाव बढ़ने देना बड़ा खतरनाक होगा। फिर भी आर्यसमाजियों पर सेना में भर्ती होने के लिए सर्वथा प्रतिबन्ध लगाने के सम्बन्ध में भारत सरकार से स्वीकृति ली जानी चाहिए।

जब प्रधान सेनापति का नोट गृह विभाग के पास पहुँचा तो उसने आर्यसमाजियों के भर्ती होने पर पूर्ण प्रतिबन्ध की अनुमति नहीं दी, क्योंकि उसे भय था कि इस प्रश्न को ब्रिटिश पार्लियामेंट तक में उठाया जाएगा और तब सरकार को अपने कदम का बचाव करना मुश्किल हो जाएगा। पंजाब और उत्तर प्रदेश की सरकारों ने भी व्यक्तिगत कार्रवाई का तो समर्थन किया, किन्तु सामूहिक कार्यवाही का नहीं, क्योंकि इससे उन्हें ज्वाला के और प्रचण्ड रूप ग्रहण करने की आशंका थी। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उस समय भारत सरकार

सैन्य विभाग तो आर्यसमाजियों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने को कटिबद्ध था, पर गृह विभाग इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उसे अनुमान था कि आर्यसमाजियों की योद्धावृत्ति के कारण इस आन्दोलन को शक्ति के जोर से दबाना आसान नहीं होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि गृह-विभाग इस विषय में सैन्य विभाग का समुचित पथप्रदर्शन और नियन्त्रण न करता, श्रीर वायसराय आर्यसमाज के अनुकूल निर्णय न लेते। आर्यसमाज पर सामूहिक रूप से प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय किया जाता तो अवश्य ही एक नया आन्दोलन उठ खड़ा होता। इस विवरण के साथ बारहवां अध्याय समाप्त होता है।

उसके बाद तेरहवें अध्याय में आर्यसमाजियों के राजनीतिक उत्पीड़न का वर्णन है। सब से पहले लाला लाजपतराय उसके शिकार हुए। उन्हें बिना कोई मुकदमा चलाए देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया, पर पंजाब सरकार पूरा प्रयत्न करके भी उनके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं जुटा सकी जिससे उन पर अभियोग लगा लगाकर दण्डित किया जा सकता। अतः उन्हें अपनी सफाई का मौका दिए बिना ही निर्वासित कर दिया गया। अन्य अनेक सैकड़ों निर्दोष आर्यसमाजियों को दण्डित किया गया। सरकार की इस वक्रदृष्टि से भयभीत होकर कुछ लोगों ने आर्यसमाज से अपना सम्बन्धविच्छेद भी कर लिया। इससे उन्हें वेतनवृद्धि आदि का लाभ भी मिला। इसी अध्याय में कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो सरकार के उत्पीड़न का ज्वलन्त प्रमाण हैं तो साथ ही आर्यसमाजियों के दृढ़ चरित्रबल का भी। ऐसे अनेक आर्यपुरुष निकले जिन्होंने सहर्ष सरकारी सविस् छोड़ दी, पर आर्यसमाज को नहीं छोड़ा। कई अंग्रेज अफसरों ने गाँव वालों को प्रेरित किया कि वे अपने गाँव से आर्यसमाजियों को निकाल दें। कई स्थानों पर यज्ञोपवीत पहनने पर प्रतिबन्ध लगाया गया, तब आर्यसमाजियों ने उसका खुलकर विरोध किया। सैनिकों को आदेश दिया गया कि जो सिपाही अपनी नौकरी बनाए रखना चाहते हैं उन्हें अपने जनेऊ को तिलांजलि दे देनी चाहिए। भविष्य में जनेऊ पहनने वालों को बागी समझा जाएगा। परन्तु आर्यसमाजियों की दृढ़ता के आगे अधिकारियों को अपना आदेश वापस लेना पड़ा। इसके साथ तेरहवां अध्याय समाप्त होता है।

उस समय के पूरे वातावरण को समझने के लिए ग्यारहवां, बारहवां और तेरहवां अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं इसलिए हमने कुछ विस्तार से उनकी चर्चा की है।

पटियाला केस

१४, १५, १६ और १७ वें अध्याय में पटियाला अभियोग का विस्तृत वर्णन है—कि किस प्रकार ब्रिटिश भक्त पटियाला नरेश ने ११५ आर्यसमाजियों को गिर-

सत्यकेतु स्मृति अंक

पतार किया था जिनमें से केवल ४० को जमानत पर छोड़ा गया। इस केस का आर्यसमाज के इतिहास में विशेष महत्व इसलिए भी है कि इसी केस में सरकारी वकील ने सार्वजनिक रूप से आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। इससे पहले केवल गुप्तचरों का रिपोर्ट में ही वर्णन होने से आम जनता तक वे आरोप नहीं पहुंचे थे। महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु (बाद में स्थायी श्रद्धानन्द) और आचार्य रामदेव ने 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्ट्स' नामक पुस्तक में इस केस का विस्तृत वर्णन किया है। इस केस में आर्यसमाज पटियाला के प्रधान से लेकर चपरासी तक सब को गिरफ्तार कर लिया गया था। उनके घरों की बुरी तरह तलाशी ली गई थी। इस तलाशी में गाड़ियां भर कर जो कागजात और पुस्तकें एकत्र की गयीं, उनमें सत्यायप्रकाश तथा ऋषि दयानन्द के अन्य ग्रन्थ और आर्य नेताओं के चित्र भी थे। पटियाला नरेश ने इस केस की मुनवाई के लिए विशेष अदालत बनाई थी और उसे चीफ कोर्ट के अधिकार दिए गए थे। गिरफ्तार व्यक्तियों को कोई चार्जशीट भी नहीं दी गई थी। ये गिरफ्तारियां ११ अक्टूबर, १९०६ को हुईं और मुकदमा २२ नवम्बर से शुरू हुआ। पटियाला नरेश ने यह प्रतिबन्ध भी लगा दिया कि अभियुक्त अपनी पैरवी के लिए पटियाला के बाहर का कोई वकील नहीं रख सकते। सरकारी वकील ने आर्यसमाज को और आर्य प्रतिनिधि सभा को राजनैतिक संस्था बताते हुए यह भी कहा था कि महाराजा अपने पितामह के समय अंग्रेजों के साथ एक संघ में बंधे हैं, इसलिए अंग्रेजा हकूमत को हटाने या उलटने का प्रयत्न करना ऐसा अपराध है जिसके लिए दण्डित करने का महाराज को पूरा अधिकार है।

सरकारी वकील ने कहा कि यदि आर्यसमाज केवल धार्मिक संस्था होती तो उसके संस्थापक को सेना, राज्यव्यवस्था और आदर्श राज्य आदि का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी। 'आर्याभिविनय' में विदेशी हम पर शासन न करे—यह प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता थी, श्याम जी कृष्ण वर्मा जैसे प्रसिद्ध क्रान्तिकारी को अपना शिष्य बनाने की और उसे परोपकारिणी सभा का सदस्य बनाने की क्या आवश्यकता थी? इसके अलावा लाला लाजपतराय द्वारा लिखित कई पुस्तकों का उल्लेख किया गया, जिनमें मेजिनी, मेरीबाल्डी, शिवाजी और स्वामी दयानन्द की जीवनियां शामिल हैं। इसी प्रसंग में गुरुकुल कांगड़ी और उसकी सरकार-विरोधी शिक्षा पद्धति की भी चर्चा की गई। इस केस में महात्मा मुंशीराम भी वकील के रूप में पेश हुए थे। उन दिनों पटियाला में आर्य-कुमार सभा और विद्यार्थी आचार सुधारिणी सभा भी स्थापित थी, सर छोटूराम उसके मंत्री थे और इस सभा में प्रायः स्वराज्य प्राप्त करने के उपायों पर भी विचार होने का हवाला दिया गया। कई आर्यसमाजियों द्वारा स्वदेशी वस्तुओं की दुकान खोलने को और ट्रिब्यून, केसरी, पंजाबी, प्रकाश, बन्देमातरम्, भारतभगिनी

और स्वराज्य आदि अखबारों के पढ़ने-पढ़ाने को भी राजद्रोह माना गया। एक दुकान में बेचने के लिए मंगाए गए तिलक, अजीतसिंह, अरविन्द घोष और १८५७-सैन्य विद्रोह के नेता नाना साहब, रानी झांसी, टीपू सुलतान तथा खुदीराम बोस के चित्रों को भी आपत्तिजनक माना गया।

अन्त में १८ जनवरी १९१० को अभियुक्तों की ओर से एक बिना शर्त माफीनामा पेश किया गया, जिस पर महाराजा ने मुकदमा तो उठा लिया, पर जो लोग सदियों से पटियाला में रहते आए थे और जिनकी हजारों-लाखों की सम्पत्ति थी उन सब को एक सप्ताह के अन्दर रियासत छोड़कर चले जाने का और फिर कभी पटियाला में प्रवेश न करने का आदेश दिया। माफीनामा तो इस आश्वासन पर दिया गया कि अभियुक्तों को पूरी तरह माफ कर दिया जाएगा, पर महाराजा ने उस आश्वासन को तो भंग किया ही, अभियुक्तों का जो सामान जब्त किया गया था, वह भी नहीं लौटाया गया। पटियाला-नरेश ने अंग्रेजों के प्रति अपनी वफादारी सिद्ध करने के लिए ही यह सब किया था।

इस पटियाला केस में आर्यसमाज को कड़ी अग्नि-परीक्षा में से गुजरना पड़ा, परन्तु उसके विरुद्ध राजद्रोह का अभियोग सिद्ध नहीं हुआ। समस्त राजसी-शक्ति, धुरन्धर वकील और राज्य की पुलिस दो वर्ष तक इन राजद्रोहियों के विरुद्ध प्रमाण खोजते रहे, ताकि उन्हें न्यायालय द्वारा दण्डित किया जा सके, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। दूसरी उपलब्धि इस केस की यह मानी जा सकती है कि उस समय आर्यसमाज के जो दो दल बन गए थे—घास पार्टी और मांस पार्टी—वे कुछ समय के लिए एक हो गए। यह अभियोग आर्यसमाज के संगठन और अस्तित्व दोनों के लिए महान् संकट था, जिसने दोनों दलों को उस संकट का सामना करने के लिए संयुक्त कर दिया।

उसके बाद आर्यसमाज की ओर से सरकार के सन्देशों को दूर करने के लिए चार प्रकार के प्रयास किए गए—(१) उच्चतम सरकारी अधिकारियों से मिलकर उनका भ्रम निवारण, (२) व्याख्यान और प्रचार, (३) पुस्तक-पुस्तिकाओं का प्रकाशन और (४) व्यक्तिगत सम्पर्क। इस चहुंमुखी नीति के द्वारा आर्यसमाज के धार्मिक संस्था होने का खूब ढोल पोटा गया जिसके परिणाम स्वरूप अंग्रेज अधिकारियों के रवैये में भी परिवर्तन आया। परन्तु इस बीच ईसाई मिशनरी तथा मुस्लिम मौलवी आर्यसमाज को राजद्रोही और स्वयं को राजभक्त सिद्ध करने में निरन्तर लगे रहे। लाला लाजपतराय के निर्वासन के साथ आर्यसमाज पर जो कालीघटा छाई थी उसका निवारण करने में स्वामी श्रद्धानन्द ने जिस निर्भीकता से और समझदारी से आर्यसमाज का नेतृत्व किया उसी का फल यह हुआ कि आर्यसमाजियों का मनोबल घटने के बजाय और बढ़ गया। १७ वें अध्याय में सत्यकेतु स्मृति अंक

लाला लाजपतराय के विचारों और कृतित्व का विस्तृत उल्लेख है जिनकी गिर-
फ्तारी से आर्यसमाज के प्रति सरकारी कोप प्रारम्भ हुआ था। अठारहवें अध्याय
में विदेशों में क्रान्तिकारी संगठन के पुरोधा श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा के कृतित्व का
विशेष वर्णन है।

इसके बाद १६, २०, २१, २२ और २३वें अध्याय में क्रमशः वेदों के क्रान्ति-
कारी व्याख्याकार श्री सातवलेकर, स्वामी अभयदेव और अन्य आर्य विद्वानों द्वारा
स्वराज्य और लोकतंत्र की भावना का प्रचार, फिर भाई परमानन्द, लाला हरदयाल,
पं० परमानन्द भांसी वाले, हाडिंग वमकाण्ड से सम्बन्धित मा० अमीरचन्द, भाई
बालमुकुन्द और शाहपुरा (राजस्थान) के बारहठ परिवार और उत्तर प्रदेश के
प्रसिद्ध क्रान्तिकारी गेंदालाल दीक्षित और पंजाब के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार
भगतसिंह का अलग-अलग पर्याप्त विस्तार से उल्लेख है। सरदार भगतसिंह के
समस्त परिवार के आर्यसमाज के सम्पर्क में आने का एक सुपरिणाम यह भी हुआ
कि सिक्खों और हिन्दुओं में सौमनस्य की स्थापना हुई और अनेक सिक्खों ने भी
भी स्वराज्य प्राप्ति के निमित्त क्रान्तिकारी आंदोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया।
आज कल के सिक्ख जब स्वराज्य प्राप्ति के लिए सिक्खों के बलिदानों की चर्चा
करते हैं तब वे उन्हीं बलिदानी सिक्खों के पक्ष को अपने खाते में डालते हैं, जबकि
अमलियत यह है कि अंग्रेजों के पिछू अधिकंश सिक्ख उन बलिदानियों का सदा
विरोध ही करते रहे थे।

चौबीसवें अध्याय में स्वामी श्रद्धानन्द के राजनीति में प्रवेश, दिल्ली के
राष्ट्रीय जागरण में उनकी प्रमुख भूमिका, रौलट एक्ट के विरुद्ध आंदोलन, अमृतसर
में कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के रूप में उनके कांग्रेसी मंच से दिए गए प्रथम हिन्दी भाषण
और प्रथम बार कांग्रेसी मंच से दलितों की समस्या के उल्लेख का वर्णन है। २५वां
अध्याय पं० रामप्रसाद बिस्मिल के कृतित्व को समर्पित है। २६वें अध्याय में
राजस्थान में महर्षि के आगमन से लेकर अब तक हुए राजनैतिक आंदोलनों में
और रियासतों के प्रजा मंडलों में आर्यसमाज के कर्तृत्व का उल्लेख है। सत्ताईसवें
अध्याय में कांग्रेस के नेतृत्व में चले असहयोग आंदोलन और स्वराज्य प्राप्ति आंदोलन
के प्रति आर्यनेताओं के मिले-जुले रुख का, परन्तु आर्य जनता द्वारा उसमें भारी संख्या
में शामिल होने का उल्लेख है। २८वें अध्याय में महात्मा गांधी और कांग्रेस की
मुस्लिम लुष्टिकरण नीति के विरोध में हिन्दू संगठन पर और शुद्धि आंदोलन पर
जोर देने का सविस्तर उल्लेख है। उनतीसवें अध्याय में राजनीति में भाग लेने
के सम्बन्ध में आर्य नेताओं के परस्पर विरोधी विचार, स्वराज्य सम्मेलन और
राजार्थ सभा के निर्माण का और सन् १९२६ के बाद सन् १९४७ तक देश की
राजनीतिक गति-विधियों को परोक्षरूप से प्रभावित करने के उल्लेख के साथ यह

खण्ड समाप्त होता है।

अन्त में इस खण्ड में जिन मूल स्रोतों से सहायता ली गई है, उनकी लंबी सूची और शब्दानुक्रमिका है। पृष्ठ संख्या ७३५ और चित्रों के ६६ पृष्ठ अलग हैं जिनमें सी से ऊपर व्यक्तियों का सचित्र विवरण है।

पांचवां खण्ड (साहित्य के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप)

इस खण्ड में २१ अध्याय डा० भवानीलाल भारतीय ने और ४ अध्याय प्रो० हरिदत्त वेदालंकार ने लिखे हैं। इस प्रकार कुल २५ अध्याय, ६८८ पृष्ठ और चित्रों के ७५ पृष्ठ हैं।

आर्यसमाज के आंदोलन को व्यापक और सबल बनाने में उसके साहित्य का भारी महत्त्व है। यह साहित्य केवल हिन्दी में नहीं, बल्कि अनेक विदेशी भाषाओं में और भारत की प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं में फैला हुआ है। प्रिंटिंग प्रेस और कगज आदि के आविष्कार के बाद इस साहित्य को जनता तक पहुंचाना भी सुगम हो गया। ऋषि दयानन्द के बाद उनके शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा तथा आर्यसमाज के खण्डन-मण्डन आदि से सम्बद्ध बहुत साहित्य तैयार हुआ है। हजारों की संख्या में छोटी-बड़ी पुस्तकें, ट्रैक्ट और पत्र-पत्रिकाएं आज भी प्रकाशित हो रही हैं। जिस प्रकार आर्यसमाज ने समाज सुधार, पाखण्ड खंडन और कुरीतियों के निवारण तथा सामाजिक न्याय की स्थापना में महान् कार्य किया है, वैसा ही महान् कार्य उसने साहित्य निर्माण के क्षेत्र में भी किया है। इस भाग में आर्यसमाज के उसी विशाल साहित्य का दिग्दर्शन है। डा० भवानीलाल भारतीय ने अनेक वर्षों के परिश्रम के पश्चात् 'डाक्टरेट' की डिग्री के लिए यही विषय चुना था। उनका वह शोध प्रबन्ध इस खंड को तैयार करने में सब से अधिक सहायक हुआ है। अपनी जीवन व्यापी खोज के पश्चात् उन्होंने आर्य साहित्य की जो विशाल सूची तैयार की है, वह भी इसमें सहायक हुई है। इस साहित्य में केवल गम्भीर दार्शनिक, शास्त्रीय और धार्मिक साहित्य ही नहीं, कथा-कहानी-काव्य आदि ललित साहित्य भी शामिल है जो गद्य-पद्य दोनों में है।

आर्य जाति का जो शास्त्रीय साहित्य समझा जाता है उसमें वैदिक संहिताओं से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, आरण्यक और वेदांग तथा उपांग तो शामिल हैं ही, इतिहास-पुराण और महाकाव्य के अतिरिक्त नव-जागरण संबंधी साहित्य भी शामिल है। ऋषि दयानन्द के द्वारा प्रणीत साहित्य को और ऋषि के अनुपलब्ध ग्रंथों को पृथक् अध्याय देकर तत्पश्चात् वेदादि शास्त्रीय साहित्य के लिए एक एक अलग अध्याय लिखा गया है। तीसरे अध्याय में आर्यसमाज के वैदिक

साहित्य, चतुर्थ में उपनिषद् विषयक साहित्य, पञ्चम में दर्शनविषयक साहित्य, छठे में स्मृति और नीतिशास्त्र सम्बन्धी साहित्य का विवरण है।

सातवें अध्याय में आर्य सिद्धान्तों के समर्थन में लिखे गए ग्रंथों का, शुद्धिविषयक, तुलनात्मक धर्मविषयक तथा अन्य फुटकर विषयों से सम्बद्ध ग्रंथों का विवरण है। आठवें अध्याय में कर्मकाण्ड और १६ संस्कारों से संबंधित और नौवें अध्याय में खंडनात्मक साहित्य का विवरण है। इसमें पौराणिक मतों, इस्लाम और ईसाइयत, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तीर्थ, फलित ज्योतिष तथा मध्यकालीन और अर्वाचीन मतों के खंडन में लिखे गए ग्रंथों का विवरण है। यह विवरण केवल नीरस तालिका-समन्वित नहीं, प्रत्युत पूर्वापर पृष्ठभूमि और अमुक अमुक ग्रंथों की विषय वस्तु के दिग्दर्शन से भी युक्त होने के कारण बहुत काम का है। विषय वैविध्य के साथ परिमाण में भी यह कम नहीं है।

दसवें अध्याय में स्वामी जी के जीवन-चरित्र और उनके व्यक्तित्व के संबंध में लिखे गए ग्रंथों का और ग्यारहवें अध्याय में आर्यसमाज के संबंध में लिखे गए साहित्य का विवरण है जिसमें आर्यसमाज के विधि-विधान और शिक्षा संबंधी साहित्य से लेकर हैदराबाद आर्य सत्याग्रह और गोरक्षा तथा हिन्दी रक्षा आंदोलन संबंधी साहित्य भी समाविष्ट है।

बारहवें अध्याय में आर्यसमाज के संस्कृत साहित्य का और आर्य लेखकों द्वारा लिखे गए संस्कृत ग्रंथों का विवरण है। तेरहवें अध्याय में आर्यसमाज के हिन्दी साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला गया है जिसमें भारतेन्दु काल से लेकर आधुनिक काल तक कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि भी शामिल हैं। चौदहवें अध्याय में आर्यसमाज के जीवनी साहित्य का वर्णन है—जिसमें आर्य महापुरुषों के, प्रमुख आर्य संन्यासियों के, विद्वानों, नेताओं, उपदेशकों तथा अन्य बलिदान की वीरों के तथा रामायण-महाभारत पर आधारित जीवन चरित्रों का वर्णन तो है ही, आर्यसमाज के आत्मकथा साहित्य पर भी प्रकाश डाला गया है। पंद्रहवें अध्याय में आर्यसमाज के ऐसे फुटकर साहित्य का विवेचन है, जिसमें अभिनन्दन ग्रन्थ, स्मारिकाएँ, यात्रा-साहित्य, नारी-शिक्षा विषयक साहित्य, इतिहास विषयक और सामयिक राजनीति विषयक साहित्य, स्वास्थ्य रक्षा विषयक और विभिन्न धर्म ग्रंथों के अनुवाद और टीका संबंधी साहित्य शामिल है। सोलहवें अध्याय में आर्यसमाज के भजन-साहित्य का और बीसवीं सदी के मजदूरपक्षकों और उनकी रचनाओं का वर्णन है—जिनका आर्यसमाज की ओर जनता को आकर्षित करने में विशेष योगदान रहा है।

सत्रहवें अध्याय में आर्यसमाज के पत्रों और पत्रकारिता का, पत्रों के अंतरंग और बहिरंग का, आर्य पत्रकारिता के विविध युगों का और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं का वर्णन है। अठारहवें

अध्याय में आर्यसमाज के अन्तर्गत विविध विद्वानों द्वारा लिखे गए शोधग्रंथ, ऋषि दयानन्द के जीवन और कृतित्व सम्बन्धी शोधकार्य और संस्थागत शोधकार्यों का परिचय है उन्नीसवें अध्याय में अन्य भारतीय भाषाओं में और अंग्रेजी में लिखे गए आर्य साहित्य का परिचय दिया गया है। बीसवें अध्याय में आर्य साहित्य के प्रकाशन से सम्बद्ध आर्यसमाज के प्रयासों का और आर्य साहित्य के प्रकाशकों का अकारादि क्रम से वर्णन है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इन आर्य प्रकाशकों की संख्या ७८ तक पहुँच गई है, जिनमें कुछ देश-विभाजन से पूर्व पंजाब और सिन्ध से भी सम्बन्धित हैं। इक्कीसवें अध्याय में आर्यसमाज के विरोध में लिखे गए साहित्य का भी उल्लेख है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि आर्यसमाज के प्रचार में इन विरोधी ग्रंथों का भी महत्व है, क्योंकि तब आर्यसमाजी विद्वानों को उनका उत्तर देने के लिए अपने सिद्धान्तों का और अधिक गम्भीर मंथन करने का अवसर मिला।

बाईसवें से लेकर पच्चीसवें अध्याय तक हिन्दी गद्य के उन्नायक के रूप में ऋषि के हिन्दी गद्य लेखन पर प्रभाव का और ऋषि की विभिन्न गद्य शैलियों का विवरण है। आर्यसमाज के उपन्यासकारों, कथाकारों, नाटककारों और निबन्धकारों तथा गद्य काव्य प्रणेताओं का संक्षिप्त परिचय है, हिन्दी काव्यधारा में द्विवेदी युग से लेकर आधुनिक युग तक आर्यसमाज के योगदान का परिचय है और अन्त में आर्य विद्वानों द्वारा इतिहास, राजनीति शास्त्र, समाज-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, अन्य वैज्ञानिक साहित्य, जीवनी साहित्य, यात्रा साहित्य, वन्यजीवन सम्बन्धी साहित्य तथा आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों का परिचय है।

परिशिष्ट (१) में आर्यसमाज के ४४ विद्वानों के वेदशास्त्र सम्बन्धी कार्यों का संक्षिप्त परिचय है। परिशिष्ट (२) में बंगाल के आर्य साहित्य के प्रणेताओं का और उनके लिखे ग्रन्थों का परिचय है। परिशिष्ट (३) में उड़िया भाषा के आर्य-साहित्य का परिचय है। परन्तु भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में लिखे गए साहित्य का और उसके प्रणेताओं के वर्णन का अभाव खटकता है। परिशिष्ट (४) में आर्यसमाज के फुटकर साहित्य का उल्लेख है। परिशिष्ट (५) में वेदशास्त्रों की व्याख्या तथा भाष्य के लिए किए गए महत्वपूर्ण कार्य का सोदाहरण दिग्दर्शन है।

इन परिशिष्टों का भी अपना अलग महत्त्व है। ७५ पृष्ठ चित्रों के हैं जिनमें इस इतिहास के संरक्षकों और प्रतिष्ठित सदस्यों का संक्षिप्त सचित्र परिचय है। इस प्रकार यह खंड समाप्त होता है।

छठा खण्ड (स्वराज्य-संघर्ष में आर्यसमाज का योगदान (१९२६-१९४७) तथा स्वतन्त्र भारत में आर्यसमाज की गतिविधि)

इस खंड में २८ अध्याय हैं जिनमें से १२ अध्याय पं० सत्यकेतु विद्यालंकार ने, ५ भवानीलाल भारतीय ने और ११ अध्याय दत्तात्रेय तिवारी ने लिखे हैं। कुल ६५० पृष्ठ हैं और ८० पृष्ठ चित्रों के हैं।

बीसवीं सदी के प्रथम चरण में भारत की स्वाधीनता के लिए जो आन्दोलन चला वह दो प्रकार का था—नरम और गरम, अर्थात् क्रान्तिकारी और शान्तिमय। ऋषि दयानन्द से स्वराज्य और स्वदेशोन्नति की प्रेरणा पाकर आर्यसमाजी अपनी रुचि और परिस्थिति के कारण इन दोनों प्रकार के आन्दोलनों में भाग लेते रहे। महात्मा गांधी के कार्यक्षेत्र में उतरने से पूर्व स्वाधीनता आन्दोलन अधिकतर क्रान्तिकारियों के हाथ में था। तब हम देखते हैं कि क्रान्तिकारियों की पंक्ति में आर्यसमाजी सब से आगे हैं। लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद जब महात्मा गांधी ने कांग्रेस की वागडोर संभाली तब उनके शान्तिमय असहयोग आन्दोलन में भी आर्यसमाजियों ने सब से आगे रह कर भाग लिया। हो भी क्यों न—मुख्य लक्ष्य था स्वराज्य प्राप्ति—फिर चाहे वह अहिंसा से प्राप्त हो, चाहे हिंसा से।

नरम और गरम दोनों प्रकारों में आर्यसमाजियों के बड़ चढ़ भाग लेने का एक ऐतिहासिक पहलू भी है। कांग्रेस के मंच से 'स्वराज्य' शब्द का सब से पहले प्रयोग सन् १९०६ में दादाभाई नौरोजी ने किया था—जिन्हें कांग्रेस का पितामह कहा जाता है। यह कल्पना असंगत नहीं है कि नौरोजी ने 'स्वराज्य' की प्रेरणा सत्यार्थप्रकाश से ग्रहण की। कारण—दादाभाई नौरोजी लन्दन में श्यामजी कृष्ण वर्मा के निवास स्थान पर लगने वाले आर्यसमाज के सत्संगों में प्रायः जाया करते थे। वहां सत्यार्थप्रकाश से उनका परिचय अवश्य हुआ होगा। सत्यार्थप्रकाश से परिचित व्यक्ति 'स्वराज्य' शब्द से भी अपरिचित नहीं रह सकता। इस कारण यदि दादा भाई राष्ट्रीय चेतना के पितामह हैं, तो ऋषि दयानन्द उस चेतना के प्रपितामह हैं।

यह प्रपितामहत्व यों भी सिद्ध होता है—महात्मा गांधी गोखले को अपना गुरु मानते थे, गोखले रानाडे को और रानाडे ऋषि दयानन्द को। ऋषि के पूना-प्रवचनों के आयोजन में रानाडे का प्रमुख हाथ था। जहां तक क्रान्ति पथ के अनुसरण का प्रश्न है—उसमें भी प्रपितामह ऋषि दयानन्द ही ठहरते हैं। भगतसिंह आदि क्रान्तिकारियों के गुरु भाई परमानन्द, लाला हरदयाल और विनायक

न्दाभोदर सावरकर आदि प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों के गुरु श्याम जी कृष्ण वर्मा और श्याम जी कृष्ण वर्मा के गुरु ऋषि दयानन्द । राजस्थान के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी प्रताप सिंह के पिता केसरीसिंह बारहठ, केसरीसिंह के पिता कृष्णसिंह (उदयपुर के दीवान) और कृष्णसिंह के प्रेरणादाता ऋषि दयानन्द । इसलिए यदि आर्यसमाजियों ने दोनों प्रकार के आन्दोलनों में भाग लिया तो यह अपनी गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वाह ही था, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ।

इसी प्रसंग में एक और बात भी ध्यान देने की है । सन् १९२० से पूर्व उत्तर भारत में कांग्रेस का अस्तित्व नगण्य था, सर्वत्र राष्ट्रीय चेतना का आधार आर्यसमाज था—केवल आर्यसमाज । आर्यसमाजियों ने ही उत्तर भारत के अधिकांश स्थानों पर कांग्रेस की स्थापना की । राष्ट्रीय चेतना का प्रमुख आधार क्योंकि आर्यसमाज था और उस समय क्रान्तिकारी आन्दोलन का जोर था, इसलिए आर्य नवयुवक उसी ओर आकर्षित होते थे । जरा कल्पना करिए—उस युग में पंजाब के चार प्रमुख आर्य नेता थे और उन चारों के सुपुत्र क्रान्तिकारी आन्दोलन में शामिल थे । वे चार नेता थे—महात्मा मुंशीराम, महात्मा हंसराज, महाशय कृष्ण और खुशहालचन्द खुसन्द (बाद में महात्मा आनन्द स्वामी) । इन चारों के सुपुत्र थे क्रमशः—ब्र० हरिश्चन्द्र, बलराज, वीरेन्द्र और रणवीर—और इनमें से तीन क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने के कारण लम्बी-लम्बी सजाएं भोग रहे थे और हरिश्चन्द्र सन् १९१४ में ही प्रसिद्ध क्रान्तिकारी राजा महेन्द्रप्रताप के साथ भारत को स्वाधीन कराने के निमित्त विदेश चले गये थे—उसके बाद वे कभी स्वदेश नहीं लौट सके ।

इस भूमिका के साथ प्रथम अध्याय में पंजाब के और उत्तर प्रदेश के आर्यसमाजियों द्वारा असहयोग आन्दोलन में सहयोग का संक्षिप्त वर्णन है । इस प्रसंग में डी०ए०वी० तथा अन्य आर्य शिक्षण संस्थाओं के कर्तृत्व का भी उल्लेख है । असहयोग आन्दोलन के बाद पंजाब में जिन नेताओं ने कांग्रेस की वागडोर संभाली—यथा डा० गोपीचन्द भार्गव, लाला जगतनारायण, भीमसेन सच्चर, पृथ्वीसिंह आजाद, अमरनाथ विद्यालंकार और चौ० माडूसिंह आदि—वे सब आर्यसमाजी थे । सर छोट्टाराद भी आर्यसमाजी थे । इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के विभिन्न शहरों में जिन आर्यसमाजियों ने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया—उनमें पं० गोविन्द वल्लभ पन्त, चौ० चरणसिंह, पं० अलगूराय शास्त्री, बलदेवसिंह आर्य, श्री जयानन्द भारती, पं० रेवानन्द, चन्द्रभानु गुप्त, ठा० मलखानसिंह, महावीर त्यागी, बनारसीदास गुप्त, कैलाश प्रकाश, ठा० फूलसिंह, पं० नरदेव शास्त्री, धर्मदेव शास्त्री, दर्शन केसरी, अमरनाथ वैद्य, पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार आदि प्रमुख हैं । प्रथम अध्याय के पृष्ठ ३६ पर सत्याग्रह में जेल जाने वाले गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों की सूची भी दी गई है ।

जिसमें ऐसे अनेक स्नातकों के नाम हैं जिन्होंने बाद में साहित्यिक, शैक्षणिक या सामाजिक क्षेत्र में काम करते हुए अच्छा यश पाया।

उसके बाद दिल्ली के आर्यसमाजियों द्वारा स्वाधीनता संग्राम में योगदान का उल्लेख है। जिनमें प्रमुख हैं—इन्द्र विद्यावाचस्पति, देशबन्धु गुप्त, श्रीकृष्ण नायर, डा० सुखदेव, श्रीमती वेदकुमारी, श्रीमती सत्यवती, श्रीमती प्रकाशवती, डा० युद्धवीरसिंह, श्रीमती चन्द्रावती चौधरी आदि। उन दिनों गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ को भी सरकारी कोप का भाजन बनना पड़ा। एकान्त जंगल में और बस्ती से दूर होने के कारण यह गुरुकुल क्रान्तिकारियों का सुरक्षित शरणस्थान बना रहा। इसके बाद अन्य राज्यों के भी उन प्रमुख आर्यसमाजियों का उल्लेख है जिन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेकर जेल यातना भोगी। भारत का ऐसा कोई प्रान्त नहीं था जहाँ के आर्यसमाजियों ने असहयोग आन्दोलन में सोत्साह भाग न लिया हो। इसके बाद दूसरे अध्याय में क्रान्तिकारी संघर्ष पर आर्यसमाज के प्रभाव का वर्णन है जिसका कुछ संकेत हम ऊपर कर चुके हैं।

तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में भारत विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण को मुसलमानों की साम्प्रदायिक राजनीति से उत्पन्न पृथक् राज्य की माँग और द्विराष्ट्र-सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम बताया गया है। इस देश-विभाजन का आर्यसमाज ने और आर्यपत्रों ने खुलकर विरोध किया था, पर कांग्रेस की अदूर-दृष्टि के कारण पाकिस्तान बनकर ही रहा। उसका जितना दुष्प्रभाव आर्यसमाज पर पड़ा, उतना अन्य किसी पर नहीं। विभाजन के पश्चात् आर्यवीरों ने शरणार्थी शिविरों में सेवाकार्य का दायित्व संभाला। मुस्लिम लीग ने जब पूर्वी बंगाल के नोआखाली नामक स्थान पर खून की होली खेली, उस समय भी आर्यवीरों ने ही सेवा कार्य किया।

देश विभाजन और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार अपना नया संविधान बनाने को आतुर थी। तब जो नई परिस्थितियाँ पैदा हुईं उनका सामना करने के लिए कलकत्ता में षष्ठ आर्य महासम्मेलन हुआ। आर्यसमाज कोई स्वतन्त्र राजनीतिक पार्टी तो थी नहीं, कांग्रेस हिन्दू महासमा तथा अन्य राजनीतिक दलों में आर्यसमाजी फैले हुए थे और अपने ढंग से वे देश की राजनीति को प्रभावित करते रहते थे। उस सम्मेलन में कई ऐसे सुझाव दिए गए जो बाद में भारतीय संविधान के निदेशक सिद्धान्त बने। वे निदेशक सिद्धान्त हैं—सब नागरिकों के लिए सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार-विश्वास, धर्म-पूजा और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, अवसरों और स्थिति में समता, व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता की रक्षा के लिए बन्धुता और सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्र। ये वही सिद्धान्त हैं जिन पर आर्यसमाज अपने जन्मकाल से ही जोर देता

आ रहा है। इसके अतिरिक्त देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी, राष्ट्र का नाम भारत, छुआछूत-जातिपाँति का विरोध और सब नागरिकों के लिए समान आचार संहिता के पक्ष में वातावरण तैयार करने में आर्यसमाज ने विशेष भूमिका निभाई। धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में संविधान सभा के सब सदस्य सहमत नहीं थे। कई आर्यसमाजी सदस्यों ने धर्मान्तरण पर रोक लगाने का युक्तियुक्त पक्ष रखा, और कई सदस्यों ने संविधान का मूल प्रारूप अंग्रेजी के बजाय हिन्दी में तैयार करने पर बल दिया। कई सदस्यों ने गोवध पर प्रतिबन्ध को भी संविधान में शामिल करने की सलाह दी। आर्यसमाजियों ने पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों का और अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के आरक्षण का विरोध किया, किन्तु अधिकांश कांग्रेसी सदस्यों की दुलमुल नीति के कारण आर्यसमाजियों के मूलभूत निदेशक सिद्धान्त तो स्वीकार कर लिए गए, पर नीति सम्बन्धी मान्यताएँ स्वीकृत नहीं हो पाईं। इस सब का वर्णन छठे और सातवें अध्याय में है।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद नई परिस्थिति में सभी राष्ट्रकर्मियों में और आर्य-समाजियों में आई शिथिलता को दूर करने के लिए मेरठ में ७वाँ आर्य महासम्मेलन बुलाया गया जिसकी अध्यक्षता श्री विनायक राव विद्यालंकार ने की। इस सम्मेलन में मुख्य विचारणीय विषय रहे—समाजवाद और वर्णव्यवस्था में सन्तुलन कैसे स्थापित किया जाए और आर्यसमाज को राजनीति में खुलकर भाग लेना चाहिए या नहीं क्योंकि अब विदेशी शासन नहीं था इसलिए दमन और उत्पीड़न का भय भी नहीं था। इन दोनों विषयों पर निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन ने वर्ग-विहीन समाज की कल्पना को असंगत ठहराते हुए वर्णव्यवस्था के वैज्ञानिक और क्रियात्मक रूप पर बल दिया और राजनीति में भाग लेने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास करके आर्यजनता को निर्देश किया कि वह देश की राजनीति में पूर्णरूप से भाग ले, परन्तु व्यवहार में राजनीति के वैदिक आदर्शों से अणुमात्र भी विचलित न हो। सम्मेलन में धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में भी बहस हुई, जिसमें साम्प्रदायिक आधार पर हिन्दू राज्य बनाने का तो विरोध किया गया, किन्तु शासन व्यवस्था में भारतीय संस्कृति के आदर्शों के प्रभाव को बाँझनीय माना गया, पारशात्य शासन प्रणाली की नकल का विरोध किया गया। सम्मेलन में आर्यसमाज के भावी कार्यक्रमों के सम्बन्ध में भी दिशाबोध कराया गया, पर उसको कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

मेरठ के आर्यमहासम्मेलन (१९५१ ई०) के बाद सन् १९५४ में हैदराबाद में आर्यमहासम्मेलन हुआ जिसका विशेष उद्देश्य था—वैदिक संस्कृति की रक्षा कैसे की जाए। इस सम्मेलन में पाठ्य पुस्तकों में आर्यों और वेदों के सम्बन्ध में पढ़ाई जाने वाली निराधार बातों का विरोध किया गया, परन्तु इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका। समस्त गुरुकुलों की और समस्त डी०ए०वी० तथा अन्य आर्यशिक्षण

संस्थाओं की पाठविधि एक समान करने का भी प्रस्ताव पास किया गया, पर वह भी कार्यान्वित नहीं हो सका। हिन्दी में अन्य प्रादेशिक भाषाओं के शब्द लेने का भी एक प्रस्ताव पास किया गया। पाकिस्तान में रह गई भारतीय हिन्दू नारियों को वापस लाने की माँग की गई। नाबालिग हिन्दू बच्चों को लावारिस करार देकर मुस्लिम अनायालयों में रखने का और ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों का विरोध किया गया। कलकत्ता, मेरठ और हैदराबाद में हुए आर्य महासम्मेलनों का विशेष उद्देश्य यह भी था कि भविष्य में आर्यसमाज ऐसे कार्यक्रम अपनाये जिनसे उसका जन-आन्दोलन वाला रूप सुरक्षित रहे और साथ ही व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति का प्रयास जारी रहे। परन्तु यह कार्य कैसे किया जाए, इसका कोई सक्षम उपाय सामने नहीं आया। तब सन् १९६१ में दिल्ली में स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में नवम आर्य महासम्मेलन हुआ।

उक्त सम्मेलन का मुख्य विचारणीय विषय रहा कि राजनीति में भ्रष्टाचार से मुक्त रहकर नैतिक मूल्यों की स्थापना कैसे की जाए क्योंकि उस समय धीरे-धीरे भ्रष्टाचार देशव्यापी समस्या बनता जा रहा था। इसी सम्मेलन में आर्यमहासम्मेलनों के उद्देश्य में भी संशोधन किया गया जिनमें आर्यजनों के धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अधिकारों पर होने वाले आक्रमणों के प्रतिकार के लिए उपायों पर व्यावहारिक आर्थिक योजनाओं को अपनाने पर और देशकालोचित परिस्थितियों के अनुसार आर्यसमाज के संगठन को सुदृढ़ बनाने के उपायों पर विचार करने को शामिल किया गया।

परन्तु इसी बीच आर्यसमाज गोरक्षा और हिन्दी रक्षा आन्दोलनों से गुजर चुका था, इसीलिए ९, १०, ११ अध्याय में उन दोनों आन्दोलनों का विस्तार से परिचय देना आवश्यक हो गया। फिर दो अध्यायों में ईसाइयत के प्रचार के विरुद्ध आर्यसमाज के आन्दोलन की समीक्षा है। प्रारम्भ से लेकर अब तक आर्यसमाज द्वारा इस विषय में किए गए कार्य का विवरण है। पोप के आगमन का विरोध और उसकी प्रतिक्रिया तथा उड़ीसा, मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों में ईसाइयों के जाल को तोड़ने के प्रयत्नों का उल्लेख है। गृष्ठ २७९ पर जनवरी १९५० से जून १९५४ तक ईसाइयत के प्रचार के लिए विदेशों से आए धन का देश वार वर्णन है— जिसका कुल योग २९ करोड़, २७ लाख, १९ हजार ८० बैठता है। इससे ईसाइयत के जाल का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

आर्यसमाज

आर्यसमाज के राजनीति में भाग लेने के पक्षपाती युवकों ने आर्यसभा नाम से नये संगठन की स्थापना की, जिसका सीधा सम्बन्ध तो आर्यसमाज के साथ नहीं

था, पर उसके सब कार्यकर्त्ता आर्यसमाजी ही थे। १९६७ के चुनाव में इसके प्रत्याशियों को मिले समर्थन से यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि आम आर्यजन आर्यसमाज के राजनीति में भाग लेने के पक्ष में थे। इसे एक तरह से ऋषि द्वारा प्रतिपादित राजार्यसभा का रूप ही कह सकते हैं। इस चुनाव में जो आर्यसमाजी नेता विजयी हुए उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रो. शेरसिंह, पं० प्रकाशवीर शास्त्री, श्री रामगोपाल शालवाले, श्री रघुवीर सिंह शास्त्री, स्वामी रामेश्वरानन्द और श्री शिवकुमार शास्त्री। इस समय जो आर्यनेता कांग्रेस या जनसंघ की ओर से खड़े हुए, वे भी विजयी हुए। इसका बड़ा कारण यह था कि ये सब आर्यनेता अन्य दलों के राजनीतिक नेताओं की तरह कलंकित नहीं थे और जनता के मन में इनकी छवि साफ सुथरी थी। आर्यसभा ने अपने चुनाव घोषणापत्र में आर्थिक और सामाजिक नीति सम्बन्धी नया कार्यक्रम जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जो शिक्षित और अशिक्षित दोनों को प्रभावित करने वाला था। आर्यसभा ने देश को भौतिक और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध, पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त, सुगठित, अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण का संकल्प व्यक्त किया। इसी अध्याय के परिशिष्ट में पीलीभीत की भारतीय आर्यसभा का परिचय और उसके घोषणापत्र का विवरण है।

पन्द्रहवें अध्याय में सब से पुरानी और सब से सशक्त पंजाब आर्यप्रतिष्ठान के विभाजन का वर्णन है, जो पाकिस्तान के निर्माण तथा पंजाब और हरियाणा के अलग-अलग राज्य बन जाने के कारण आवश्यक हो गया था। सार्वदेशिक सभा के प्रधान के परामर्श से पंजाब सभा के तीन भाग हो गए—हरियाणा, दिल्ली तथा पंजाब। इन तीनों सीमाओं की अलग-अलग तदर्थ समितियां बना दी गईं और सम्पत्ति के बंटवारे के लिए पंजाब, हरियाणा तथा दिल्ली में ३५-३५ व ३० प्रतिशत का अनुपात निर्धारित किया गया, परन्तु पंजाब सभा ने इसे कभी कार्यान्वित नहीं होने दिया, जिसके फलस्वरूप तीनों सभाओं में एतद्विषयक विवाद अभी तक कायम है।

अलवर महासम्मेलन

१६ वें अध्याय में सार्वदेशिक आर्यमहासम्मेलनों की परम्परा का उल्लेख करते हुए उन सम्मेलनों में जिन विषयों पर विचार हुआ उनकी समीक्षा करते हुए सत्रहवें अध्याय में सन् १९७२ में हुए ग्यारहवें आर्यमहामम्मेलन का विवरण है—जो आर्यसमाज के इतिहास में एक सर्वथा ही नये अध्याय का सूचक है। इसे स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् आर्यसमाज की सब से बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है। इस आर्यमहासम्मेलन के अध्यक्ष बने थे मारीशस के प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम। यह मारीशस पहले कभी ब्रिटिश उपनिवेश था और भारतीय मूल के लोग ही वहां कुली-मजदूर बनाकर ले जाए गए थे, परन्तु भारत के ब्रिटिश दासता

से मुक्त हो जाने के पश्चात् मारीशस वासियों ने भी प्रबल आन्दोलन के द्वारा दासता का जूआ उतार फेंका और मारीशस भी स्वतन्त्र होकर अलग देश बन गया। अलवर महासम्मेलन में महिला सम्मेलन का उद्घाटन श्रीमती विजया राजे सिन्धिया ने और सामाजिक क्रान्ति सम्मेलन का उद्घाटन तात्कालिक रक्षामंत्री श्री जगजीवनराम ने किया।

अलवर के सम्मेलन को आर्यसमाज के इतिहास का नया अध्याय कहने का तात्पर्य यह है कि इसी सम्मेलन से विदेशों में आर्य महासम्मेलन करने की नई परम्परा चली। सन् १९७३ के अगस्त मास में मारीशस में विशाल आर्य महासम्मेलन सार्वदेशिक सभा के संरक्षण में हुआ। जिसमें मारीशस की प्रजा और वहाँ की सरकार ने तो पूर्णरूप से भाग लिया ही, भारत से भी लगभग एक हजार यात्रियों को लेकर एक जलपोत मारीशस पहुँचा। पहले कमी वहाँ भारतीय दास बनकर पहुँचे थे, अब स्वतन्त्र भारत के नागरिक स्वेच्छा से धर्म प्रचाराय वहाँ गए थे। इससे पहले कभी आर्यसमाजी इतनी बड़ी संख्या में विदेशयात्रा पर नहीं गए थे। इस सम्मेलन का विस्तृत विवरण अठारहवें अध्याय में है। इसी सम्मेलन के माध्यम से भविष्य में आर्यसमाज का अन्तर्राष्ट्रीय रूप और निखर कर सामने आया और आर्यजनों में नया उत्साह पैदा हुआ। कहां तो पौराणिक पंडितों ने समुद्र यात्रा को पाप घोषित किया था, और कहां अब आर्यसमाजी जहाज भर कर विदेशयात्रा और समुद्रयात्रा कर रहे थे। यह आर्यसमाज के इतिहास में ही नहीं, भारत के इतिहास में भी एक नया मोड़ था।

स्थापना शताब्दियाँ

१८७५ में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी इसलिए १९७५ में आर्यसमाज की स्थापना शताब्दी धूमधाम से मनाई गई। पहले यह शताब्दी समारोह बम्बई में मनाने का कार्यक्रम था, परन्तु परिस्थितिवश दिल्ली में ही समारोह मनाया गया। इस समारोह को व्यापक रूप देने के लिए एक स्थापना शताब्दी समारोह समिति गठित की गई जिसके निश्चयानुसार सन् १९७५ से लेकर सन् १९८३ तक, अर्थात् ऋषि-निर्वाण शताब्दी तक, प्रतिवर्ष शताब्दी समारोहों का क्रम जारी रखने की योजना निश्चित हुई। इसी योजना के अनुसार वाद में मेरठ, कानपुर और वाराणसी में समारोह हुए, तदनन्तर अन्य राज्यों में भी। सन् १९७६ में श्रद्धानन्द बलिदान अर्धशताब्दी भी मनाई गई।

दिल्ली में हुए स्थापना शताब्दी समारोह में देश विदेश के लोगों ने भारी संख्या में भाग लिया। वेद सम्मेलन में २१ वैदिक आर्य विद्वानों को सम्मानित किया गया। इस समारोह में राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति भी शामिल हुए। अन्तर्राष्ट्रीय

विश्वधर्म सम्मेलन का उदघाटन डा० होमर जैक ने किया ।

इसके बाद १९७८ के सितम्बर मास में नैरोबी (पूर्वी अफ्रीका, केनिया) में अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन हुआ जिसमें भारत से भी लगभग पांच सौ व्यक्ति और अन्य देशों के ३०० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए ।

उसके बाद चतुर्दश आर्य महासम्मेलन लन्दन में हुआ । यहां आर्यसमाज ने एक चर्च को खरीद कर उसका नाम 'वन्दे मातरम् भवन' रखा गया है— जो आर्यसमाज मन्दिर का काम करता है । लन्दन का यह सार्वभौम आर्य महासम्मेलन २४ से २५ अगस्त, १९८० तक चला । सम्मेलन से पूर्व २० अगस्त से समाज मंदिर में राष्ट्रमेव यज्ञ हुआ । इस महासम्मेलन में विद्वद्गोष्ठियों के अलावा १५ प्रताप पास हुए जिनमें से अनेक विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार से सम्बन्धित थे । यहीं १९८३ में डरबन (द० अफ्रीका) में अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन करने का निश्चय हुआ ।

सन् १९८१ में सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह अक्टूबर में मनाया गया । सत्यार्थप्रकाश के लेखन में और ऋषि दयानन्द के जीवन में उदयपुर का विशेष स्थान है । इस सम्मेलन में मीनाक्षीपुरम (तमिलनाडु) में हरिजनों के सामूहिक धर्मान्तरण की समस्या पर विशेष रूप से विचार किया गया । आगे जाकर सन् १९८८ में नाथद्वारा मंदिर में हरिजनों के प्रवेश को लेकर स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व में आर्यसमाजियों की पद यात्रा भी निकली जिसकी देश भर के अखबारों में काफी चर्चा रही ।

सन् १९८३ में अजमेर में ऋषि दयानन्द निर्वाण शताब्दी अभूतपूर्व धूमधाम से मनाई गई क्योंकि ऋषि का देहावसान हुए सौ वर्ष पूरे हो चुके थे । इस समारोह में देश-विदेश से लगभग दस लाख लोगों ने भाग लिया जिससे आर्यसमाज की लोकप्रियता का कुछ आभास हो सकता है । इससे ५० वर्ष पूर्व सन् १९३३ में अजमेर में निर्वाण अर्धशताब्दी हुई थी । उस समय आर्यसमाज की पहली पीढ़ी के अनेक आर्य नेता विद्यमान थे । इस शताब्दी के अवसर पर उन सब दिवंगत नेताओं का अभाव अखरता था । पर नई पीढ़ी के जो नये नेता उभर कर सामने आए थे उन्होंने इस समारोह को सफल बनाने में पूरे उत्साह से कार्य किया । पहले निर्वाण शताब्दी समारोह के स्थान के सम्बन्ध में विवाद रहा, पर बाद में सब आर्य नेता अजमेर के लिए ही सहमत हो गए । इस अवसर पर अनेक विद्वत्-परिषदें भी आयोजित हुईं । इस समारोह के अवसर पर भारतेतर देशों में आर्यसमाज की सेवा करने वालों को और भारत के अन्दर भी विशिष्ट सेवा करने वाले साहित्यकारों और लेखकों को 'आर्यरत्न' की उपाधि के साथ १००१ रु० और प्रशस्तिपत्र प्रदान किए गए । कुछ विशिष्ट वैदिक विद्वानों को विशेष रूप से सम्मानित किया गया ।

सत्यकेतु स्मृति अंक

एक विशेषता यह भी रही कि इस समारोह में आर्यसमाज के अलावा विज्ञान और विद्या के किसी भी क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित करने वाले १४ विशिष्ट व्यक्तियों को स्वर्णपदक प्रदान किए गए। इस सम्मान समारोह का समस्त व्यय-भार रायसाहब चौ० प्रतापसिंह ने उठाया। आर्य साहित्य के प्रमुख प्रकाशक को भी पहली बार सम्मानित किया गया। यदि इस समारोह में केवल आर्यविद्वानों को ही सम्मानित किया जाता तो उसकी गुणज्ञता सीमित क्षेत्र तक ही व्याप्त रहती, पर आर्यसमाज से इतर विद्वानों को उनकी उपलब्धियों के लिए सम्मानित करने से आर्यसमाज की उदार असांप्रदायिक राष्ट्रीय विचारधारा का पता लगता है जो सर्वथा उसके इतिहास के अनुरूप है। निर्वाण शताब्दी के समापन समारोह के अवसर पर स्वामी सत्यप्रकाश जो ने उपसंहार भाषण दिया और सब श्रोताओं से सामूहिक रूप से ५ प्रतिज्ञाएं करवाईं। निर्वाण शताब्दी समारोह का उद्घाटन देशक प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने किया, पर भारत सरकार ने इस समारोह के लिए कोई आर्थिक सहायता नहीं दी, जबकि अन्य महापुरुषों से सम्बद्ध शताब्दी समारोहों पर सरकार उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता देती है। इसी अध्याय के परिशिष्ट में शताब्दी समारोह में हुए कुछ विशिष्ट भाषणों का सार दिया गया है जिनमें इस वृहत् इतिहास के लेखक पं० सत्यकेतु विद्यालंकार के 'आर्यसमाज के भावी कार्यक्रम' के सम्बन्ध में विचार पठनीय और मननीय हैं।

चौबीसवें अध्याय में डरबन में हुए अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन को विस्तृत विवरण है। पचचोसवें अध्याय में मीनाक्षीपुरम् से लेकर अन्य प्रदेशों तक फैले धर्म रक्षा महाभियान की रूपरेखा उसकी व्यापकता और सफलता का उल्लेख है। आर्यसमाज के इस आंदोलन से प्रभावित होकर ही केन्द्रीय सरकार को मीनाक्षीपुरम् के हरिजननों के धर्मान्तरण के सम्बन्ध में जांच का आदेश देना पड़ा। इस अभियान के अन्तर्गत आर्यसमाज ने मांग की थी कि अप्रसूयता के कलंक का मिटाया जाए। विदेशी घन पर अंकुश लगे, समाज कल्याण संबंधी कार्य विदेशी संस्थानों के बजाय भारत सरकार के माध्यम से हों और समस्त नागरिकों के लिए समान आचार संहिता बने, एवं धर्मान्तरण कर लेने पर समस्त सरकारी सुविधाएं बन्द कर दी जायें। कुछ ईसाई प्रचारकों ने उच्चतम न्यायालय सुविधाएं बन्द करने के विरोध में याचिकाएं दीं, परन्तु उच्चतम न्यायालय ने उन्हें अस्वीकार कर दिया। धर्मरक्षा महाभियान की यह एक बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है।

छब्बीसवें अध्याय में श्री श्रीमप्रकाश त्यागी के लोकसभा में प्रस्तुत धर्म-स्वातंत्र्य विधेयक का विवरण है जिसका समर्थन समस्त आर्यसंस्थाओं द्वारा किया गया था, पर वह अन्य मतों वाले लोगों और कांग्रेसियों की तुष्टिकरण नीति के

कारण पारित नहीं हो सका। फिर भी अरुणाचल ने वह विधेयक पास कर दिया और वहाँ धर्म परिवर्तन को गैर-कानूनी करार दे दिया गया, तथा विदेशी ईसाई पादरियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस पर ईसाई पादरियों ने काफी शोर मचाया, पर अरुणाचल की सरकार ने दृढ़ता का परिचय दिया। तत्पश्चात् भारत सरकार के गृहमंत्रालय ने भी राज्यों को इस संबंध में निर्देश दिए, यद्यपि केन्द्र ने विधेयक पारित नहीं होने दिया। गृहमंत्रालय के एक परिपत्र में ही यह रहस्योद्घाटन भी किया गया कि सन् १९८१ में मुस्लिम संगठनों ने ५० हजार हरिजनों के धर्मान्तरण का लक्ष्य बनाया था जिनमें से १७ हजार को वे मुसलमान बना भी चुके थे। १९८२ के अन्त तक यह संख्या दो लाख तक पहुँच जाने की सम्भावना थी, लन्दन स्थित इस्लामिक कल्चरल सेंटर से मिली सूचना के अनुसार अरब देशों से आने वाले प्रभूत पेट्रो-डालर की राशि का उपयोग मुसलमानों की जनसंख्या १२ करोड़ से बढ़ाकर २० करोड़ करने के लिए था। आर्यसमाज के धर्मरक्षा महाभियान से उस पर रोक लगी।

२७ वें और २८ वें अध्याय में क्रमशः अ० भा० सेवाश्रम संघ के कार्य का और आर्यवीर दलों के देश-विभाजन से पूर्व और पश्चात् कार्यकलाप के वर्णन के साथ यह खंड समाप्त होता है।

सातवां खण्ड (गत वर्षों में आर्यसमाज की गतिविधि और कतिपय अवशिष्ट विषय)

इस खण्ड में २८ अध्याय हैं जिनमें से १९ अध्याय डा० सत्यकेतु जी ने दो डा० भवानीलाल भारतीय ने और आठ अध्याय श्री दत्तात्रेय तिवारी ने लिखे हैं। ४८ पृष्ठ चित्रों के हैं और इसके अलावा आर्यसमाज के लगभग सौ कर्मठ कर्म-कर्ताओं, परिव्राजकों और विद्वानों का संक्षिप्त परिचय अलग है।

इस खण्ड के पहले और दूसरे अध्याय में विभिन्न स्थानों पर होने वाले आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोहों का और सन् १९८६ में डी.ए.वी. शताब्दी समारोहों के विविध आयोजनों का विशद वर्णन है। तीसरे अध्याय में जीवन में नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए आर्यसमाज के कर्तृत्व का उल्लेख है जिसमें मद्यनिषेध अभियान, भ्रष्टाचार निवारण योजना, अश्लील साहित्य विरोधी अभियान, चरित्र निर्माण और नई शिक्षा नीति के निदेशक सिद्धांतों में नैतिक मूल्यों पर बल का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में राष्ट्रीय एकता के लिए आर्यसमाज के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण के समय आर्यसमाज की विशेष भूमिका का वर्णन है। कश्मीर के उपद्रवों में शरणार्थियों की सेवा का, हजुरीबाग आर्यसमाज सत्यकेतु स्मृति अंक

मन्दिर को जला देने पर उसके पुनर्निर्माण का और अल्पसंख्यकों की समस्या के प्रति आर्यसमाज के दृष्टिकोण का उल्लेख है।

पाँचवें अध्याय में हिन्दी के प्रचार के लिए आर्यसमाज ने विभिन्न क्षेत्रों में जो कार्य किया है और आर्यसमाजियों को जिस प्रकार दैनिक जीवन में हिन्दी के लिए प्रेरित किया है उसका और सरकारी क्षेत्रों में राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए किए गए प्रयत्नों का वर्णन है।

छठे अध्याय में डी.ए.वी. संगठन के देशव्यापी विस्तार का वर्णन है जिसमें प्रारम्भिक काल से लेकर आधुनिक काल तक हुई प्रगति के साथ डी.ए.वी. स्कूलों में नैतिक शिक्षा पर जोर देने के लिए अलग से नैतिक शिक्षण प्रशिक्षण संस्थान खोलने का और साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में डी. ए. वी. के सक्रिय रूप से अग्रसर होने का वर्णन है।

सातवें, आठवें, नौवें और दसवें अध्याय में क्रमशः जम्मू कश्मीर में, असम, सिक्किम, दार्जिलिंग आदि पूर्वाञ्चल के प्रदेशों में, बिहार में और राजस्थान में आर्यसमाज की प्रगति का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में परोपकारिणी समा के कार्यकलाप का परिचय दिया गया है। बारहवें अध्याय में हिमाचल प्रदेश और दिल्ली की आर्यप्रतिनिधि सभाओं का संक्षिप्त कार्य विवरण है। तेरहवें अध्याय में इंडोनेशिया, जापान, अमरीका तथा अन्य विदेशों में—जिनका पहले खण्डों में उल्लेख नहीं हुआ—आर्यसमाज की गतिविधियों का दिग्दर्शन है।

इस खण्ड का १४ वां और १५ वां अध्याय बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि उसमें स्वतन्त्र भारत में आर्यसमाज को जिन विविध संघर्षों से गुजरना पड़ा उनका वर्णन है। इन संघर्षों के अलावा अन्य नए सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में किए गए कार्यों का भी वर्णन है। सोलहवें और सत्रहवें अध्याय में सार्वदेशिक समा के कार्यकलाप और शक्ति में वृद्धि का विशद वर्णन है। उसके बाद आर्यसमाज की महत्वपूर्ण शोध संस्थाओं और उस निमित्त ट्रस्टों का परिचय दो अध्यायों में है। बीसवें अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ का परिचय है। अगले अध्याय में विभिन्न राज्यों में आर्य युवक परिषदों के कार्यकलाप का उल्लेख है। फिर वैदिक यति मंडल और अन्तर्राष्ट्रीय विरक्त मंडल के नाम से आर्यसंन्यासियों के संगठनों का परिचय है। बीबीसवें अध्याय में विविध वानप्रस्थाश्रमों का परिचय है। तेईसवें अध्याय में गुरुकुलों के क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तन है और उनके घटते प्रभाव के कारण उनके भविष्य के प्रति चिन्ता व्यक्त की गई है।

अगले तीन अध्यायों में अन्य राज्यों की प्रतिनिधि सभाओं के कार्यकलाप का परिचय है। सत्ताईसवें अध्याय में आर्यसमाज के संगठन में शिथिलता के सूत्रपात

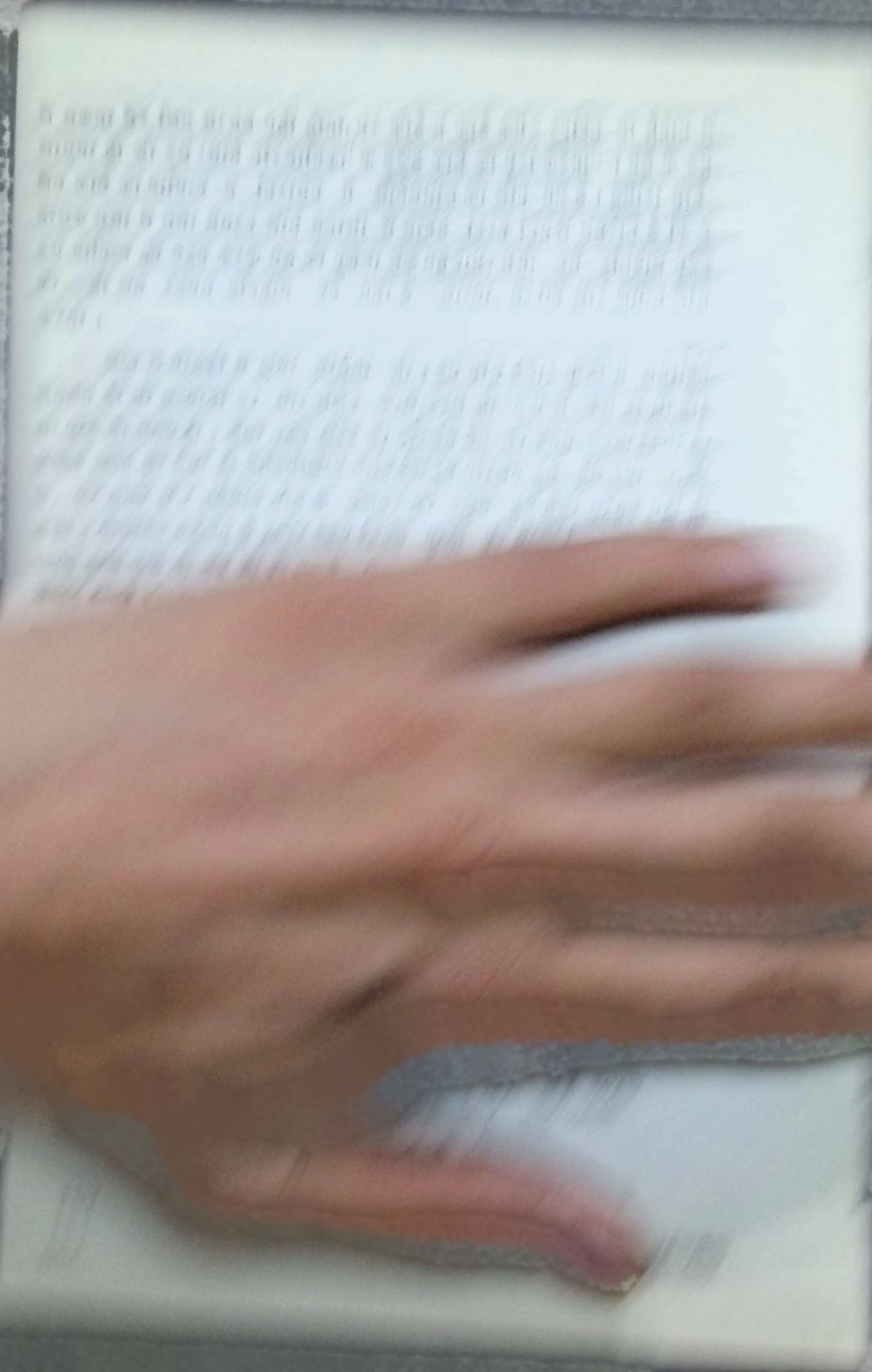
आर्यसन्देश

का सोदाहरण वर्णन है। अन्तिम अध्याय में ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण संस्मरण, राष्ट्रियता के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य वर्णित है, साथ ही कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण आर्य संस्थाओं का परिचय है जिनका इस बृहत् इतिहास में कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं हुआ है। तदनन्तर ४५ पृष्ठों में उन कृती विद्वानों का संक्षिप्त परिचय है जिन्होंने अपनी विद्या और त्याग, तपस्या से आर्यसमाज की निष्काम भाव से सेवा की है और उन लोगों-लोगों के प्रति धन्यवाद और कृतज्ञता ज्ञापन है जिन्होंने इस बृहत्-इतिहास की तैयार करने में किसी भी प्रकार का सहयोग दिया है।

इस प्रकार इस इतिहास की पूर्णाहुति होती है जिससे आर्यसमाज के विराट् रूप के दिग्दर्शन होते हैं। प्रत्येक खण्ड का आवरण पृष्ठ भी उस खण्ड के विषय के अनुरूप कलापूर्ण ढंग से तैयार किया गया है। अन्तिम खण्ड के आवरण पृष्ठ पर ओ३म् के नीचे 'पूर्णमदः पूर्णमिदं और 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' मंत्र अंकित है जो यज्ञ की पूर्णाहुति का सूचक है।

यह इतिहास केवल आर्यसमाज का ही इतिहास नहीं है, बल्कि पिछले सौ वर्षों की समस्त राष्ट्रीय चेतना का इतिहास है, ऐसा इतिहास जिसकी अन्य इतिहास-लेखक आज तक उपेक्षा करते आए हैं, परन्तु जिसके बिना भारत की राष्ट्रीय चेतना का वर्णन करने वाला कोई भी इतिहास पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस विषय पर भविष्य में कलम चलाने वालों के लिए यह इतिहास मार्गदर्शक सिद्ध होगा। आर्यसमाज का जहां तक सम्बन्ध है, उसके लिए तो यह इतिहास पूरा विश्व-कोश ही है। हमारी सम्मति में तो प्रत्येक आर्यसमाज में यदि केवल इस इतिहास के सातों खण्ड विद्यमान हों, कोई अन्य ग्रन्थ न भी हो, तब भी आर्यसमाज के दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक मन्तव्यों का परिचय इस इतिहास से ही प्राप्त किया जा सकता है।

एक बात की ओर आर्य नेताओं का ध्यान खींचना हम आवश्यक समझते हैं। पं० सत्यकेतु जी ने छठे खण्ड और सातवें खण्ड की प्रस्तावना में उसकी चर्चा की है। सत्यकेतु जी जैसे बहुप्रायामी व्यक्तित्व का धनी और इतिहासज्ञ होना आसान नहीं है, पर संगठित प्रयत्न से कोई भी काम पूरा हो सकता है। पं० जी अपना यज्ञ अपने सामने पूरा कर गए, पर आगामी यज्ञ के लिए प्रेरणा दे गए। वह यज्ञ है इस बृहत् इतिहास के बाद एक आर्य परिचायिका तैयार करना। यह बड़ा विशाल कार्य है। स्वयं पण्डित जी के अनुमान के अनुसार उस परिचायिका के लिए कम से कम दो हजार पृष्ठ चाहिए—अर्थात् इन खण्डों जैसे तीन खण्ड और। यह काम कौन करेगा? पं० जी स्वयं इस यज्ञ का उद्घाटन कर गए हैं। उन्होंने आर्यसमाज के ५०० से अधिक कार्यकर्ताओं के चित्र और परिचय एकत्रित किए थे, पर वे स्वयं भविष्यवाणी कर गए हैं कि "इस दुस्तर कार्य को हाथ में



ले सकना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा, पर कोई न कोई कर्मठ व्यक्ति तो मैदान में आएगा ही जो इस 'आर्य परिचायिका' के दुर्लभ कार्य को पूरा करेगा"। यज्ञ के इस शेष कार्य का दायित्व वे विरासत में आर्यसमाज को सौंप गए हैं। हमारा सार्व-देशिक सभा से तथा समस्त आर्य नेताओं से साग्रह किन्तु विनम्र अनुरोध है कि वे इस दायित्व को वहन करके यज्ञ को पूर्णता तक पहुंचाएं, तभी उस इतिहास पुरुष की—जो अब स्वयम् इतिहास बन गया है—आत्मा सन्तोष और शान्ति-लाभ करेगी।

अन्त में पाठकों से क्षमा प्रार्थना भी। इन पाँच हजार पृष्ठों में समाहित लगभग दो सौ अध्यायों का सार-संक्षेप करते-करते भी कम से कम दो सौ-डाई सौ पृष्ठ तो लगते ही। जैसा पहले खण्ड का परिचय देने का हमने प्रयत्न किया है, प्रत्येक खण्ड का वैसा ही नातिसंक्षिप्त नाति-विस्तृत परिचय हम हम देना चाहते थे, पर समय और वर्तमान ग्रन्थ के कलेवर को देखते हुए वैसा सम्भव नहीं हो सका। सम्पादक महोदय ने हमारे लिए जितने पृष्ठों की सीमा निर्धारित की थी, उससे दुगुने पृष्ठ तो अब भी हो गए हैं। फिर भी पाठकों को कुछ खण्डों के बारे में बेगार टालने की सी बात लग सकती है, जिसके लिए क्षमा मांगने के सिवाय कोई अन्य गति नहीं है। आप क्षमा करेंगे न !

—क्षितीश वेदालंकार

सुपर्णा, डी-८१, गुलमोहर पार्क,

नई दिल्ली-११००४६

जैसे गायें अनेक रंगों की होती हैं लेकिन उन का दूध सफेद ही होता है, उसी तरह सत्य प्रवर्तकों के कथन में भाषा भेद होता है भाव भेद नहीं।

✱

✱

✱

प्रकृति अपनी प्रगति और विकास में रुकना नहीं जानती। हर अकर्मण्यता पर वह अपने शाप की छाप लगाती जाती है।

साहित्य-चितन्न

- इतिहास,
- राजनीति,
- धर्मदर्शन तथा
- साहित्य सम्बन्धी

कृतियों पर आधारित

शोध लेख ।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

बृहत् इतिहास के, लेखक मेधावी देव,
किया अति खोज आपने, वैदिक विचार से ।
विद्यालंकार-सत्य-विद्या के सदन भव्य,
भारतीय-साहित्य को, लिखा सुधाधार से ॥

सोपान सो सात खण्ड, पढ़ेंगे बढ़ेंगे आगे,
सत्य-ज्ञान-विचार को, जाने तत्त्वसार से ।
हिन्दी सम्मेलन हुआ, देव करतूति देख,
सम्मानित किया बड़े, मान उपहार से ॥

वेदों के गौरव-गुणी, ‘दुर्लभाः वेदविद्वांसः’
प्रबोधक-प्रथित सो, पंडित कहाये हैं ।
पावन-प्रज्ञा के सिन्धु, प्रकाण्ड प्रदाता ज्ञान,
शोध सत्य ग्रन्थों के थे, लोग मन भाये हैं ॥

वेदों का सुसत्य ज्ञान, विवेक विचार साथ,
परहित देव-भव्य ज्ञान दरशाये हैं ।
सत्यकेतु कोविद से, आर्यों में प्रसिद्ध विज्ञ,
लेखनी-ललित साथ, गौरव बताये हैं ॥

सत्यकेतु-ज्ञानकेतु, विद्याकेतु शोभे अति,
परोपकार हेतु हैं सेतु-भव सिन्धु के ।
मेधाधर, विद्याधर, प्रिय देव शोध कर,
अविद्या के विनाशक, रूप धरा इन्दु हैं ॥

आर्य लोग मांही आज, आर्यदेव मानी बड़े,
अपनाते चले हैं हितैषी आर्य-बन्धु से ।
आर्य सुजगत् मांही गरिमा बड़ी देव,
कवि ‘धनसार’ लिखे-भाव तुच्छ बिन्दु से ॥

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—

एक दीप्त प्रतिभावान् व्यक्ति

—वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उन दीप्त प्रतिभावान् और मेधाशाली स्नातकों में से एक थे, जिनकी विद्वत्ता और कार्यों से गुरुकुल और आर्यसमाज प्रतिष्ठान्वित और गौरवान्वित हुए हैं। मैने और सत्यकेतु जी ने गुरुकुल कांगड़ी में लगभग एक ही काल में शिक्षा ग्रहण की थी। मुझ से वे दो कक्षा ऊपर थे। गुरुकुल की सब प्रकार की गतिविधियों में, अपने अध्ययन काल में, हम दोनों अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर एक साथ भाग लिया करते थे।

सत्यकेतु जी प्रारम्भ से बड़े कुशाग्रबुद्धि छात्र थे। उस समय गुरुकुल की पाठविधि के अनुसार जो भी विषय पढ़ाये जाते थे, उन सभी में वे अपनी कक्षा में सब से अधिक अंक प्राप्त करते थे और बहुत ऊँचे अंक प्राप्त करते थे। गुरुकुल विद्यालय की विद्याधिकारी (मैट्रिक के समकक्ष) परीक्षा के लिए आर्य भाषा (हिन्दी), संस्कृत साहित्य, संस्कृत व्याकरण, धर्मशिक्षा, दर्शन, इतिहास, गणित (अंकगणित, ज्यामिती, बीजगणित), विज्ञान (फिजिक्स, कैमिस्ट्री) और इंगलिश ये नौ विषय नियत थे। सभी विषयों का बाहर की मैट्रिक परीक्षा की अपेक्षा बहुत ऊँचा स्तर था। सत्यकेतु जी ने विद्याधिकारी परीक्षा में भी कक्षा में सब से अधिक और बहुत ऊँचे अंक प्राप्त किये थे और कक्षा में प्रथम विभाग के ऊँचे अंक प्राप्त करके प्रथम स्थान प्राप्त किया था। विद्यालय के अष्टम, नवम और दशम कक्षाओं के ब्रह्मचारी आर्यभाषा और संस्कृत में मासिक पत्रिकाएँ निकाला करते थे। छात्र इन पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर लेख कहानियाँ और कविताएँ लिखा करते थे। पत्रिकाएँ हाथ से लिखी जाती थीं और उन्हें सुन्दर चित्रों और बेल-बूटों से सजाकर निकाला जाता था। सत्यकेतु जी के इन पत्रिकाओं में लिखे गये लेख आदि उनकी उस समय की योग्यता के प्रदर्शक होते थे और विद्यालय के छात्र और शिक्षक सभी उनकी प्रशंसा

किया करते थे। छात्रों की अपनी वाग्वर्धिनी और संस्कृत संजीविनी नाम की आर्यभाषा और संस्कृत की दो सभाएँ भी हुआ करती थीं। इनके मास में दो अधिवेशन हुआ करते थे। जिनमें छात्रगण आर्यभाषा और संस्कृत में भाषण कला का अभ्यास किया करते थे। वर्ष में एक बार इन सभाओं के जन्मोत्सव भी मनाये जाते थे, और बड़ी धूम-धाम के साथ मनाये जाते थे। छात्र अपनी पत्रिकाओं के विशेषांक निकालते थे। उत्सव स्थलों को खूब सजाया जाता था। छात्र अपने-अपने विशिष्ट लेख, कहानियाँ और कविताएँ पढ़ते थे। उत्सवों का सभापतित्व करने के लिए अनेक बार बाहर से भी विशिष्ट व्यक्तियों को बुलाया जाता था। सत्यकेतु जी वाग्वर्धिनी और संस्कृत संजीविनी सभाओं के अधिवेशनों में तो नियमित रूप से भाग लेते और उन के प्रमुख वक्ताओं में रहते ही थे, इन सभाओं के जन्मोत्सवों की सफलता में भी उनका प्रमुख हाथ रहता था। कई बार इन सभाओं के विशेष अधिवेशनों का आयोजन कर के उनमें शास्त्रार्थों का आयोजन भी किया जाता था। जब सत्यकेतु जी दशम कक्षा में पढ़ते थे तब मूर्तिपूजा श्राद्ध और अवतारवाद विषयों पर शास्त्रार्थों का आयोजन किया गया था। पक्ष और प्रतिपक्ष में अष्टम, नवम और दशम कक्षाओं के कुशाग्र छात्रों ने ही भाग लिया था। कई दिन पहले से तैयारी करने के अनन्तर छात्रों ने इस विषय पर बड़े अच्छे शास्त्रार्थ किये थे। सारे कुलवासी इन शास्त्रार्थों को सुनने के लिए उपस्थित होते थे। इन शास्त्रार्थों के आयोजन में सत्यकेतु जी का प्रमुख हाथ था।

विद्याधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर सत्यकेतु जी गुरुकुल के महाविद्यालय में अध्ययनार्थ प्रविष्ट हुए। महाविद्यालय का पाठ्यक्रम चार वर्ष का था। इस पाठ्यक्रम में संस्कृत, दर्शन, वेद और अंग्रेजी ये चार विषय अनिवार्य थे, तथा पांचवां कोई एक वैकल्पिक रूप में लेना होता था। सत्यकेतु जी ने इतिहास और अर्थशास्त्र का संयुक्त विषय वैकल्पिक विषय के रूप में लिया था। इन विषयों में अंग्रेजी का पाठ्यक्रम बाहर के बी०ए० के समकक्ष, इतिहास-अर्थशास्त्र में एम०ए० के लगभग तथा शेष विषयों में एम०ए० से भी अधिक होता था। सत्यकेतु जी ने इन पाँचों विषयों में कक्षा में सब से अधिक और बहुत ऊँचे अंक प्राप्त किये थे और प्रथम विभाग के ऊँचे अंक प्राप्त करके प्रथम स्थान प्राप्त किया था, और विद्यालंकार की उपाधि अर्जित की थी। सन् १९२३ में वे स्नातक हुए थे। महाविद्यालय में भी वाग्वर्धिनी, संस्कृतोत्साहिनी और इंग्लिश यूनियन नाम की छात्रों की सभाएँ थीं जिनमें छात्र आर्यभाषा, संस्कृत

और अंग्रेजी में भाषण का अभ्यास किया करते थे। एक साहित्य परिषद् नाम की सभा भी थी। इस सभा में छात्र विभिन्न विषयों में गवेषणात्मक निबन्ध लिख कर पढ़ा करते थे। इस सभा में पढ़े गये कई अच्छे निबन्ध गुरुकुल की ओर से पुस्तक रूप में भी प्रकाशित कर दिये जाते थे। इन सभाओं के जन्मोत्सव भी धूम से मनाये जाते थे। इन सभाओं की सभी गतिविधियों में भाग लेने वाले छात्रों में सत्यकेतु जी का प्रमुख स्थान रहता था। संस्कृतोत्साहिनी सभा के जन्मोत्सव के अवसर पर संस्कृत श्लोकों में अन्त्याक्षरी भी आयोजित की जाती थी। इस अन्त्याक्षरी में छात्रगण स्वयं अपने बनाये हुए श्लोक पढ़ा करते थे। बहुत पहले से छात्र इस अवसर के लिए अपने श्लोक बनाने में लग जाते थे। कभी-कभी पहले से बनाये श्लोकों द्वारा अन्त्याक्षरी पूर्ति की समस्या का समाधान न हो पाने की अवस्था में दोनों पक्षों के छात्रों को तत्काल भी श्लोक बनाने पड़ जाते थे। कोई न कोई कुशल छात्र यह कर लेता था। सत्यकेतु जी इन अन्त्याक्षरियों में भाग लेने वाले प्रमुख छात्र होते थे।

उन दिनों महाविद्यालय के तृतीय वर्ष के छात्रों में से एक छात्र को कुलमन्त्री चुना जाता था। चुनाव एक वर्ष के लिए होता था और महाविद्यालय के छात्र ही चुनाव करते थे। कुलमन्त्री का काम गुरुकुल में मनाये जाने वाले त्यौहारों और अन्य समारोहों के आयोजनों की तैयारी करना होता था। कुलमन्त्री छात्रों की कठिनाइयों को भी गुरुकुल के अधिकारियों के सम्मुख उपस्थित किया करता था और उन से मिलकर छात्रों की समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया करता था। कुलमन्त्री का यह सेवाभावी पद बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। अपने काल में सत्यकेतु जी भी कुलमन्त्री चुने गये थे और उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को बड़ी उत्तम रीति से निभाया था।

अपने छात्रकाल को शानदार ढंग से समाप्त करने और विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त करने के अनन्तर सत्यकेतु जी गुरुकुल विश्वविद्यालय में ही इतिहास-अर्थशास्त्र विषय के उपाध्याय नियुक्त हो गये थे। आप के अध्यापन से छात्र पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रहते थे और आप गुरुकुल के उपाध्यायों में एक बड़े योग्य उपाध्याय समझे जाते थे। इसी काल में आप ने मौर्य साम्राज्य का इतिहास नामक अपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जिस पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सुप्रसिद्ध 'मंगलाप्रसाद' पुरस्कार मिला। चौदह-पन्द्रह वर्ष तक गुरुकुल में उपाध्याय रहने के उपरान्त आप पेरिस विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त

करने के लिए फ्रांस चले गये। वहां जाकर आपने फ्रेञ्च भाषा सीखी। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी का उत्कृष्ट ज्ञान तो आपको पहले ही था। पी-एच०डी० उपाधि के लिए आपका शोध का विषय 'अग्रवाल जाति का इतिहास' था। पेरिस विश्वविद्यालय के जगत् प्रसिद्ध विद्वान् श्री रेनु के निरीक्षण और मार्गदर्शन में आप ने अपना शोधकार्य किया था। आप के शोधकार्य से पेरिस विश्वविद्यालय इतना प्रभावित हुआ कि आप को दी गई पी-एच०डी० की उपाधि के प्रमाण पत्र पर प्रथम विभाग में उत्तीर्ण ऐसे शब्द लिखे गए। सामान्यतः डाक्टरेट की उपाधियों के प्रमाण पत्रों पर कोई विभाग नहीं लिखा जाता। पेरिस से उपाधि प्राप्त करने के अनन्तर कुछ काल इंग्लैंड रहकर आप भारत लौट आये।

भारत आकर आपने आजीविका के लिए दिल्ली में एक विद्यालय मांटेसरी पद्धति के ढंग का चलाया। यह विद्यालय कुछ जम नहीं पाया। इसे बन्द करके आपने मसूरी में एक होटल खरोदा और अनेक वर्षों तक आप होटल चलाते रहे। होटल चलाने के साथ-साथ आप ग्रन्थ लेखन का कार्य भी करते रहे। फिर आपने होटल का काम तो बन्द कर दिया और पूर्णरूप से ग्रन्थलेखन के काम में ही जुट गये। आपने इतिहास और राजनीति आदि विषयों पर सब मिलाकर कोई तीन दर्जन के लगभग ग्रन्थों का प्रणयन किया। आपके ग्रन्थ खूब पसन्द किये गये। आपके अनेक ग्रंथ तो स्कूलों और कालेजों में पाठ्य पुस्तकों के रूप में लगे हुए हैं। आप के ग्रन्थों की इतनी मांग हुई कि आपने अपना ही प्रकाशन विभाग खोल लिया और उसी की ओर से आपके ग्रन्थ छपने लगे। आपके ग्रन्थों से आपकी विद्वत्ता की धाक फैल गई। आप भारत के मूर्धन्य इतिहास वेत्ताओं में गिने जाने लगे। भारत और अन्य अनेक देशों के इतिहास पर आप अधिकारपूर्वक लिखते और बोलते थे। अनेक विश्वविद्यालयों में उन्हें विशेष भाषणों के लिए बुलाया जाता था। अनेक विश्वविद्यालय उन्हें अपने डाक्टरेट के छात्रों के शोध-प्रबन्धों का परीक्षक नियत करते थे।

इतिहास और राजनीति विषयक ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने कई ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना भी की थी। इन उपन्यासों को पढ़कर तत्कालीन भारत का जीवित-जागृत चित्र मन की आँखों के आगे उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की प्रतिभा डा० सत्यकेतु में थी। उनके अनेक ग्रन्थों पर विभिन्न संस्थाओं की ओर से भारी पुरस्कार राशियां देकर उन्हें सम्मानित किया जाता रहा है।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने एक इतिहासकार के रूप

में आर्यसमाज की जो सेवा की है वह आर्यसामाजिक जगत् में सदा कृतज्ञता के साथ स्मरण की जायेगी। उन्होंने कई साल लगा कर और भारी व्यय करके बड़े-बड़े सात भागों में आर्यसमाज का एक बृहत् इतिहास लिखा। इतिहास की सामग्री एकत्र करने और उसकी छान-बीन करके यह विशाल-काय इतिहास लिखने में डा० सत्यकेतु ने जो परिश्रम किया है, उसे देखकर अचम्भित रह जाना पड़ता है। महर्षि दयानन्द जैसे लोकोत्तर महापुरुष द्वारा संस्थापित आर्यसमाज जैसी महान् क्रांतिकारी संस्था का अभी तक कोई विस्तृत इतिहास नहीं लिखा गया था। यह एक भारी खटकने वाली बात थी। दीप्तिमान् प्रतिभाशाली विद्वान् डा० सत्यकेतु ने आर्यसमाज का यह विशालकाय इतिहास लिखकर आर्य जगत् की एक भारी कमी को पूरा किया है। इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाये और उनके प्रति जितनी कृतज्ञता प्रकट की जाये वह थोड़ी है।

डा० सत्यकेतु जी ने अनेक देशों की यात्राएँ भी की थीं। फ्रान्स, इंग्लैंड और यूरोप के कई देशों की यात्रा वे अपनी डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के प्रसंग में ही कर आये थे। एक डेपुटेशन के साथ उन्होंने चीन की यात्रा भी की थी। यात्रा का स्वयम् आयोजन करके यात्रा मण्डलियों के साथ इंडोनेशिया की यात्रा भी उन्होंने दो बार की।

डा० साहव के उद्भूट पाण्डित्य और योग्यता को सम्मानित करने के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय ने उन्हें विद्यामार्तण्ड (डी० लिट् के समकक्ष) की मानद उपाधि प्रदान की थी। वे गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति (वाइस चांसलर) भी बनाये गये थे। फिर उन्हें गुरुकुल विश्वविद्यालय का कुलाधिपति (चांसलर) भी बनाया गया था। गुरुकुल की सीनेट और विद्यासभा आदि के सदस्य भी वे अनेक वर्षों तक रहे।

डा० सत्यकेतु जी ने गुरुकुल विश्वविद्यालय, आर्यसमाज और साहित्य जगत् की जो अमूल्य सेवाएँ की हैं उनके कारण उनका नाम अमर रहेगा।

मैं इस उद्भूट मेधाशाली विद्वान् की स्मृतियों में उन्हें शतशः नमन करता हूँ।

—प्रियव्रत वेदवाचस्पति

भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

कालजयी मंजुल अनुबन्ध

तपः पूत लेखक वैदिक विद्वान् नमन तुम को सौ बार ।
दयानन्द के सच्चे सैनिक सत्यकेतु विद्यालंकार ॥

तुम आये गुरुकुल में ऐसा लगा किया भू ने शृङ्गार ।
लौहलेखनी सत्य समर में चलने लगी तर्क-तलवार ।
अपने मौलिक चिन्तन की पैनी धारा से दे दी धार ।
ग्रन्थ रत्न छत्तीस दिये, मन मन्थन कर जीवन का सार ।
संस्कृत हिन्दी अंग्रेजी औ' रूसी भाषा के विद्वान् ।
तुमको पाकर धन्य हो गया ग्राम कांगड़ी का उद्यान ।
हरिद्वार की पावन माटी भव्य भारती के सम्मान ।
तुम न सुन सके अपने कानों किसी दुखी का भी अपमान ।
अगणित पुरस्कार तुम को पाकर हो गये स्वयं ही धन्य ।
लेखक वक्ता यायावर नेता नवयुग के वीर अनन्य ।
आर्यसमाजी और समाजों का लिख दिया 'बृहत् इतिहास' ।
ऐसा लगा कि वामन ने फिर नाप लिया धरती आकाश ।
सोलह मार्च नवासी का नृशंस हत्यारा दिन दुर्धर्ष ।
कार सहित बेकार कर गया छीन ले गया मधुमय हर्ष ।
आते व्यक्ति चले जाते हैं पर कुछ जाते छोड़ सुगन्ध ।
और शून्य में भी लिख जाते कालजयी मंजुल अनुबन्ध ।
'केतु' 'सत्य' का सदा-सदा को स्मृति रूपी में फहराये ।
स्वप्न अधूरे पूरे हों वह पुनः जन्म लेकर आये ।

—प्रो० सारस्वत मोहन 'मनोषी'
डो०ए०वी० कालेज, अवोहर (पंजाब)

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के डा० सत्यकेतु विषयक संस्मरण

समानधर्मा होने से डाक्टर सत्यकेतु के नाम से मैं पहले भी परिचित था। “मौर्य साम्राज्य” लिखने पर उन्हें ‘मंगलाप्रसाद’ पारितोषिक मिला था। १९४३ ई० में वे मसूरी में होटल संचालक थे। उस समय मैं दो-तीन दिन के लिए मसूरी आया था। पता लगा था, पर मुलाकात नहीं हुई। १९४८ में मुझे मालूम होने लगा था कि यदि काम करना है तो गर्मी-बरसात में हिमालय के ही किसी भूभाग में रहकर वह हो सकता है। जाड़े का तो मुझे खौफ नहीं था, क्योंकि रूस की जिस सर्दी को मैं काट आया था, वह हमारे यहां बारह-तेरह हजार फुट के ऊपर होती है, और हिमालय की पुरियों में कोई भी सात हजार फुट से अधिक ऊँची नहीं है। दार्जिलिंग-कलिम्पोंग से कश्मीर तक के हिमालय के बहुत से भागों को मैंने देखा है। कश्मीर, डलहौजी, शिमला एक छोर पर पड़ते हैं, इसलिए वहां रहना मुझे पसन्द नहीं था। कुल्लू-उपत्यका के नगर और मनाली अपनी ओर जरूर आकृष्ट करते थे, किन्तु उस समय वहाँ सड़क बिगड़ी हुई थी, हर साल ही मोटर-सड़क टूटने का डर रहता था, यह बड़ी बाधा थी। उस समय मिट्टी का तेल प्राप्त करना भी एक समस्या थी, जिसके बिना रात को रोशनी नहीं मिलती और काम नहीं हो सकता था। अनुकूल स्थान तलाश करते १९४८ में शिमला होते मैं कनौर तक गया। वहाँ भी नजर नहीं जमी। १९४९ ई० में कलिम्पोंग-दार्जिलिंग देखा, वह भी देश के दूसरे छोर पर पड़ते थे। सब से दिक्कत यह थी कि बहुत दूर का फासला छोटी लाइन से पार करना पड़ता। यह लाइन कभी बी० एन० डब्लू० आर के नाम से प्रसिद्ध थी, फिर ओ० टी० आर० नाम पड़ा और आजकल एन० ई० (उत्तर-पूर्वी) रेलवे कही जाती है। नाम चाहे कितना ही बदले, लेकिन गुण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हरेक भुक्तभोगी यही कहता है, कि खुदा बचावे इस लाइन से। साल भर रहने के बाद कलिम्पोंग-दार्जिलिंग का भी ख्याल छोड़ना पड़ा। अब नैनीताल

और मसूरी दो ही में किसी को अपना स्थायी निवास बनाना था ।

मेरे एक मित्र ने नैनीताल जिले के रामगढ़ की बड़ी प्रशंसा की । मौसम के वक्त वहाँ सेव और दूसरे फलों की भरमार हो जाती है, यह आकर्षण जरूर था । लेकिन वहाँ रहना हो सकेगा, इस पर पूरा भरोसा नहीं था । इसीलिए जब मालूम हुआ कि डा० सत्यकेतु नैनीताल में हैं, तो उन्हें भी आने के लिए पत्र लिख दिया था । १२-१४ मन सामान लेकर हम शाम को रामगढ़ पहुँचे । रहने का मकान कुयें में था, अर्थात् काफी उतराई उतरनी पड़ती थी, जो लौटते वक्त चढ़ाई हो जाती थी । मिट्टी के तेल ही नहीं खाने-पीने की चीजों के मिलने में बड़ी दिक्कत थी, जो एक-दो दूकानें थी, वह तेरह-बाईस ही थीं । रात भर रहकर मालूम हो गया कि यहाँ रहना हमारे लिए ठीक नहीं हो सकता । अगले ही दिन उन्हीं कुलियों से फिर सामान उठवाकर बस के अड्डे पर गये और लाद-लूद-कर मवाली होते नैनीताल पहुँचे ।

हिमालय की अनेक पुरियों को देखे होने से नैनीताल के प्रताप को देखकर आँखें चौंधिया जायँ, ऐसी बात नहीं थी । पर नैनीताल का ताल बहुत ही सुन्दर चीज है, जो श्रीनगर (कश्मीर) को छोड़ कर किसी को प्राप्य नहीं है । हम अपना सामान उठवाकर डाक्टर साहब के पास पहुँचे ।

इतिहास का एक गम्भीर विद्वान् होटल चलाए, इसे देखकर “पढ़े फारसी बेचे तेल, यह देखो कुदरत का खेल” की कहावत याद आती थी । यह कुदरत का खेल नहीं, बल्कि आज के समाज की अन्धेर नगरी का खेल था । डा० सत्यकेतु ने संस्कृत और दूसरे शास्त्रों का अध्ययन गुरुकुल में किया । गुरुकुल के स्नातकों को किसी समय लोग समझते थे कि उनकी कोई योग्यता नहीं होती । अब गुरुकुल की डिग्री बी० ए० के बराबर समझी जाती है और वहाँ के स्नातक सीधे एम० ए० में बैठ सकते हैं । संस्कृत, हिन्दी में वह परीक्षा में सबसे ऊपर रहते हैं, यह उनकी योग्यता का प्रमाण है । संस्कृत और हिन्दी साहित्य के पढ़ने वाले के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है, यदि वह अपने आरम्भिक आठ या दस साल को गुरुकुल में बिता दे । दूसरे बोर्डिंग स्कूलों की अपेक्षा गुरुकुल में खर्च भी ज्यादा नहीं है ।

डा० सत्यकेतु गुरुकुल, कांगड़ी के स्नातक बनने के बाद कुछ समय तक अध्यापक रहे । इसी बीच अपनी पुस्तक पर उन्हें ‘मंगलाप्रसाद’ पारि-

तोषिक मिला। विदेश में जाकर अनुसंधान और अधिक ज्ञान अर्जन करने की आकांक्षा हुई, पर उसके लिए पैसों की आवश्यकता थी। वह गरीब मां-बाप के सन्तान थे। गुरुकुल में भी शुल्क कम करके दाखिल हुए थे। पर आदमी यदि दृढ़ संकल्प कर ले, तो “जो इच्छा करिहौ मन माही। हरि-प्रताप कछु दुर्लभ नाहीं।” और यहां हरि आदमी का साहस है। अब वह गृहस्थ भी हो गए थे। उनकी पत्नी सुशीला देवी संस्कृत की शास्त्री और एफ० ए० पास थीं। उन्होंने अकेले ही नहीं बल्कि पत्नी और छोटे से बच्चे को भी साथ ले जाने का निश्चय किया। आखिर दरवाजा खुला और अपने परिश्रम के ही बल पर। किसी पुस्तक पर इतना रुपया मिल गया, कि केतु दम्पती पेरिस पहुँच गये। पति ने पेरिस में डी० लिट् के लिए अनुसंधान करना शुरू किया और शीला जी ने शिक्षण-विज्ञान को सीखना। परिवार सहित रहने पर वह अपने आप भी रसोई बना सकते थे। जिससे खर्च में कमी होती ही थी। डाक्टर बनकर वह भारत लौटे। यूरोप में देखकर उन्होंने समझा कि भारत में भी छोटे बच्चों का विद्यालय खोला जा सकता है। पति-पत्नी पेरिस से शिक्षा का अनुभव लेकर आये थे, उन्हें विश्वास था कि दिल्ली में ऐसी संस्था के सफल होने की बड़ी संभावना है। विद्यालय खोल दिया। इसी समय विश्व-युद्ध के कारण मध्यवित्त लोगों की स्थिति खराब हो गई और विद्यालय के चलने की कोई संभावना न रहने के कारण उसे बन्द कर देना पड़ा।

दूसरा बुद्धिजीवी होता तो हाथ पर हाथ धरकर बैठता और किस्मत को कोसता। पर, डा० सत्यकेतु में कोई विशेष बात थी, तभी तो साधनहीन होने पर भी उन्होंने परिवार सहित विदेश में जाकर पढ़ने की हिम्मत की। जैसी स्थिति हो, उसके मुताबिक काम करना चाहिए। ईमानदारी कायम रहे, किसी काम के करने से संकोच नहीं करना चाहिए, यही उनका मोटो था। लड़ाई के दिनों में हिमालय की विलासपुरियों की बन आई थी। जापान के आक्रमण को रोकने के लिए लाखों अंग्रेज और अमेरिकन सैनिक हमारे देश में पड़े हुए थे। गर्मियों में हिमालय के ठण्डे स्थान उन्हें आकृष्ट करते थे, विलासपुरियों की बन आई थी। डा० सत्यकेतु का जन्म स्थान सहारनपुर का एक गांव है। सिवालिक के दक्षिण उनकी जन्मभूमि और सिवालिक के उत्तर मसूरी है। गुरुकुल में रहते अपनी यात्राओं में वह मसूरी देख चुके थे। सोचा मकान किराया पर लेकर एक होटल खोल दिया जाय। १९४२ में तीनों प्राणी जिस दिन मसूरी आये, उस दिन उनके पास सिर्फ ढाई रुपये थे। शायद कोई परि-

चित्त पुरुष यहाँ पर मौजूद था। “लैक्समौंट” मकान को उन्होंने किराये पर ले लिया। मसूरी में उधार पर चीजें मिल जाया करती हैं। “लैक्समौंट” को उन्होंने रेस्तराँ और होटल दोनों के रूप में परिणत कर दिया। मेहमानों की कमी न थी, होटल चल निकला। लड़ाई के वक्त काफी नफा रहा। एक बार डर लगने लगा कि यह सरस्वती-पुत्र कहीं अपने जीवन को होटल चलाने में ही खतम न कर दे।

लड़ाई खत्म होने के साथ इस लाइन में डा० सत्यकेतु का दिमाग और दूर तक दौड़ने लगा कि किसी बड़े होटल को लेना चाहिए। नैनीताल के विशाल होटल मैट्रोपोल का पता लगा। उन्होंने उसे ठेके पर ले लिया। लेकिन, अब लड़ाई को खत्म हुए कई साल हो गए थे। १९४७ ई० में अंग्रेज भी भारत छोड़कर चले गए, जिन्होंने हिमालय की विलास-पुरियों को बनाया तथा आबाद किया था। डाक्टर साहब ने १९४९ ई० में इस बड़े काम को हाथ में लिया और साल भर के तजुबे ने बतला दिया कि घर में आग लगी हुई है, जितना जल्दी हो निकलो। होटल के मालिक के साथ शर्तनामा लिखा जा चुका था। खैर, किसी तरह जान बची, लाखों पाये। मसूरी के “लैक्समौंट” को उन्होंने छोड़ा नहीं था। उन्हें यह भी ख्याल आया कि सभी अण्डे एक ही टोकरी में नहीं रखने चाहिये। उन्होंने रक्खी हुई लेखनी हाथ में उठा ली और “यूरोप का आधुनिक इतिहास” लिख कर प्रकाशित किया।

होटल मैट्रोपोल से जिस वक्त डाक्टर पिण्ड छुड़ा रहे थे, उसी वक्त अपना सामान लिए मैं उनके पास पहुँचा। मैं पहले ही लिख चुका था कि मुझे वहाँ एक घर की जरूरत है, जिसे खरीद कर मैं बारहों महीना रहना चाहता हूँ। उन्होंने लिख दिया था—कि मकानों की कमी नहीं है। अपने देखकर पसन्द कर लें। नैनीताल में तीन-चार महीने हम रहे। मकानों को भी देखा और नैनीताल की दिक्कतों को भी। अन्त में मन नहीं भरा। फिर मसूरी देखने को रह गई। डा० साहब भी अब नैनीताल छोड़कर मसूरी ही जा रहे थे, यह और सुभीता था। उनके सम्बन्ध से नैनीताल पहुँचा था और अब इन्हीं के सम्बन्ध से मसूरी का ख्याल आया। वैसे मैं मसूरी को १९४३ ई० में देख चुका था। यह भी मालूम था कि यहाँ से बाहर आने-जाने का जितना सुमीता है, उतना हिमालय की किसी पुरी से नहीं। ४० मिनट में मोटर या बस से देहरादून पहुँच सकते हैं और देहरादून से सीधे बम्बई तथा कलकत्ता तक की ट्रेन मिलती है।

अब भी डाक्टर साहब ने यही कहा—आप आकर मकान देख लें।

मुझे हरेक काम के जल्दी करने की पड़ी रहती है। यह गुण भी है और दोष भी। मकान लेने में जो जल्दी की, वह गलती थी। मैं जून १९५० में मसूरी आया, डाक्टर साहब ने कई मकान दिखलाए। मैं केन्द्र से दूर रहना चाहता था, ताकि मिलने-जुलने वालों की संख्या अधिक न हो। इससे यह भी लाभ था कि वहाँ मकान सस्ते थे। घूमते-घामते मसूरी के एक छोर पर अन्तिम मकान “हर्नविलफ” को मैंने पसन्द किया। डाक्टर साहब की सलाह माने होते, तो साल दो साल किराये पर रहकर फिर मकान लेते। यह अच्छा होता, पर मेरे दिमाग में यह भी खयाल काम कर रहा था कि प्रकाशक से जो २५ हजार अग्रिम मिले हैं, कहीं मुद्रा-स्फीति के कारण बैंक में रक्खे-रक्खे अपने मूल्य में आधे न हो जायें। इस समय भी मसूरी में मकानों का दाम काफी गिर गया था, लेकिन क्या पता था कि आगे वह मिट्टी के मोल हो जायेंगे। खैर, मुझे मसूरी में लाने और बसाने में डाक्टर सत्यकेतु का हाथ रहा था।

यहाँ बस जाने पर अब वह हमारे स्थायी घनिष्ठ मित्र हो गये। यद्यपि हमारे निवासों की दूरी में ढाई मील का अन्तर है, लेकिन उसके द्वारा अच्छी चहलकदमी हो जाती है।

डा० सत्यकेतु ने फिर अपने योग्य काम को ही हाथ में लिया, उसी के लिए उन्होंने बचपन से अपने को तैयार किया था। स्वतंत्र भारत में विद्यार्थियों की अंग्रेजी की योग्यता दिन पर दिन गिरती जा रही थी, पर बूढ़े शिक्षा-विशेषज्ञ पूरी कोशिश करते थे कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहे, परीक्षा के प्रश्नोत्तर अंग्रेजी में ही लिखे जायें। लेकिन ज्यादा दिन नहीं बीते, उन्हें मालूम हो गया—ऐसा तभी किया जा सकता है, जब सौ में से नब्बे विद्यार्थियों को फेल कर दिया जाय, विश्वविद्यालय को शिक्षण-संस्था नहीं, बल्कि कसाईखाना बना दिया जाय। तरुण पीढ़ी इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती थी, यह भी वह जानते थे। बूढ़ों को भवितव्यता के सामने सिर झुकाना पड़ा। पहले परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर देने में हिन्दी को ऐच्छिक बनाया, फिर हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें भी आईं। विद्यार्थियों ने अध्यापकों को हिन्दी पढ़ाने के लिए भी बाध्य किया। इस प्रकार हिन्दी का रास्ता साफ हो गया। अपने प्रिय विषय—इतिहास और राजनीति के—सम्बन्ध में डाक्टर साहब ने पुस्तकें लिखनी शुरू कीं, उनका हर जगह स्वागत हुआ। लेकिन पाठ्य पुस्तकों में स्थाई लाभ देखकर इस क्षेत्र में जल्दी ही बहुत से ग्रन्थ-कर्त्ता आ जुटे और एक दूसरे को देखकर पुस्तकें तैयार करने लगे। प्रतिद्वन्द्विता जरूर आ गई, पर डाक्टर साहब अपने

विषय की पूरी जानकारी रखकर तथा ज्ञान को पचाकर कागज पर उतारते, जबकि दूसरे अधपच अल्पज्ञता का सहारा लेते। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने होटल का काम छोड़ दिया और अब अपने परिपक्व ज्ञान का लाभ दूसरों को पहुँचाने के लिए ग्रन्थ लिखने में लग गये हैं अब उनसे मसूरी भी छूटने जा रही है। दिल्ली काम के लिए ज्यादा पसन्द आई है। गर्मी-बरसात में तो मुझे हिमालय के किसी कोने को पकड़ना पड़ेगा। पर, यदि तकान न ले लिया होता तो मुझ से भी मसूरी अब तक छूट गई होती।

प्रस्तुति—डा० भवानीलाल भारतीय

(“जिनका मैं कृतज्ञ” शीर्षक पुस्तक से संगृहीत)

“जो उन्नति करना चाहो तो आर्यसमाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पबार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा, उस की उन्नति तन-मन-धन से सब जगह मिलकर प्रीति से करें। इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।”

—महर्षि दयानन्द सरस्वती



डा. सत्यकेतु विद्यालंकार की साहित्य साधना

—प्रो० भवानोलाल भारतीय

भारतीय इतिहास के अप्रतिम विद्वान् डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने आर्यसमाज का सप्त खण्डात्मक इतिहास सम्पादित कर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। यह बात नहीं कि इस विराट् ग्रन्थ के प्रकाशित होने से पहले आर्यसमाज के इतिहास लिखे ही नहीं गए थे। उर्दू में राधा कृष्ण मेहता की 'तारीखे आर्यसमाज' तो १९०३ में ही लाहौर से प्रकाशित हो चुकी थी। उसके पश्चात् १९१५ में जब लाला लाजपतराय ने 'दि आर्यसमाज' शीर्षक अपना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इंग्लैण्ड से प्रकाशित करवाया तो आर्यसमाज के प्रवर्तक तथा उनके द्वारा संस्थापित इस महान् आन्दोलन की जानकारी अन्य देशवासियों को भी मिली, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं था। आवश्यकता इस बात की थी कि आर्यसमाज जैसी प्रबुद्ध, प्रगतिशील तथा धार्मिक-सामाजिक क्रान्ति की वाहक संस्था का सम्पूर्ण इतिवृत्त पूर्णतया वैज्ञानिक और व्यवस्थित ढंग से लिखा जाये। ऐसे इतिहास लेखक की तलाश थी, जो इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरे दायित्व के साथ करता।

लिखने को तो पं० नरदेव शास्त्री ने दो खण्डों में आर्यसमाज का इतिहास लिखा भी, जो १९१८ तथा १९१९ में छपा, किन्तु यह तो इतिहास न होकर इतिहासाभास ही था। आर्यसमाज में सर्वत्र इसकी आलोचना हुई क्योंकि इसमें कुछ बातें तो ऐसी समाविष्ट हो गई थीं, जिनसे दयानन्द भाष्य की अपेक्षा सायण के वेद भाष्य की उत्कृष्टता सिद्ध हो रही थी तथा स्वामी दयानन्द से द्रोह कर आर्य सिद्धान्तों की सतत आलोचना करने वाले पं० भीमसेन शर्मा सर्वथा निर्दोष साबित होते थे। कालान्तर में स्वामी श्रद्धानन्द ने इतिहास लेखन का गुरुतर दायित्व अपने सबल कंधों पर लिया और एतद् विषयक सामग्री का संग्रह किया। इससे

पहले कि वे इस कार्य का आरम्भ करते, उनका बलिदान हो गया। यदि स्वामी श्रद्धानन्द की लौह लेखनी से यह कार्य सम्पन्न होता तो वह अपने आप में एक अद्भुत उपलब्धि ही होती। कारण कि स्वामी जी तो स्वयं आर्यसमाज के इतिहास के निर्माता ही थे, और उन्होंने गत शताब्दी के अन्तिम दशक से लेकर इस शताब्दी के चौथाई भाग तक तो इस महान् आन्दोलन की समस्त गतिविधियों को अत्यन्त निकटता जागरूकता के साथ देखा था।

स्वामी श्रद्धानन्द ने इतिहास लेखन का दायित्व अपने पुत्र पं० इन्द्र जी को सौंपा। उनके द्वारा संगृहीत सारी सामग्री भी पं० इन्द्र जी के पास थी ही। १९५६-५७ में इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपनी सधी लेखनी से आर्यसमाज का इतिहास दो भागों में लिखा, किन्तु यह भी अपर्याप्त और अपूर्ण ही था, क्योंकि इतिहास लिखने के पीछे पर्याप्त श्रम और साधन की अपेक्षा होती है। सर्वोपरि बात तो यह है कि इतिहास लिखने के पहले लेखक को एतद् विषयक दृष्टि का निर्धारण करना पड़ता है। इतिहास केवल तिथियों, व्यक्तियों या घटनाओं का विवरण ही नहीं है, वह तो समसामयिक जीवन तथा उसको प्रभावित करने वाले व्यक्तियों और उनकी प्रवृत्तियों के पारस्परिक घात प्रतिघात तथा जीवन को प्रभावित करने वाले परिदृश्यों का वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक आकलन होता है।

बहुत बाद में, १९७९ में डा० सत्यकेतु ने जब सात खण्डों में आर्यसमाज के इतिहास का प्रणयन करने का संकल्प किया, तो ऐसा लगा मानों एक शताब्दी पूर्व स्थापित तथा महर्षि दयानन्द के स्वप्नों को साकार करने वाले इस महान् आन्दोलन को एक तस्वीर पाठकों के समक्ष आ सकेगी। ऐसी बात नहीं है कि डा० सत्यकेतु ने इससे पूर्व सारस्वत यज्ञ में अपनी कोई आहुति डाली ही नहीं थी। १९०३ में सहारनपुर जिले के एक गांव में उनका जन्म हुआ और उनकी शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में हुई, जहाँ से वे १९२४ में स्नातक बने और विद्यालंकार की उपाधि ग्रहण की। उनकी विद्या पिपासा गुरुकुल के अध्ययन से ही समाप्त नहीं हुई और वे फ्रांस जाकर डी० लिट० की उपाधि ले आये। प्रारम्भ में वे 'अर्जुन' के सहायक सम्पादक रहे, गुरुकुल में ही उन्होंने इतिहास का अध्यापन किया। उस समय आचार्य रामदेव जी स्वयं स्नातकों को भारत का इतिहास पढ़ाते थे। आचार्य रामदेव ने जब तीन बृहत् खण्डों में भारतवर्ष का इतिहास लिखने का संकल्प किया तो डा० सत्यकेतु उनके सहयोगी बने। इस ग्रन्थ-

माला के तृतीय खण्ड में रामदेव सत्यकेतु दोनों का नाम संयुक्त लेखक के रूप में छपा।

डा० सत्यकेतु इतिहास जगत् में इस समय उदीयमान नक्षत्र की भांति प्रकाशित हुए, जब उन्होंने मौर्य साम्राज्य का इतिहास लिखा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इस ग्रन्थ को 'मंगलाप्रसाद' पुरस्कार से सम्मानित किया जो उस समय का सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक सम्मान था। डा० सत्यकेतु की लेखन प्रतिभा के विविध आयाम रहे हैं। उन्होंने इतिहास के शुष्क शरीर में तो अपनी रचनाओं के द्वारा प्राण संचार किया ही, अपनी विधायक कल्पना शक्ति और कारयित्री प्रतिभा के द्वारा कुछ सुन्दर उपन्यास भी लिखे। 'अमात्य चाणक्य' और 'होटल मार्टन' उनकी विख्यात कथाकृतियां हैं। फ्रांस में रहते समय उन्होंने फ्रेंच भाषा पर भी पर्याप्त अधिकार कर लिया था। इसलिए फ्रांस के विख्यात कलाकार मोपांसां की कहानियों का हिन्दी अनुवाद करने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई।

आर्यसमाज का सप्त खण्डात्मक इतिहास उनके साहित्यिक यज्ञ की पूर्णाहुति है। इस कार्य को आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने दिल्ली में अपने निवास पर कुछ विद्वानों को आमंत्रित किया और एतद् विषयक चर्चा की। इस गोष्ठी में सर्व श्री क्षेमचन्द्र सुमन, डा० वेदप्रताप वैदिक, डा० धन-पति पाण्डेय, प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु तथा इन पंक्तियों का लेखक भी सम्मिलित हुआ। प्रारम्भ में तो यही उचित समझा गया कि इतिहास के विभिन्न खण्डों का लेखन पृथक्-पृथक् विद्वानों को सौंप दिया जाय। सातों खण्डों की विशद रूपरेखा तो खुद डा० सत्यकेतु जी ने ही बना ली थी और उसे प्रकाशित भी किया जा चुका था।

किन्तु लेखन के संयुक्त दायित्व को निभाना भी सरल नहीं है। अन्ततः यही निश्चय हुआ कि प्रधान सम्पादक डा० सत्यकेतु स्वयं तथा जिस व्यक्ति को उचित समझें उसके सहयोग से वे इस ग्रन्थमाला को तैयार करें। फलतः १९८२ में इतिहास का प्रथम खण्ड छपा और उसके बाद तो प्रति वर्ष एक एक खण्ड नियमित रूप से प्रकाशित होता रहा। इतिहास लेखन का यह महान् अनुष्ठान १९८८ में पूरा हुआ और विधि का कैसा विचित्र विधान है कि अपनी सारस्वत साधना के इस सत्र को समाप्त कर डा० सत्यकेतु ने १६ मार्च १९८९ को अपनी जीवन लीला समाप्त कर ली।

आर्यसमाज के इतिहास का प्रथम खण्ड नवजागरण की पृष्ठभूमि
सत्यकेतु स्मृति ग्रंथ

और भारत के उन्नीसवीं शती के धार्मिक सांस्कृतिक आंदोलनों का पूरा जायजा लेता है। इस में महर्षि दयानन्द के राष्ट्रीय योगदान की विस्तृत समीक्षा की गई है। १८८३ की घटनाओं तक का विवेचन इस खण्ड में इतिहास लेखन की समस्त बारीकियों को ध्यान में रखकर किया गया है। तीन अध्यायों को छोड़कर जो पं० हरिदत्त वेदालंकार ने लिखे, यह खण्ड डा० सत्यकेतु की लेखनी से ही प्रसूत हुआ है।

द्वितीय खण्ड आर्यसमाज के प्रचार प्रसार के कार्य का मूल्यांकन करता है और इसका विवेचना क्षेत्र १८८३ से १९४७ तक का है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द के निधन काल से आरम्भ कर देश के स्वतन्त्र होने तक की अवधि की घटनायें इस भाग में चित्रित हुई हैं। तीस अध्यायों में समाप्त इस इतिहास के २० अध्याय डा० सत्यकेतु ने और अवशिष्ट ६ उनके सहयोगी प्रो० हरिदत्त ने लिखे। राजस्थान विषयक पन्द्रहवां अध्याय इन पंक्तियों के लेखक ने लिखा। तृतीय खण्ड आर्यसमाज की शिक्षा के क्षेत्र की उपलब्धियों का समीक्षण प्रस्तुत करता है। गुरुकुल और डी० ए० बी०, दोनों प्रकार के शैक्षिक आन्दोलनों की विस्तृत चर्चा के साथ-साथ इन संस्थानों की वर्तमान गतिविधियों का भी पूरा लेखा जोखा इस खण्ड में दिया गया है।

इतिहास का चतुर्थ खण्ड यद्यपि १८७५ से १९२६ तक के घटनाक्रम को वर्णित करता है, किन्तु इसका महत्त्व इसलिए बढ़ गया है क्योंकि इसमें आर्यसमाज और राजनीति जैसे संवेदनशील विषय को पूर्ण निष्पक्षता एवं तटस्थता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में भी प्रो० हरिदत्त डा० सत्यकेतु के सहयोगी रहे और इन पंक्तियों के लेखक ने राजस्थान के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में आर्यसमाज की भूमिका को एक अध्याय में विवेचित किया। पंचम खण्ड का विशिष्ट महत्त्व है। आर्यसमाज के विद्वानों ने शताधिक वर्षीय कार्यकाल में उत्तम कोटि का साहित्य लिखा और वह प्रकाशित भी हुआ। इस विस्तृत सारस्वत यज्ञ की एक रम्य भांकी दिखाना ही इस खण्ड का प्रयोजन था। इन पंक्तियों के लेखक ने २१ अध्यायों में आर्यसमाज के तत्त्वावधान में प्रणीत उस समस्त साहित्य का विषयानुसार वर्गीकरण कर विवेचन किया है। जिसके माध्यम से आर्यसमाजी लेखकों की लेखन क्षमता अभिव्यक्त हुई है। प्रो० हरिदत्त ने भी चार अध्याय इसी विषय को लेकर लिखे। इस प्रकार इतिहास का यह पंचम खण्ड एक प्रकार से आर्यसमाज के साहित्य का ही समग्र मूल्यांकन है।

अवशिष्ट दो खण्डों में स्वतन्त्रता पूर्व एवं स्वातन्त्र्योत्तर भारत में आर्यसमाज के कार्यकलाप तथा गतिविधियों का समीक्षण हुआ है। इसी वर्ष प्रो० हरिदत्त जी का देहान्त हो गया। १९२६ से १९४७ तक की गतिविधियों का आकलन डा० सत्यकेतु ने १२ अध्याय लिखकर, डा० भवानीलाल भारतीय ने पांच अध्याय लिख कर तथा पं० दत्तात्रेय तिवारी ने १६ अध्याय लिख कर किया। १९८८ में प्रकाशित सप्तम खण्ड भी उपर्युक्त तीनों द्वारा ही लिखा गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आर्यसमाज के विस्तार तथा उसकी विविध आन्दोलनात्मक प्रवृत्तियों की इसमें चर्चा हुई है। इस प्रकार आर्यसमाज के इतिहास लेखन और प्रकाशन का यह महत् उद्योग डा० सत्यकेतु जी की निष्ठा, लगन, अध्यवसाय तथा परिश्रम से पूरा हो सका। उनकी इच्छा थी कि अंग्रेजी भाषी पाठकों के लिए वे इस इतिहास का एक संक्षिप्त संस्करण अंग्रेजी में भी निकालते, किन्तु अब उनके दिवंगत हो जाने के पश्चात् यह चुनौती भरा काम किसी अन्य जीवत वाले व्यक्ति की राह देख रहा है।

कोई देश सच्चे अर्थों में तब तक स्वतन्त्र नहीं है, जब तक अपनी भाषा में नहीं बोलता।

* * *

देश के सब से बड़े भू-भाग में बोली जाने वाली हिन्दी ही राष्ट्रभाषा पद को अधिकारिणी है।

—नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

सत्यकेतु सप्तक

(कविवर 'प्रणव' शास्त्री एम०ए० महोपदेशक)

सत्यकेतु के सत्य गुणों का कीर्ति केतु लहराता है ।

उनके गुण गौरव की गाथा मुक्त कण-कण गाता है ॥

जननी की वह कोख धन्य है, जहां जन्म का सुख पाया ।
पूज्य पिता के यत्न कोटि से रत्न अनोखा जो पाया ॥
घराघाम में नाम ग्राम भी यहां अमर हो जाता है ॥१॥

गुरुकुल गङ्गा वारि घर में मल-मल खूब नहाये थे ।
बिमल विवेकी गुरु चरणों में बैठे आप सिहाये थे ॥
यती व्रतों ब्रह्मचारी ही तो ज्ञान मान को पाता ॥२॥

सत्य साधना श्रम की सत्ता रङ्ग अनोखा भर लाई ।
ज्ञान राशियां मिलीं कृपानिधि गुरुओं ने जो बिखराई ॥
तपते-तपते स्वर्ण वर्ण भी कुन्दन ही बन जाता है ॥३॥

श्रद्धायुत आनन्द राशि के आशिष मिले निराले थे ।
वर्णी बोध-विद्या में जिसने सारे ही व्रत पाले थे ॥
उसी विद्या से प्रंकुर बढ़ता विटप विशाल कहाता है ॥४॥

नित्य निरन्तर चली लेखनी कभी नहीं विश्राम किया ।
गौरव ग्रन्थ अनेकों रचकर घराघाम में नाम किया ॥
इसीलिए तो मस्तक सबका तुम को ही झुक जाता है ॥५॥

शतवर्षी इतिहास लिखा जो आर्यसमाजी थाती है ।
देव दयानन्द के स्वप्नों को सहारते प्रकटाती है ॥
गुरुकुल कुलपति पद भी तुम से पूर्ण प्रतिष्ठा पाता है ॥६॥

अमर हो गए अमर कर गए इतिहासों की माला को ।
प्रबल प्रेरणा और चेतना जगा गए तुम ज्वाला को ॥
“प्रणव” काव्य की कड़ियां लड़ियां तुमको भेंट चढ़ाता है ॥७॥

शास्त्री सदन रामनगर (कटरा)

आगरा-६ (उ० प्र०)

डा० सत्यकेतु के ऐतिहासिक उपन्यास

—डा० विष्णुदत्त राकेश

मौर्य एवं शुंगकाल सम्बन्धी हिन्दी उपन्यासकारों में मिश्रबन्धु, राहुल, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, रांगेय राघव, आनन्द प्रकाश जैन, गुरुदत्त, तथा रामरतन भटनागर में से डा० सत्यकेतु की रचनाएँ घटनाक्रम, पात्र-परिवेश और सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से इतिहास के सर्वाधिक निकट हैं। शेष कथाकारों ने युगीन इतिहास की चादर पर कल्पना के रहस्य, रोमांच तथा प्रणय से परिपूर्ण चित्रों की वैयक्तिक संवेदना मूलक दृष्टि का ही उद्घाटन किया है। डा० सत्यकेतु जी वातावरण विधायकी शैली के द्वारा जहाँ तत्कालीन समाज, धर्म, दर्शन, ऐतिहासिक यथार्थ और वैदिक संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं वहाँ बौद्धिक और वैचारिक धरातल पर घटित तत्कालीन पात्रों की वैयक्तिक और सामूहिक दृष्टि को भी स्पष्ट करते हैं। धर्मनिरपेक्ष स्वर, सामाजिक वैषम्य, वर्णाश्रमवाद, पुरुषार्थ चतुष्टय तथा लोक परलोक सम्बन्धी विचारधाराओं पर डा० सत्यकेतु जी की दृष्टि अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा भिन्न है और इसका मूल कारण उनका आर्य चिन्तन और जीवन दर्शन से प्रभावित होना रहा है।

भारतीय इतिहास के शुद्ध लेखन और मूल्यांकन की जिस आवश्यकता की ओर महर्षि दयानन्द ने ध्यान आकृष्ट किया था, उसकी पूर्ति का प्रयत्न आचार्य रामदेव, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, पं० चन्द्रगुप्त वेदालंकार तथा डा० सत्यकेतु जी ने मौलिक इतिहास ग्रन्थ लिखकर किया। आचार्य चाणक्य, चन्द्रगुप्त, पतंजलि और पुण्यमित्र भारतीय इतिहास के निर्माता एवं गौरवशाली व्यक्ति हैं, पर इनके चरित्र और कार्य का मूल्यांकन पाश्चात्य दृष्टि से प्रेरित इतिहासकारों ने ठीक नहीं किया। डा० सत्यकेतु जी ने अतर्कित और अनुमानाश्रित इतिहास लेखन की परम्परा को चुनौती देते हुए प्राचीन भारतीय इतिहास की आधारभूत सामग्री की मौलिक और बुद्धिग्राह्य व्याख्या भी की। मौर्य साम्राज्य का इतिहास और पाटली पुत्र की कहानी से इस तथ्य की पुष्टि भली भाँति हो जाती है।

अपने उपन्यासों में डा० सत्यकेतु जी ने आचार्य चाणक्य और

आचार्य पतंजलि को आधार बनाकर भारतीय साम्राज्य के संगठन और वैदिक संस्कृति पर आधारित भारतीय समाज को उन्नत रूपरेखा की परिकल्पना की है। उनकी जीवन दृष्टि में समग्रता है, अंधातिरेक या आरोपित अतीत गौरव का उन्माद उनमें नहीं है। अतीत रस जीवन के वर्तमान को प्रेरणा देता है। डा० सत्यकेतु ने इतिहास और कल्पना के समन्वय द्वारा जन जीवन को प्रेरित करने का कार्य किया। यदि इतिहास के तथ्यों को सही ढंग से उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है तो इतिहास के प्रति पाठक की रुचि जाग्रत होती है। वस्तु चयन के साथ जीवनगत संभावनाओं का प्रकटीकरण इन उपन्यासों की अन्तर्निहित चेतना है। इन उपन्यासों की विशेषता यह है कि इन्होंने इतिहास प्रसिद्ध विशेष चरित्रों को निर्विशेष मानव चरित्र के साथ जोड़ दिया है। प्रेम और त्याग के गत्वर किन्तु भास्वर चित्रों का निर्माण इसी कारण इन उपन्यासों में बराबर हुआ है। ऐतिहासिक तथ्यों का संचयन यहाँ सोद्देश्य है। कल्पना, स्वच्छन्दता और रूमानियत की अपेक्षा एक विराट् ऐतिहासिक सांस्कृतिक चेतना का प्रवाह इन रचनाओं में है और ये पाठकों के समक्ष मानवोचित दुर्बलता को लेकर भी उदात्त जीवन चिन्तन के साथ प्रकट होती है।

भारतीय अतीत की भीतरी संवेदना, बाहरी घटनाक्रम और दबाव तथा भरतीयेतर सांस्कृतिक मान्यताओं और जीवन पद्धतियों का मिश्रित रूप इन ऐतिहासिक उपन्यासों के निर्माण की नींव कहे जा सकते हैं। इसी पर साहस, वीरता, राष्ट्रीयदर्प, आत्मगौरव, प्रेम-प्रणय, आत्मबल, त्याग, समर्पण और सद्-असद् के संघर्ष के कंगूरी वाला सांस्कृतिक महल निर्मित किया गया है। विदेशी इतिहासकारों की मताग्रहपूर्ण धारणाओं का प्रक्षालन हुआ है तथा ऐतिहासिक प्रामाणिकता और कलात्मक प्रभावान्विति के सामंजस्य से इतिहास को साहित्य का लालित्य मिला है। प्रस्तुतीकरण अथवा औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से भी इन उपन्यासों का साहित्यिक सामर्थ्य कलात्मक उपन्यासों से किसी मात्रा में कम नहीं है।

चाणक्य और सेनानी पुण्यमिष

चाणक्य डा० सत्यकेतु का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना और सम्पूर्ण भारत की एकता का उद्देश्य लेकर आचार्य चाणक्य ने जो उद्योग किया, उसी का विशद चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है। भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोने के

अतिरिक्त आदर्श राज्य व्यवस्था और उत्तम समाज व्यवस्था का चित्रण करने वाला ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' लिखकर उन्होंने बौद्धिक सम्पत्ति का कीर्तिमान स्थापित किया। डा० सत्यकेतु भारत के उन विचारकों से पूर्ण असहमत हैं जो चाणक्य को तुलना मेकियावली से करते हैं तथा चाणक्य की राजनीति को उचित-अनुचित के विवेक से रहित मानकर साध्य की पूर्ति के लिए सचेष्ट घृणित साधनाश्रित कार्य प्रणाली को प्रोत्साहन देने वाली स्वीकार करते हैं। इसी उपन्यास के द्वारा लेखक ने चाणक्य के गरिमा-मय व्यक्तित्व को उद्घाटित किया है। चाणक्य के अनुपम कर्तृत्व पर हिन्दी में उनसे पूर्व केवल प्रसाद जी ने ही नाटक प्रस्तुत किया था। डा० सत्यकेतु जी प्रसाद के विपरीत चन्द्रगुप्त को प्रतिशोध की ज्वाला में धधकते हुए व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत कर चाणक्य को कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रसाद के चाणक्य निजी अपमान से प्रेरित होकर नन्द वंश के उच्छेद के लिए प्रवृत्त होते हैं पर डा० सत्यकेतु के चाणक्य गांधार नरेश आम्बि द्वारा सहायता माँगे जाने पर स्पष्ट कह देते हैं कि वह आचार्य होने के नाते सक्रिय राजनीति में भाग नहीं ले सकते। चाणक्य का कथन लोजिए—'तात, इसके लिए मुझसे न कहो। तुम भली भाँति जानते हो कि हम लोग क्रियात्मक राजनीति में भाग नहीं लिया करते। तक्षशिला विद्या, ज्ञान और शिक्षा का सब से बड़ा केन्द्र है। भारत भर के राजकुलों के कुमार और अन्य विद्यार्थी यहां शिक्षा के लिए आते हैं। तक्षशिला के इन विद्यापीठों का गौरव नष्ट हो जाएगा यदि इनके शिक्षक जनपदों और उनके राजकुलों के आपसी झगड़ों में हाथ वंटाने लगेंगे। हम लोग ज्ञान देते हैं, शिक्षा देते हैं, उसका प्रयोग करना हमारे शिष्यों का काम है।'।

किन्तु यवनों के आक्रमण पर आचार्य विचलित हो जाते हैं। उनके सामने राष्ट्रीय संकट के बादल मंडराने लगते हैं। आसन्न विघटन और सर्वनाश की चिन्ता से घिरे चाणक्य विदेशी यवनों से भारतवर्ष की रक्षा करने के लिए, सम्पूर्ण देश को एक राजनीतिक संगठन में पिरोने के लिए तथा आर्य मर्यादा और सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए अध्यापकीय जीवन का परित्याग कर युगानुरूप स्वधर्म का व्रत लेते हैं। केकय और गांधार के युद्ध में उदासीन रहने वाला आचार्य अब सन्नद्ध हो जाता है। चाणक्य के इस महान् अभियान का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ेगा। यही वह बिन्दु है जो चाणक्य को इतिहास निर्माता के रूप में प्रस्तुत करता है। मुद्रा-

राक्षस और चन्द्रगुप्त जैसी नाट्य कृतियों में भी चाणक्य के जिस उदात्त, निस्पृह तथा राष्ट्र भक्ति प्रेरित संकल्प पूर्ण व्यक्तित्व की छवि निर्मित नहीं हो सकी, उसकी उज्ज्वल आभा डा० सत्यकेतु के चाणक्य के प्रभामण्डल में है। आचार्य चाणक्य का कथन लीजिए—‘क्या तुम देखते नहीं हो कि सुदूर यवन देश में जो एक नया तूफान उठा था, उसने सारे पाश्चात्य खण्ड को व्याप्त कर लिया है। हिन्दू कुश पर्वत माला तक यह आंधी पहुंच गई है। प्रभंजन के वेग से उड़ते हुए तिनकों के समान हजारों लाखों नर नारी अपने घर-बार छोड़कर बाहीक खण्ड में आ रहे हैं। मुझे साफ-साफ नजर आ रहा है कि यह तूफान हिन्दूकुश पर्वत को लांघकर भारतवर्ष में प्रवेश करेगा और यहां के जनपद इस नई शक्ति के सम्मुख अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकेंगे। आर्य धर्म और आर्य मर्यादा के विनाश को सह सकना मेरी शक्ति में नहीं है। यवन देश के म्लेच्छ लोग परास्त जनपदों की नगरियों को भस्मसात् कर देते हैं, स्त्रियों और बच्चों को गृहहीन बना देते हैं। मैं उस दिन की कल्पना करके उद्विग्न हो जाता हूं, जब पुष्करावती, तक्षशिला, राजगृह, सांकल आदि आर्य नगरियां भी इन म्लेच्छों द्वारा आक्रान्त होंगी और आर्य नारियां आश्रयहीन होकर इधर उधर भटकती फिरेंगी। अनाथ बच्चों का वह करुण क्रन्दन मुझे अपने कानों से सुनाई दे रहा है जिससे सम्पूर्ण आर्य भूमि का क्षितिज परिपूर्ण हो जाएगा।’^१

प्रसाद आदि का बल नंदकुल उन्मूलन पर प्रथम है पर डा० सत्यकेतु यवन आक्रमण का प्रतिरोध प्रमुख कार्य मानते हैं। चन्द्रगुप्त नंद वंश से क्षुब्ध है, वह माता की मुक्ति के लिए छटपटाता है पर चाणक्य का लक्ष्य महान् है वह व्यक्ति के लिए नहीं, राष्ट्र के लिए चिंतित है। हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण आर्य भूमि में एक सार्वभौम शासन की स्थापना के लिए ही वह उद्योगरत है। चन्द्रगुप्त से चाणक्य ने कहा भी—‘तुम्हें अपनी माता के दासी जीवन से कितना उद्वेग होता है पर उस दिन की तो कल्पना करो, जब इस देश के लाखों नर नारी विदेशी यवनराज की अधीनता में दास्य जीवन को व्यतीत करने के लिए विवश होंगे।’^२

चाणक्य को लेखक ने इतिहास और संस्कृति का प्रतीक पुरुष सिद्ध किया है। चाणक्य का विराट् लक्ष्य, अखण्ड राष्ट्रभक्ति, तप और त्याग

१. चाणक्य पृष्ठ ६०।

२. वही पृष्ठ १०७।

पूर्ण जीवन, अचूक कर्म योग, आर्यावर्त की मान मर्यादा की प्रतिष्ठा, सांस्कृतिक चेतना, स्वाभिमान और जातीय गौरव तथा सर्व हितकारी ब्रह्मतेज इस उपन्यास में फूटा पड़ता है। शूद्र और क्षत्रिय राजधर्म की मर्यादा का प्रश्न उठने पर इन्द्रदत्त के प्रति कहे गए चाणक्य के वाक्य उसके उदार दृष्टिकोण के सूचक हैं। 'वह शूद्र है' इसको मुझे चिन्ता नहीं है। शुद्ध आर्यरक्त वाहीक देश के अतिरिक्त अन्यत्र रह ही कहाँ गया है? प्राच्य देशों के सभी क्षत्रिय ब्राह्मण और वर्ण संकर हैं, उनमें शूद्र रक्त का समिश्रण हो गया है। जब जातियाँ अपना विस्तार करती हैं, नये नये देशों को विजय करती हैं, उनमें जाकर आवाद होती हैं तो यही होता है। पर हाँ, नन्द को आर्य मर्यादा में स्थापित करना होगा। आर्य लोग राजकुलों और क्षत्रिय वर्ग का उच्छेद नहीं किया करते। वे उन्हें कायम रखते हैं और उनका सहयोग प्राप्त करते हैं। पर मगध की राजशक्ति का प्रयोग किए बिना इस देश को राजनीतिक सूत्र में संगठित कर सकना सम्भव नहीं है।^१

कठ गण के सांकल नगर में चाणक्य की अभ्यर्थना में दिया गया गण मुख्य वीरधर्मा का वक्तव्य लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करता है। भारतीय समाज का स्वरूप वैदिक युग में क्या था और आज क्या होना चाहिए, इसकी ध्वनि इस वक्तव्य में निहित है। 'कठों का यह प्राचीन गण वैदिक युग की उस परम्परा को कायम रखे हुए है जब कि सब लोग एक साथ भोजन करते थे, एक साथ मिलकर विचार करते थे। हमारी प्रपा एक है, हमारा अन्न भाग एक है और हम लोगों में बहुजन के हित के लिए वैयक्तिक अहं भाव को सर्वथा मिटा दिया है। बहुतों के सुख और कल्याण लिए एक व्यक्ति के गौरव, अहंकार और ममत्व को होम कर देना ही आर्यों की प्राचीन परम्परा है।'^२ अथर्व के 'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः' मंत्र की छाया पर निर्मित उक्त गद्यांश भारतीय समाज का आदर्श होना चाहिए। जब देश, धर्म, जाति, वर्ग, भाषा और जीवन दर्शन के नाम पर खण्ड खण्ड हो रहा हो तब इस उद्देश्य की सार्थकता प्रमाणित हो जाती है।

लेखक ने कथानक की ऐतिहासिकता को ध्यान में रखा है। पंजाब में राजनीतिक एकता का अभाव और गांधार आदि जनपदों का आपसो राग द्वेष सिकन्दर के लिए वरदान सिद्ध हुआ। यह भी ऐतिहासिक तथ्य

१. वही पृष्ठ ८१।

२. वही पृष्ठ ८४।

है कि पंजाब में सिकन्दर का शासन देर तक स्थिर नहीं रह सका। यवनों के विरुद्ध जनता को भड़काने में ब्राह्मण और विद्यार्थियों का बड़ा हाथ रहा। चन्द्रगुप्त शुद्र नहीं मोरिय गण का राजकुमार था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने पहले उत्तर पश्चिमी भारत तथा पंजाब को जीता और फिर मगध साम्राज्य को जीत कर वह सम्पूर्ण उत्तरी भारत का एक छत्र सम्राट बन गया। चाणक्य तक्षशिला के निवासी थे। यह मूल ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे सामने रखकर ऐतिहासिक घटनाक्रम प्रधान इस उपन्यास की रचना हुई। सिकन्दर का आक्रमण, सिल्यूकस की हार तथा संधि भी इतिहास प्रेरित तथ्य हैं। डा० सत्यकेतु ने इतिहास के प्रसंगानुसार साधारण से साधारण तथ्यों, चारित्रिक विशेषताओं तथा वातावरण को सजगता के साथ प्रस्तुत किया है। नगरों, पात्रों और व्यक्तियों के प्राचीन नामों का उपयोग करते हुए भी वह किंवदन्तियों से दूर रहे हैं जिनका सम्बन्ध कई रूपों में प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

धर्मतन्त्र, राजतन्त्र तथा समाजतन्त्र से जुड़े हुए अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग उपन्यास में हुआ है। ये सब शब्द चाणक्य प्रणीत अर्थ-शास्त्र में उपलब्ध हैं। इस से मौर्य युग का वातावरण उत्पन्न हुआ है। प्रदेशों, नगरों, नदियों और पात्रों के नाम भी उस युग के अनुरूप ही रखे गए हैं। देश और काल की रक्षा के लिए ऐसा करना नितान्त आवश्यक था। सांस्कृतिक दृष्टि से सत्यकेतु जी की भाषा परम्परा और परिवेश की रक्षा कर सकने में समर्थ सिद्ध हुई है।

सम्पूर्ण उपन्यास ४५ खण्डों में विभाजित है। जिस कार्य-व्यापार का प्रसार सम्पूर्ण उपन्यास में हुआ है, उसका बीज प्रथम खण्ड में उपलब्ध हो जाता है। चन्द्रगुप्त का पाटलिपुत्र के अन्तःपुर से निकलकर तक्षशिला तक पहुंच जाना ही उसके चातुर्य, आकांक्षा और साहसी चरित्र का प्रमाण है। चन्द्रगुप्त की यही विशेषता चाणक्य को प्रभावित करती है। वह कहते हैं—‘तुम एक साहसी युवक हो कुमार, तुम्हारी आकांक्षाएँ महान् हैं और तुम में उद्दण्ड साहस है। मेरे लिए यही पर्याप्त है।’ १६ वें खण्ड में चन्द्रगुप्त का यह वाक्य उल्लेखनीय है कि मगध का अपमान मैं सह सकता हूँ, उसके राजकुल से मेरी शत्रुता है पर आयों की इस विशाल भूमि के अपमान की कल्पना तक मुझे असह्य तक है।^१ अन्तिम खण्ड में विष्णुगुप्त की विदाई है जहाँ वह आर्य भूमि की एकता और अखण्डता की रक्षा का

१. चाणक्य, पृष्ठ २०

२. वही, पृष्ठ १०७

भार चन्द्रगुप्त को सौंपकर फिर तक्षशिला में अध्यापन के लिए करभिका को साथ लेकर निकल पड़ता है। उसके लिए न धन वैभव का कोई मूल्य था, न राजशक्ति का ज्ञान ही उसकी एकमात्र सम्पत्ति थी, त्याग ही उन का बल था। क्षात्र धर्म पर इसी ब्रह्मतेज का नियन्त्रण भारतीय राजनीति की आधारशिला थी और इसी की स्थापना के साथ उपन्यास का भरत वाक्य पूर्ण हो जाता है।

उपन्यास में मौर्य युगीन समाज तथा संस्कृति के विविध पक्षों का उद्घाटन भी सफलतापूर्वक हुआ है। मुख्यतः वैदिक, औपनिषदिक, बौद्ध, ईश्वर तथा निरीश्वरवादी विचारधाराओं का चित्रण हुआ है। वैदिक-अवैदिक विचारधाराओं का जो संघर्ष यज्ञवादी और यज्ञविरोधी संस्कृति के रूप में उपनिषदों में झलका वही ब्राह्मण और ब्राह्म्य विचारकों के रूप में ब्राह्मण और श्रमणों के रूप में विकसित हुआ। श्रावस्ती प्रकरण में इस तरह का विवाद प्रस्तुत कर लेखक ने वर्णाश्रमवादो आर्य धारा की तर्क सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की। बौद्धों की विवेकहीन, अकर्मण्य और कर्मच्युत जीवनयापन प्रणाली भिक्षुवाद के रूप में इस युग की भयंकर भूल थी। चाणक्य का ध्यान इस ओर भी गया। कस्सपगोत और धनदत्त का परस्पर संवाद इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'पर उपासक, त्रयी जिन यज्ञों का उपदेश करती है, वे तो एक भग्न नाव के समान हैं जो मनुष्य को संसार-सागर के पार नहीं उतार सकती। यज्ञ द्वारा मनुष्य इन्द्र का आवाहन करता है, वरुण, प्रजापति, महेश और यम का आवाहन करता है पर क्या ये उसके पास चले आते हैं?' तुम त्रयी और आन्वीक्षिकी के झगड़े में मत पड़ो। तुम तथागत के मार्ग का अवलम्बन करो।'¹

भिक्षु संघ की अनुपयोगिता पर आचार्य चाणक्य की टिप्पणी महत्त्व की है। 'राजशासन द्वारा, हमें यह व्यवस्था करनी होगी कि कोई ऐसा व्यक्ति परिव्राजक या भिक्षु न बन सके जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में न रह चुका हो। केवल वे ही व्यक्ति भिक्षु बन सकें, जिनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई हो और जो अपनी सन्तान तथा पत्नी के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा कर चुके हों। जो इसके विपरीत आचरण करे, उसके लिए दण्ड की व्यवस्था करनी होगी।'² बालकों, बालिकाओं और युवतियों का भिक्षुव्रत हास्यास्पद है। जिन युवकों को

१. वही , पृष्ठ ६०

२. वही , पृष्ठ ६४

गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन करना चाहिए। वे भिक्षु बने समाज पर बोझ सिद्ध हों, यह आर्य परम्परा नहीं है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और फिर संन्यास का तारतमिक उपभोग आर्य परम्परा है। 'यदहः विरजेत् तदहः परिव्रजेत्' का सही स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए।

नगरों, ग्रामों, पर्वतों, वनों, नदियों, राजभवनों, मन्दिरों, उत्सवों, आमोद प्रमोद के साधनों, विद्यापीठों, ऋषियों-मुनियों, उपासना प्रणालियों, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, क्रीड़ा-व्यापार, धर्म और दर्शन का प्रतिपादन भी उपन्यासों में हुआ है। भारतीय और यवन संस्कृति का चित्रण भी विभिन्न प्रसंगों में हुआ है। सिकन्दर की दिग्विजय यवन संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए हुई थी। मौर्य कालीन और मौर्योत्तर भारतीय जीवन चिन्तन पर यवन संस्कृति का प्रभाव इतिहासकारों ने रेखांकित किया है। इस उपन्यास में भी ऐसा हुआ है। षड्यन्त्रों के विविध रूप भी देखने को मिलते हैं। ये षड्यन्त्र राजमहलों, मन्दिरों और पान्थागारों तक फैले हुए हैं। राष्ट्रसेवा के लिए नागरिकों द्वारा मुक्त दान, मन्दिर विहारों के लिए दान तथा विद्यापीठों के लिए दान की परम्परा भी मिलती है। यवनों के विरुद्ध विद्रोह की योजना का सूत्र शाकम्भरी के मन्दिर में ही निर्मित होता है जो स्रुघ्न जनपद के बृहद् हट्ट का एक पवित्र स्थान था। ज्योतिषियों, नटों, मदारियों, वेश्याओं, मणिकाओं, विष-कन्याओं, कपोत-कपोती द्वारा समाचार प्रेषण की कला और गोष्ठीशालाओं के पान महोत्सवों का सजीव चित्रण उपन्यास को समृद्ध बनाता है। दास प्रथा और स्वच्छन्द कामोपभोग के चित्रों ने भी युगीन परिवेश को साकार करने में सहायता प्रदान की है।

उपन्यास की भाषा और संवाद भी प्रभावशाली हैं। कुछ वर्णन देखिए—'यह आर्यभूमि भी कैसी अद्भुत है। इसका चमकता हुआ नीला आसमान, इस की तारों भरी रातें और इसके लहलहाते हुए खेत कितने आकर्षक हैं। यहाँ के निवासी भी कैसे वीर हैं, वे बलिदान को खेल समझते हैं और जीवन मृत्यु में कोई भेद नहीं मानते।'

'तुम जानते हो मेरे शिक्षणालय में दासी पुत्रों की शिक्षा की व्यवस्था नहीं है।'

'पर मैं दासीपुत्र नहीं हूँ। मेरी माता राजमहिषी है और मैं राज-

कुमार हूँ। मेरी नसों में सूर्य वंश के क्षत्रियों का शुद्ध आर्य रक्त प्रवाहित हो रहा है। मेरी प्रतिज्ञा है कि नन्द को परास्त कर मैं अपने वंश के लुप्त गौरव का उद्धार करूँ।'^१

‘नहीं करभिका, तुम सचमुच मेरी उपास्य देवी हो, तुम्हारी प्रतिमा सदा मेरे मन मन्दिर में प्रतिष्ठित रहती है।’^२

उपन्यास के पात्रों में चाणक्य, वररुचि, शकटार, इन्द्रदत्त, आंभि, पौरु, करभिक, सुभगा, वासन्ती एक प्रकार की स्तरीय भाषा का प्रयोग करते हैं। भावात्मक, अलंकृत तथा चित्रात्मक भाषा के प्रयोग से उपन्यास की साहित्यिकता में श्रीवृद्धि हुई है। तीन उद्धरण हैं—

‘करभिका के नृत्य को देखकर क्षत्रप फिलिप्स और सेनापति पेरि-प्लस मन्त्रमुग्ध हो गए। उसके नृत्य कौशल के साथ-साथ वे देख रहे थे उसके उरोजों को उसके नितम्बों को और उसकी केशराशि को जो उसके साथ-साथ स्वयं भी नाच रहे थे, उसके नृत्य में तान सी मिलाते हुए।’^३

‘जब वह हँसती है तो फूलों की वर्षा होने लगती है। जब वह रूठती है तो उसके मुखमण्डल पर एक अद्भुत सी मादकता आ जाती है। उसका पिगल वर्ण केशपाश ऐसा मालूम पड़ता है मानो मूर्य वादलों में से झाँक रहा हो।’^४

‘करभिका, आगे तो आ, अपने को निरावरण तो कर दे। देखिए सेनापति, इसके रूप को देखिए। कंचन का सा रंग, रेशम के से केश। ऐसी सुन्दरी आपने वाहीक देश में कहीं न देखी होगी।’^५

पात्र और चरित्रांकन की दृष्टि से यह उपन्यास बौद्धिकता एवं कलात्मकता से परिपूर्ण है। आर्य गौरव की दीप्ति, भावुकता, प्रेम, त्याग, विनोदप्रियता, बलिदान, महत्वाकांक्षा, आज्ञाकारिता, जातीय गर्व तथा प्रेरक शक्ति से ओतप्रोत पात्र मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। करभिका, चन्द्रगुप्त और चाणक्य के व्यक्तित्व के ये सामान्य गुण हैं। करभिका की अवतारणा उन्नत आर्य ललना की अवतारणा हेतु लेखक की कल्पना सृष्टि

-
२. वही, पृष्ठ १८, १९
 ३. वही, पृष्ठ २५१
 ४. वही, पृष्ठ १९७
 ५. वही, पृष्ठ ४४
 ६. वही, पृष्ठ १४१

है पर समुचे उपन्यास की आत्मा भी । चाणक्य और करभिका का त्याग प्रेम और कतव्य पालन का काव्य खण्ड है जो प्रत्येक पाठक को अन्त तक बांधे रहता है । इस प्रकार चाणक्य औपन्यासिक कला और उद्देश्यनिष्ठ सृजन का उत्कृष्ट प्रतीक कहा जा सकता है ।

सेनानी पुष्य मित्र या पतन और उत्थान

मौर्य साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में ब्राह्मण धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान की कथा इतिहास में शुंग साम्राज्य और उसके संस्थापक सेनानी पुष्यमित्र के साथ प्रारम्भ होती है । बौद्ध ग्रन्थों में सेनानी का चरित्र धार्मिक विद्वेष के कारण घृणित रूप में प्रस्तुत किया है, पर सच तो यह है कि अशोक की धर्मनीति की विजय से जिस अकर्मण्य और क्लीब धर्म-संस्कृति की प्रचारणा देश में हुई और भिक्षुसंघों के कुचक्रों ने विदेशियों के आक्रमण में राष्ट्रद्रोही भूमिका निभाई, उसमें पुष्यमित्र का उदय अकारण नहीं हुआ । आचार्य पतंजलि जैसे महान् विचारक को पुष्यमित्र वैसे ही मिले जैसे चाणक्य को चन्द्रगुप्त हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का यह युग गौरवपूर्ण है और पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'अरुणत् यवनः साकेतम्' तथा 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' लिखकर इस युग को सदा के लिए अमर कर दिया । मौर्य सम्राट् वृहद्रथ की राज्यच्युति तथा यवनों को परास्त कर आर्य साम्राज्य की स्थापना द्वारा पुष्यमित्र ने पौराणिक धर्म का प्रवर्तन किया । अश्वमेध कर यज्ञों का पुनरुद्धार किया तथा संधारामों को ध्वस्त कर आचार्यकुलों की प्रतिष्ठा की । उनका पुत्र अग्निमित्र स्वयं गोनर्द गुरुकुल में आचार्य से शिक्षा ग्रहण करता है । अशोक ने यवन राज्यों में धर्ममहामात्यों की नियुक्ति कर साम्प्रदायिक विद्वेष को समाप्त करने पर बल दिया था पर बाद में इनके द्वारा निर्मित सैकड़ों विहार भोग और षड्यन्त्रों के अड़्डे बन गए । जनता के खून पसीने की कमाई का दुरुपयोग होने लगा । अहिंसाव्रत के नाम पर शस्त्रों का परित्याग और सेनाओं की छंटनी होने लगी । देश की सुरक्षा खतरे में पड़ गई । सेनानी पुष्यमित्र में डा सत्यकेतु ने इसी आशंका को केन्द्र में रखकर वीरभद्र और पुष्यमित्र के संवाद में युग की चिन्ता व्यक्त की । एक संवाद लें—'स्पष्ट भाषण के लिए मुझे क्षमा करें आचार्य, आप केवल उन यवनों के सम्पर्क में आए हैं जो बौद्धधर्म को अपना चुके हैं और जो भिक्षु जीवन व्यतीत कर रहे हैं । मुझे यवन सैनिकों से मिलने का अवसर मिला है । उन्हें वह दिन भलीभांति स्मरण है जब कि चन्द्र-

गुप्त ने सैल्यूकस को परास्त किया था और जब यवनराज चन्द्रगुप्त के साथ अपनी कन्या का विवाह करना स्वीकार कर संधि की याचना के लिए विवश हुआ था। वे अपने जातीय अपमान को भूले नहीं हैं। नव-विहार के शांत वातावरण के पीछे वाल्मीक नगरी में भारत के विरुद्ध एक भयंकर तूफान उठ रहा है और दिन दूर नहीं है जबकि एवुथिदिम की यवन सेना भारतभूमि पर आक्रमण कर अपने जातीय अपमान का प्रतिशोध करने का प्रयत्न करेगी। धर्म विजय की उपयोगिता को मैं स्वीकार करता हूँ, वह हमारी ब्रह्मशक्ति को प्रकट करती है पर क्षत्रशक्ति की उपेक्षा करना मुझे समझ नहीं आता।^१

इतिहासकारों ने पुष्यमित्र को जिस महत्वाकांक्षी बौद्धधर्म विरोधी राजा के रूप में प्रस्तुत किया है, उससे पतंजलि और उसके इस सुयोग्य शिष्य की उज्ज्वल छवि सामने नहीं आती। इतिहासकार लिखते हैं कि सैनिक परेड़ के समय सेनापति पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मारकर सत्ता हथियाई। डा० रमाशंकर त्रिपाठी की टिप्पणी है कि संभवतः बृहद्रथ प्रज्ञा-दुर्बल राजा था और पुष्यमित्र को सारी सेना की पूरी सहायता उपलब्ध थी, नहीं तो सेना के सामने ही खुले मैदान में वह अपने स्वामी को कभी मार न सका होता।^२ हर्ष चरित के 'पुष्यमित्रस्तु सेनानीः समुद्धृत्य बृहद्रथम्' प्रसंग को लेकर इतिहासकारों ने यह अवधारणा व्यक्त की है। मूल पाठ में समुद्धृत्य और पिपेष को देखकर ऐसा लिखा गया है पर सत्यकेतु जी ने इसका अर्थ उखाड़कर और पीसकर किया है। वह लिखते हैं कि जब वह सेना का निरीक्षण कर रहा था, अकस्मात् उस पर आक्रमण कर दिया गया और उसे बन्दी बना लिया गया। पाटलिपुत्र की प्राचीर पर तत्काल कुछ तूर्यकर प्रकट हुए और तुरही नाद के साथ उन्होंने घोषित किया— बृहद्रथ को शासनच्युत कर दिया गया है। मन्त्री परिषद का निर्णय है कि सेनानी को राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाए।^३ पतंजलि उससे राजसूय यज्ञ करवा कर राजा बनाने का निर्णय लेते हैं। अश्वमेध यज्ञ के निमित्त सिंधु तट पर यवनों और मागध सेना का घोर युद्ध होता है तथा विजय प्राप्त वसुमित्र (पुष्यमित्र का पौत्र) यज्ञीय अश्व को यज्ञ मण्डप में लाकर निष्कण्टक राज्य की सूचना देता है।

१. पतन और उत्थान—पृष्ठ १७

२. प्राचीन भारत का इतिहास—पृष्ठ १३३

३. पतन और उत्थान—पृष्ठ ३०६

मिनेन्द्र की इस पराजय में पुष्यमित्र और उसके परिवार की गौरव-गाथा छिपी हुई है जो पुष्यमित्र के राजा होने अथवा वास्तविक अधिकारी होने का प्रमाण है। इससे पूर्व पुष्यमित्र सिन्धु तट पर यवनों को परास्त कर चुके थे। लेखक ने पुष्यमित्र की वीरता की धाक जमाने के लिए और उनको अनुपम वीरता तथा राष्ट्रभक्ति की दृढ़ता प्रतिपादित करने के लिए इस घटना को पहले प्रस्तुत किया है। डा० सत्यकेतु लिखते हैं—‘अम्बुलिम घाट के इस युद्ध में पुष्यमित्र को अनुपम सफलता प्राप्त हुई। यवन सेनाएँ वाहीक देश में पदार्पण नहीं कर सकीं और वापस लौट जाने को विवश हो गई। यद्यपि कपिश—गान्धार यवनों के आधिपत्य में आ चुके थे पर वाहीक देश की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही। इसी युद्ध में विजयी होने के कारण पुष्यमित्र को ‘सेनानी, का गौरवमय पद प्राप्त हुआ।’

मिनेन्द्र की वसुमित्र द्वारा पराजय, पतंजलि द्वारा पुष्यमित्र के अश्वमेध का संचालन और पौरोहित्य तथा कुक्कुटराम विहार का ध्वंस इतिहास सम्मत घटनाएँ हैं। पाश्चात्य इतिहासकारों ने पुष्यमित्र को सम्प्रदायवादी सिद्ध करने को कोशिश की। इसके विपरीत डा० सत्यकेतु ने बौद्धभिक्षुओं के षड्यंत्र, शासनसत्ता में अनावश्यक हस्तक्षेप, विदेशी आक्रान्ताओं की सहायता तथा ब्राह्मण धर्म के प्रति विद्वेष की घटनाएँ प्रस्तुत कर सेनानी पुष्यमित्र के आक्रोश की स्वाभाविकता प्रतिपादित की। कुक्कुटराम विहार को इसलिए नष्ट नहीं किया गया कि पुष्यमित्र बौद्धों का विद्वेषक था या दिव्यावदान के अनुसार बौद्ध विरोधी था। अपितु इसलिए कि वह राष्ट्रद्रोहियों का आश्रय स्थल था। पुष्यमित्र का कथन लीजिए—‘कौन कहता है, यह चैत्य एक पूजा स्थान है? चैत्यों का निर्माण उपास्यदेव की पूजा के लिए किया जाता है, शासनतन्त्र के विरुद्ध षड्यन्त्रों की रचना के लिए नहीं। इस चैत्य को भी हमें भूमिसात् करना ही होगा। वह यदि बौद्धधर्म विरोधी होता तो यह क्यों कहता कि ‘पर भगवान् तथागत की मूर्ति को सुरक्षित रखने की व्यवस्था तो हमें करनी ही चाहिए मधुरिका।’^३ ऐतिहासिक दृष्टि से भी भरहुत के बौद्ध स्तूप और वेदिका जिनका निर्माण शुंगकाल में हुआ, पुष्यमित्र की असहिष्णुता को निर्मूल कर देते हैं।^४ नागसेन और मिनेन्द्र

१. पतन और उत्थान—पृष्ठ १०१

२. पतन और उत्थान—पृष्ठ २४६

३. पतन और उत्थान—पृष्ठ २४६

४. प्राचीन भारत का इतिहास—पृष्ठ १३६

के संवाद से इस उपन्यास का अन्त कराना भी लेखक की सोद्देश्य संकल्पना है। वह मानो पतञ्जलि और पुण्यमित्र के कार्य का सही मूल्यांकन प्रस्तुत करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्यमित्र उत्साही हिन्दू तो है पर उदार देशभक्त राजा भी। उसका यही पक्ष प्रस्तुत करना इस उपन्यास का लक्ष्य है। सत्यकेतु जी लिखते हैं—‘एक दिन यवनराज ने आचार्य से प्रश्न किया—पुण्यमित्र और पतञ्जलि के कारण क्या मध्य देश से अवसद्धर्म का पूर्णतया लोप हो जाएगा?’ इसका उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा—जिसका आदि है, उसका अन्त होना भी अवश्यम्भावी है। कार्य-कारणभाव से जिन वस्तुओं व सत्ताओं का प्रादुर्भाव होता है, उनका विनाश भी अवश्य होता है। तथागत की यही शिक्षा है पर किसी भी सत्ता का कभी पूर्णरूप से अन्त नहीं होता। जिसे हम वस्तुओं का विनाश कहते हैं, वस्तुतः वह उनका रूपान्तर होना हो हुआ करता है। सद्धर्म का कभी अविकल रूप से अन्त नहीं होगा। भगवान् तथागत की शिक्षाएँ मध्यदेश में स्थिर रहेंगी और वहाँ के निवासियों को सदा प्रेरणा देती रहेंगी। प्राणी-मात्र के प्रति करुणा की भावना, अहिंसा और सब का हित एवं कल्याण के जो उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिए थे, भारतभूमि से उनका कभी लोप नहीं होगा। इस देश के सब धर्म, सम्प्रदाय और पाखण्ड तथागत की इन शिक्षाओं को आत्मसात् कर लेंगे।’^१

इस उपन्यास में चाणक्य की अपेक्षा काल्पनिक प्रसंगों की अवतारणा अधिक हुई है। अग्निमित्र और धारिणी की कथा, दिव्या की कथा, विदुला का बलिदान एवं बृहद्रथ का विवाह जैसी घटनाएँ प्रेम-प्रसंगों का सृजन करने के लिए रची गई हैं। पात्रों में पुण्यमित्र, अग्निमित्र, वसुमित्र, पतञ्जलि, बृहद्रथ, दिमित्र, मिनैंडर, शालिशुक जैसे पात्र पौराणिक साहित्य तथा ऐतिहासिक साक्ष्य सम्मत हैं। महाभाष्य में ब्राह्मण-बौद्धों के शाश्वत संघर्ष को नकुल सर्प न्याय से उपमित किया गया है। लेखक ने बौद्ध अनुश्रुतियों का उपयोग करके भी पुण्यमित्र के पक्ष को अधिक तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया है। मौर्य साम्राज्य के ह्रास और ब्राह्मण राज्य के उत्थान का चित्रण भी पूर्णतया इतिहास सम्मत है।

नारी पात्र प्रायः काल्पनिक हैं। धारिणी, दिव्या, मंजुमती, मधुरिका आदि पात्र ऐसे ही हैं। धारिणी और दिव्या की सृष्टि कर लेखक ने अपनी सर्जनात्मक उर्वर कल्पना का परिचय दिया है। पुण्यमित्र और दिव्या की

‘वार्ता तथा दिव्या द्वारा धारिणी के प्रदर्शित ममत्व भावात्मकता की रचना में सहायक प्रसंग है। प्रणय और कर्तव्यपालन की मूर्ति है धारिणी। अग्निमित्र की वह प्रबल प्रेरणा है। स्पष्ट कहती है—‘मैं भलीभाँति जानती हूँ कि प्रणय को कर्तव्य के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहिए।’^१

डा० सत्यकेतु जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के समर्थक हैं। पुण्यमित्र के यह कहे जाने पर कि वह क्षत्रिय कुल में उत्पन्न नहीं हुआ। आचार्य कहते हैं—‘तुम सैनिक तो हो वत्स, क्षत्रिय कुल में जन्म लेने से ही कोई क्षत्रिय नहीं हो जाता। सम्प्रति मौर्य कुल में उत्पन्न हुआ है पर क्या तुम उसे क्षत्रिय कहोगे? उसकी धमनियों में चन्द्र-गुप्त और विन्दुसार का रक्त प्रवाहित हो रहा है पर क्या इसी से उसे क्षत्रिय कहा जा सकता है? द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे पर महाभारत के युद्ध में उन्होंने अनुपम वीरता प्रदर्शित की थी। पुराने इतिहास की बात जाने दो। सिमुक का नाम तो तुम ने सुना है, मौर्य सम्राटों को निर्वीर्य देखकर दक्षिणापथ में उसने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया है। जन्म से तो वह भी ब्राह्मण ही है। जब क्षत्रिय अपने कर्तव्य से विमुख हो जायें तो ब्राह्मणों को उनका स्थान लेना ही पड़ता है। तुम गुण, कर्म और स्वभाव से क्षत्रिय हो वत्स।’^२ यह धारणा महर्षि दयानन्द सम्मत है। पतञ्जलि पुण्यमित्र के अश्वमेध पर जो वक्तव्य देते हैं वह आर्य परम्परा के अनुकूल ही है। वह कहते हैं—भीष्म ने ठीक कहा था कि काल राजा का निर्माण नहीं करता अपितु राजा द्वारा ही काल का निर्माण किया जाता है। इसी-लिए ऐसे व्यक्ति को ही राजा के पद पर होना चाहिए जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण हो प्रतिभा और शौर्य की जिसमें अतिशयता हो और काम, क्रोध, मोह, लोभ तथा चापल्य पर जिसने काबू पाया हो। मुझे विश्वास है कि पुण्यमित्र के नेतृत्व में मगध के शासनतन्त्र में नई शक्ति और स्फूर्ति का संचार होगा और यवन लोग हमारी आर्यभूमि की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकेंगे। हम सब धर्मों, सम्प्रदायों और पाखण्डों का आदर करते हैं। शासनतन्त्र किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करता। सब कोई अपने विचारों और विश्वासों के अनुसार पूजा पाठ कर सकते हैं। आर्यों की यही सनातन परम्परा है। ब्राह्मणों और श्रमणों में विरोध व विद्वेष का कोई समुचित कारण नहीं है। पर यदि किसी सम्प्रदाय के नेता और गुरु अपनी धार्मिक

१. पतन और उत्थान, पृष्ठ २०३

२. ” ” , पृष्ठ ५१

मर्यादा का अतिक्रमण कर विदेशी शत्रुओं के साथ मिल जायें और आर्य भूमि के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में तत्पर हों तो उनके इस कुकृत्य को शासन कैसे सह सकता है। भारत हम सबकी मातृभूमि है, हम सब इसके पुत्र हैं। इस की रक्षा करना और इसके उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहना हम सबका पुनीत कर्तव्य है।^१

यह उद्बोधन आज के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक और सत्य है, उतना ही सत्य जितना पुण्यमित्र के युग में था। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ यह नहीं कि धर्म की आड़ में राष्ट्रद्रोह के कार्य को पनपने दिया जाए। पतञ्जलि और पुण्यमित्र के व्यक्तित्व की यह भारतीय व्याख्या है जिसे पाश्चात्य इतिहासकारों ने तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करने की कुचेष्टा की थी। इतिहास में भारतीयता का अनुशीलन, राष्ट्रीय जीवन की प्रतिष्ठा तथा नवीन दृष्टि द्वारा इतिहास और संस्कृति की सबल व्याख्या सत्यकेतु जी के उपन्यास की मूल प्रेरणा है। राष्ट्रीय जीवन और आधुनिक भारतीय समाज के उदात्तीकरण के लिए ही उन्होंने उपन्यास की सृष्टि की।

उपन्यास की युगीनता की रक्षा के लिए डा० सत्यकेतु जी ने वातावरण और परिवेश की सार्थक सृष्टि की है। भौगोलिक दृष्टि से हिन्दूकुश पर्वतमाला के पार से कपिश, गांधार से लेकर मगध तक का विवरण तत्कालीन भूगोल द्वारा सम्मत है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक वातावरण के साथ आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण भी यथार्थ हुआ है। तन्त्र-मन्त्र और रहस्यात्मक दैवी अनुष्ठानों का जिक्र भी है। बौद्ध और सनातन धर्म दोनों में ही इन विकृतियों का समावेश हो गया था। माया योग सिद्ध शतमात्र का आभिचारिक यज्ञ इसी ओर ध्यान आकृष्ट करता है।^२

इसी प्रकार देशकाल और वातावरण की सृष्टि के लिए उपन्यास में भाषा, विचार, धर्म, दर्शन समाज और संस्कृति के विविध पक्ष प्रस्तुत किए हैं। अश्वमेध का वर्णन भारतीय धर्मशास्त्र सम्मत है।^३ पुण्यशालाओं

१. " " , पृष्ठ ३१०-३११

२. " " , पृष्ठ १६८-१६९

३. 'इक्कीस अरत्ति ऊंच इक्कीस यूप बनवाए गए। ये देवदारु, बिल्व, खदिर आदि की लकड़ी से निर्मित किए गए थे। यज्ञीय अश्व को तीन अन्य घोड़ों के साथ रथ में जोतकर गंगा और सोण के संगम पर स्नान के लिए ले जाया गया। अश्व को स्नान कराने से पूर्व दिव्या ने

और पानगृहों का चित्रण, अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों का चित्रण, संघों और राजाप्रसादों का चित्रण, युद्धों का चित्रण, गणराज्यों का चित्रण, यवन जीवन गौर परम्पराओं का चित्रण, भारतीय तथा यवनों के आचार-विचार, रहन-सहन तथा शारीरिक और मानसिक स्तर का चित्रण भी भी अत्यन्त सफल हुआ है। गणिकाओं का उपयोग, माँस और मदिरा का प्रयोग तथा अनियन्त्रित स्वच्छन्द यौन विहार इस युग की विशेषताएं थीं जिन्होंने भारतीय समाज को क्षत-विक्षत कर दिया था। यौधेयों, अश्वमेधियों तथा बहुधान्यक क्षेत्रों के आर्योचित रीति रिवाजों और महोत्सवों के चित्रण में लेखक की दृष्टि रमी है। आलोच्य उपन्यास में धर्मसंघों का पड्यन्त्रों में लिप्त होना हमारे मन में घृणा भर देता है। राजघरानों और राज्याश्रित वर्गों के पतन की कहानी तथा दीन-हीन जनता के शोषण और दमन की तीव्रता मन को मथे बिना नहीं रहती। कुकुटाराम विहार का यह चित्र कितना बीभत्स है? 'सुरा और सुन्दरी का भी प्रबन्ध हो जाएगा। आप शयनकक्ष में जाकर निश्चिन्त हो विश्राम कीजिए। कुक्कुट विहार में किसी भी चीज की कमी नहीं।'।

उपन्यास की भाषा भावानुकूल और हँसमुख है। आलंकारिक एवं चित्रात्मक भाषा से भावोद्वेलन की क्षमता पैदा करना उपन्यास का सहज गुण है। विदुला के रूप वर्णन का प्रसंग लीजिए—'कच्चे दूध का सा रंग, कालीघटा जैसी केशराशि, लता जैसी शरीर यष्टि और हँसती हुई आँखें। सम्राट् को और क्या चाहिए।' (पृष्ठ २५७)

'चम्पा का सा रंग, नीलकमल सी आँखें और कम्बु की सी ग्रीवा गाती है तो वीणा बज उठती है, नाचती है तो एक-एक अंग थिरकने लगता है।' (पृष्ठ २२५) वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक तथा प्रलाप शैली में लिखा गया यह उपन्यास कलात्मक दृष्टि से भी सफल है।

उपन्यास में मधुरिका का आत्मोत्सर्ग भारतीय वीर नारी के उज्ज्वल चरित्र का प्रतिपादन करता है। वह पुण्यमित्र की रक्षा के लिए

उस पर घृत मला। स्नान के अनन्तर १०१ सुवर्ण निष्कों द्वारा यज्ञीय अश्व को अलंकृत कर यज्ञ मण्डप में लाया गया और केन्द्रीय यूप के साथ उसे बांध दिया गया। अब दिव्या तथा राजकुल की अन्य महिलाओं ने प्रदक्षिणा करते हुए उच्चारण किया—गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे।'

१. पतन और उत्थान—पृष्ठ २३६ पतन और उत्थान—पृष्ठ ३१६

प्राण त्याग देती है। पुष्यमित्र का पश्चाताप मधुरिका के व्यक्तित्व का महत्त्वांकन है—‘ओह मधुरिका, मेरे लिए तुमने अपने प्राणों की आहुति दे दी। तुम्हारा यह बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा। तुम्हारे इस पवित्र शरीर को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि स्थविरों और भिक्षुओं के वेश में जो ये दस्यु और आततायी आर्यभूमि को कलंकित कर रहे हैं, उनका सर्वनाश करके ही दम लूंगा। तुम अग्निमित्र की सहपाठिनी थीं, उसकी सखा थीं। तुम मेरी पुत्री के समान थीं। मेरी कोई पुत्री नहीं है, मैं तुम्हें ही अपनी पुत्री मानता था। तुम आर्यभूमि के लिए जीयीं और उसी के लिए तुमने प्राणों का उत्सर्ग किया।’ (पृष्ठ २४६) पुनरुत्थान के जिन चार तत्त्वों—अतीत प्रेम, प्राचीन गौरव की नवीन अवतारणा, भारतीय इतिहास दृष्टि तथा नवीन जीवन चेतना और तत्त्वों का समावेश—की चर्चा विचारकों ने की है, यह उपन्यास उन्हीं तत्त्वों का विशद प्रतिपादन करता है। घटनागत और भावनागत संघर्ष और द्वन्द्व को मुखरित करता है तथा सामाजिक परिवेश और अन्तरंग मनस्तत्त्व का सफल चित्रण करता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में सत्यकेतु जी, राहुल जी, यशपाल, चतुरसेन शास्त्री और रांगेय राघव से सर्वथा भिन्न दृष्टि के हैं। परम्परा और आधुनिकता तथा वैदिक समाजवाद के सूत्र उनके यहाँ एक नवीन दिशा का उद्घाटन करते हैं। युग विशेष के वस्त्राभूषण, आचार विचार, लोक-व्यवहार, उत्सव-मनोरंजन, धार्मिक विश्वास तथा शासनतन्त्र का प्रतिपादन करना इतिहासाश्रित उपन्यास का गौण कार्य है, पर एक व्यापक सांस्कृतिक और मानवीय चेतना का प्रकाशन मुख्य कार्य है। सत्यकेतु जी के दोनों उपन्यास इस दृष्टि से अत्यन्त सफल और सटीक कहे जा सकते हैं।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार का दार्शनिक पक्ष

—प्रो० रत्नसिंह

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने सात भागों में आर्यसमाज का विस्तृत इतिहास लिखा है। इसके प्रथम भाग के तेरहवें अध्याय में महर्षि दयानन्द सरस्वती की धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। इनमें से केवल दो दार्शनिक समस्याओं—षड्दर्शन समन्वय तथा सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद पर यहां विचार किया जायेगा। यद्यपि सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद का विचार षड्दर्शन-समन्वय के अन्तर्गत ही आता है तथापि हम इसे एक स्वतन्त्र समस्या मानकर ही इस पर पृथक् से विचार करेंगे।

षड्दर्शन-समन्वय

चिरकाल से भारतीय दार्शनिक जगत् में नवीन भाष्यकारों ने यह विचार खड़ा किया हुआ है कि छह आस्तिक दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त) में परस्पर विरोध है। वर्तमान युग के महान् दार्शनिक महर्षि दयानन्द के मत में इन दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं है। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय तथा अष्टम सम्मुलास में महर्षि ने सृष्टि-विषय के अन्तर्गत इस प्रश्न पर अति संक्षेप से विचार किया है। डा० सत्यकेतु ने इस विषय की व्याख्या करने के लिए सर्वप्रथम सत्यार्थ-प्रकाश अष्टम सम्मुलास से महर्षि दयानन्द के कथन को उद्धृत किया है और उसके बाद बड़े तर्कपूर्ण ढंग से महर्षि दयानन्द के मन्तव्य की पुष्टि की है। महर्षि का कथन इस प्रकार है—“विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छह शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। मीमांसा में “ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाये।” वैशेषिक में “समय न लगे बिना बने ही नहीं” न्याय में “उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता” योग में “विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाये तो नहीं बन सकता।”

सांख्य में “तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता।” और वेदान्त में “बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके” इसलिए सृष्टि छह कारणों से बनती है। उन छह कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छह पुरुष मिलकर एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसा ही सृष्टि रूप कार्य की व्याख्या छह शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है। जैसे पांच अन्धे और एक मन्ददृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है? उनमें से एक ने कहा खम्भे, दूसरे ने कहा सूय, तीसरे ने कहा मूसल, चौथे ने कहा, भाड़ू, पांचवें ने कहा चौतरा और छठे ने कहा काला-काला चार खम्भों के ऊपर कुछ भैंसा सा आकार वाला है। इसी प्रकार आजकल के अनार्ष नवीन ग्रन्थों के पढ़ने और प्राकृत भाषा वालों ने ऋषि प्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर नवीन क्षुद्रबुद्धि कल्पित संस्कृत और भाषाओं के ग्रन्थ पढ़कर एक-दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है।”

महर्षि दयानन्द के अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए डा० सत्यकेतु ने निम्न हेतु प्रस्तुत किए हैं। (१) महर्षि के मत में छह आस्तिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, उन्हें स्वतः प्रमाण मानते हैं। अतः यह सम्भव नहीं कि वे किसी ऐसे मन्तव्य का प्रतिपादन करें, जो वेद विरुद्ध हो। जब सबके मन्तव्य वेदानुकूल हों तो उनमें विरोध हो ही कैसे सकता है? (२) जब छहों दर्शन ऋषियों द्वारा बनाए गए हैं, तो उन सब द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य व ज्ञान सत्य ही होना चाहिए, और सत्य ज्ञान में परस्पर विरोध मानना सर्वथा असंगत है। (३) उनमें जो विरोध दिखाई देता है, उसका कारण यह है कि विभिन्न दर्शन शास्त्रों की प्रतिपादन शैली में विभिन्नता है, और साथ ही उनके पारिभाषिक शब्द भी पृथक्-पृथक् हैं। डा० सत्यकेतु ने इस हेतु को एक उदाहरण से स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि सांख्य ने जिस अर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग किया है, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में उसी अर्थ में ‘आत्मा’ शब्द प्रयुक्त है। सांख्य को पुरुष शब्द से जीवात्मा और परमेश्वर दोनों अभिप्रेत हैं। इसी प्रकार न्याय वैशेषिक में ‘आत्मा’ शब्द से परमेश्वर और जीवात्मा दोनों अभिप्रेत हैं। यहां एक शंका उत्पन्न हो सकती है। वह यह कि एक ही शब्द ‘पुरुष’ या ‘आत्मा’ से कहां ‘ईश्वर’ का ग्रहण किया जाए और कहां ‘जीवात्मा’ का? एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। कहां किसका ग्रहण किया जाये? इसके जानने की एक विधि महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के

प्रथम समुल्लास में बतलाई है। उनका कहना है 'पुरुष' शब्द के जहां-जहां सर्वज्ञादि विशेषण हों वहां-वहां परमात्मा और जहां-जहां इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां-वहाँ जीव का ग्रहण होता है। ठीक इसी आशय को डाक्टर सत्यकेतु ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "कहाँ पुरुष अथवा आत्मा से ईश्वर का ग्रहण करना उचित है, और कहाँ जीवात्मा का, इस बात का निर्धारण प्रसंग के अनुसार किया जाना चाहिए।"

सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद

दर्शनशास्त्र में सत्कार्यवाद कार्यकारणवाद की एक जटिल समस्या है। डा० सत्यकेतु ने इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द के मत की जिस सुन्दर ढंग से व्याख्या की है, उस पर विचार करने से पूर्व इस समस्या को जानना आवश्यक है। सत्कार्यवाद सांख्य का और असत्कार्यवाद न्याय-वैशेषिक का मत समझा जाता है। यह वाद वस्तुओं के कार्य-कारण भाव पर आश्रित है। जो वस्तु कार्य है, उसका कोई कारण अवश्य होगा। कार्य किसे कहते हैं? जो वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है, उसे कार्य कहते हैं। प्रश्न यह है, कि वह वस्तु जो अपने कारण से उत्पन्न हुई है, वह अपने जन्म से पूर्व अपने कारण में विद्यमान थी या नहीं। इसके दो उत्तर हैं— 'थी' नहीं थी।' प्रथम उत्तर सत्कार्यवाद का है और दूसरा असत्कार्यवाद का। स्पष्टतः ये दोनों वाद विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

असत्कार्यवाद की युक्तियाँ

असत्कार्यवाद के समर्थक न्याय वैशेषिक का कहना है कि कार्य-कारण नियम की व्याख्या के लिए हमें यह मानना ही होगा कि "कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में पहले से उपस्थित नहीं रहता है।" उनका कहना है कि यदि कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण में उपस्थित रहता है तो फिर नई उत्पत्ति का क्या अर्थ रहेगा? यह कहना सर्वथा व्यर्थ है कि "यह उत्पन्न हुआ है।" यदि घड़ा बनने से पहले ही मिट्टी में विद्यमान है तो "यह बनाया है" कहना निरर्थक है। जो कार्य घड़े से लिया जाता है वही कार्य मिट्टी से लेना चाहिए क्योंकि मिट्टी में घड़ा पहले से ही विद्यमान है। परन्तु व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता। तीसरा तर्क यह है कि यदि कार्य (घट) उत्पन्न होने से पूर्व ही कारण (मिट्टी) में उपस्थित है तो निमित्त कारण कुम्भकार की क्या आवश्यकता है? परन्तु हम देखते हैं कि बिना कुम्भकार के मिट्टी से घट स्वयं नहीं बन जाता। चौथी बात यह है कि यदि कार्य पहले से ही उपादान कारण में उपस्थित रहता है तो फिर

कारण व कार्य में लोग भेद क्यों करते हैं ? मिट्टी और घड़े को दो नामों से क्यों पुकारते हैं ? मिट्टी को ही घड़ा और घड़े को ही मिट्टी क्यों नहीं कहते हैं ? अन्तिम बात यह है कि यदि हम यह मान लें कि कारण और कार्य में केवल आकार का ही अन्तर है तो भी बात नहीं बनती क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्य में कुछ ऐसी बात अवश्य है जो पहले से कारण में उपस्थित नहीं रहता । अभिप्राय यह है कि कारण से कार्य में भिन्नता रहती है, भले ही वह आकार में क्यों न हो । इसका अर्थ है कि कार्य कारण का नया रूप है । इसलिए कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में उपस्थित नहीं रहता । असत्कार्यवाद के इस सिद्धान्त को आरम्भवाद भी कहते हैं क्योंकि कार्य पहले से अपने कारण में उपस्थित नहीं रहता वरन् उसका आरम्भ होता है ।

सत्कार्यवाद की युक्तियाँ

सांख्य दर्शन असत्कार्यवाद का घोर विरोध करता है । यह निम्न तर्क प्रस्तुत करता है—

१. यदि कोई कार्य वस्तु उत्पत्ति से पूर्व अपने उपादान कारण में उपस्थित नहीं है तो कोई भी व्यक्ति उसको वहाँ से उत्पन्न नहीं कर सकता । क्या कोई व्यक्ति चीनी में से नमक उत्पन्न कर सकता है ? अतः जब कोई कार्य किसी उपादान से उत्पन्न होता है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि यह पहले से उसमें अव्यक्त रूप में उपस्थित था । सहकारी दशाओं के उपस्थित होने से वह कार्य अभिव्यक्त हो जाता है ।

२. किसी विशेष कार्य की उत्पत्ति विशेष कारण से ही होती है । कपड़ा धागों से बनता है, डलों से नहीं । स्पष्ट है जो वस्तु जहाँ है, वहीं से निकलेगी । क्योंकि कपड़ा धागों से निकलता है इसलिए समझना चाहिए कि वह पहले से वहाँ विद्यमान है । यदि धागों में कपड़ा नहीं है तो जैसे धागों में नहीं है वैसे मिट्टी के डलों में भी नहीं है । धागों और मिट्टी के डले दोनों में समान रूप से कपड़े का अभाव है । परन्तु क्या कारण है कि जब भी कपड़ा पैदा होता है तो वह धागों से ही होता है, मिट्टी के डले से कभी नहीं होता । स्पष्ट है कि कपड़ा धागों में है मिट्टी के डले में नहीं ।

३. यदि हम कार्य को कारण में अनुपस्थित मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है । अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? जो पहले नहीं था वह बाद में कहाँ से आ गया ? अतः हमें मानना चाहिए कि कार्य पहले ही से कारण में विद्यमान

रहता है ।

४. सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कार्य को कारण से पृथक् नहीं पा सकते हैं । कारण किसी वस्तु का अव्यक्त रूप है और कार्य उसका व्यक्त रूप है । वस्त्र और धागों में भिन्नता कहाँ ?

हमने दोनों वादों की जो युक्तियाँ दी हैं, उनसे यह तो प्रभाव अवश्य पड़ता है कि दोनों की युक्तियाँ प्रबल हैं, दोनों के दाँव पेंच तगड़े हैं । फिर भी असत्कार्यवाद के पास इसका क्या उत्तर है कि वस्त्र के लिए धागों की ही क्यों आवश्यकता होती है, मिट्टी के डलों की क्यों नहीं ? जब कि दोनों जगह कार्य का अभाव समान रूप से रहता है । किसी वस्तु के कार्य रूप में आने से पूर्व कार्य का किसी प्रकार अस्तित्व स्वीकार न किए जाने पर कार्य-कारण व्यवस्था सम्भव नहीं हो सकती । इसका समाधान महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन में इस प्रकार किया है—

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् । (४।१।५०)

वह कार्य जो उत्पत्ति से पूर्व असत् कहा जाता है वस्तुतः उसका अस्तित्व बुद्धि सिद्ध रहता है । जगत् में हम एक व्यवस्था देखते हैं । कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न हो जाये, ऐसा देखने में नहीं आता । इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कार्य का निर्माता अपनी बुद्धि द्वारा इस स्थिति को जानता है कि इन कारणों से अमुक कार्य बन सकता है । कार्य की आकृति, लम्बाई, चौड़ाई, गोलाई, ऊँचाई, छोटाई, बड़ाई आदि प्रत्येक स्वरूप का उसे ज्ञान है, कि इस कारण से मैंने इस प्रकार का कार्य बनाना या प्रकट करना है । गम्भीरता से यदि इस पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि न्याय के अनुसार भी कारण में कार्य का अस्तित्व “स्व” रूप में तो नहीं पर निर्मात्री बुद्धि द्वारा उसकी रूपरेखा का निश्चय कारणों के रूप में अवश्य रहता है । सांख्य भी कार्य को प्रकट होने से पहले सर्वात्मना कार्य स्वरूप के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है । कार्यरूपों को कारण रूप में रहना मानता है । इस स्थिति में सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद में बाह्य रूप से देखने वाला विरोध समाप्त हो जाता है । दोनों वादों में वस्तु तत्त्व के वर्णन करने की रीति में भले ही कुछ अन्तर हो पर मन्तव्य अर्थ में कोई विरोध नहीं । महर्षि दयानन्द सरस्वती को दोनों वाद स्वीकार्य हैं ।

डा० सत्यकेतु का भी यही विचार है कि सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । महर्षि दयानन्द स्वयं सत्कार्यवाद के

समर्थक हैं और यह मानते हैं कि न्याय वैशेषिक में भी यही वाद प्रतिपादित है। इस सम्बन्ध में महर्षि के मत की स्थापना हेतु डा० सत्यकेतु ने सत्यार्थ-प्रकाश अष्टम समुल्लास से यह पंक्तियां उद्धृत की हैं—“यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, अभाव न था।” इसका अभिप्राय यह है कि कार्य रूप जगत् के सब पदार्थ अव्यक्त रूप में अपने कारणों में विद्यमान रहते हैं। यही सांख्य का सत्कार्यवाद है। डा० सत्यकेतु ने यहां पूर्व पक्ष रूप में न्याय दर्शन का एक सूत्र प्रस्तुत करके यह दिखाया है कि अभाव या असत् से ही पदार्थ की उत्पत्ति होती है। सूत्र इस प्रकार है—“अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्” (४।१।१४) अभाव-असत् से भाव-सत् की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे बीज को नष्ट किए बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता। अंकुर का कारण बीज न होकर बीजाभाव है। यदि इस सूत्र को न्याय दर्शन का निज मत माना जाये तो उस स्थिति में निश्चित रूप में यही समझा जायेगा कि न्याय और सांख्य में विरोध है। इस आपाततः विरोध का परिहार करने के लिए डा० सत्यकेतु ने लिखा है कि वस्तुतः यह सूत्र महर्षि दयानन्द की दृष्टि में न्याय मत का सिद्धान्त नहीं वरन् पूर्व पक्ष है। इसी कारण इसे पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर महर्षि ने इसका यह उत्तर दिया है—“जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था, जो न होता तो कभी उत्पन्न न होता।” (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समु०)

इस प्रश्न पर डा० सत्यकेतु ने अपने विचार सार रूप में इस प्रकार व्यक्त किए हैं—“वस्तुतः सांख्य, न्याय और वैशेषिक तीनों दर्शन कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इनमें भेद केवल इतना है कि न्याय वैशेषिक का यह कहना है कि उत्पन्न हुए पदार्थ का पहले अभाव था, अर्थात् वह पहले उस रूप में नहीं था जिसमें कि उत्पन्न होने के पश्चात् वह हो गया। सांख्य और न्याय-वैशेषिक एक ही बात कहते हैं, यद्यपि उनके कहने के ढंग में अन्तर है। दोनों को यही स्वीकार्य है, कि असत् से सत् की या अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।” यहां हम इतना स्पष्ट कर दें कि महर्षि दयानन्द ने अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने वाले को नास्तिक कहा है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि आस्तिक होते हुए न्याय वैशेषिक इस नास्तिक मत का पक्षधर बनते।

—प्रो० रत्नसिंह

बी-२१ गांधीनगर, गाजियाबाद, उ०प्र०

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार और पूर्व मध्यकालीन इतिहास

—विनोदचन्द्र सिन्हा

डा० सत्यकेतु ने बहुत पढ़ा और बहुत लिखा। यह सब इतना किया कि इसे सही-सही व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। डा० साहव ने मुझे तो नहीं पढ़ाया था किन्तु मेरे गुरु पं० हरिदत्त वेदालंकार को पढ़ाया था। ऐसी स्थिति में मेरा रिश्ता उनसे क्या हुआ आप भली भांति समझ सकते हैं। हरिद्वार में अनेक स्थानों पर उनके व्याख्यान आयोजित होते रहते थे। इतिहास के एक विद्यार्थी के रूप में अनेक बार मैं भी उनके साथ रहा। किसी समय हरिद्वार के डिग्री कालेज में वे बोल रहे थे। सारा हाल मंत्र मुग्ध सा उन्हें सुनता रहा। जब व्याख्यान समाप्त हुआ तो कुछ विद्यार्थियों ने उन्हें घेर लिया और प्रश्न किया, “आप ने विविध विषयों पर इतना अधिक कैसे लिख डाला ? डा० साहव ने हंसते हुए उत्तर दिया, “यह तो आप भी कर सकते हैं। केवल लगन की आवश्यकता है।” डा० सत्यकेतु बड़े ही विनोदी और सरल स्वभाव के थे। ऐसे महापुरुष के जीवन के विषय में कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का जन्म १९ सितम्बर १९०३ को जिला सहारनपुर के आलमपुर नामक स्थान पर हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा के दौर से गुजरते हुए वे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातक बने और तत्पश्चात् पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। डा० साहव ने लगभग चालीस ग्रन्थों की रचना की। मुख्य रूप से ये इतिहास के ग्रन्थ थे किन्तु उन्होंने सेनानी पुष्पमित्र और आचार्य चाणक्य जैसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इतिहास विषय पर सत्यकेतु विद्यालंकार लिखित कुछ श्रेष्ठ पुस्तकों का नाम निम्न प्रकार से गिनाया जा सकता है।

१. प्राचीन भारत
२. भारतीय संस्कृति का विकास

३. मौर्य साम्राज्य का इतिहास
४. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग ।
५. भारतीय इतिहास का पूर्व मध्य युग
६. प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजनीतिक विचार
७. प्राचीन भारत का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन
८. यूरोप का आधुनिक इतिहास
९. एशिया का आधुनिक इतिहास
१०. पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया का इतिहास
११. मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति
१२. आर्यसमाज का इतिहास ।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार को उनकी रचनाओं पर अनेक विशेष पुरस्कार मिले । उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा गोविन्द वल्लभ पंत पुरस्कार, मध्य प्रदेश शासन द्वारा मोतीलाल नेहरू पुरस्कार तथा अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक उन्हें प्राप्त हुए । इनके अतिरिक्त बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी समिति इन्दौर तथा आर्य साहित्यिक संस्थाओं द्वारा अनेक पुरस्कार डा० साहेब के ग्रन्थों पर प्रदान किए जा चुके हैं । डा० सत्यकेतु ने यूरोप पश्चिम एशिया तथा चीन का अनेक बार भ्रमण किया । इसी प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि डा० साहेब ने विदेश जाकर भारतीय संस्कृति की पताका वहाँ फहरायी है । इस संदर्भ में बृहत्तर भारत पर लिखी गई उनकी दो पुस्तकें अमूल्य निधि हैं । हम भारतीय इस पर सदा गर्व करते रहेंगे ।

भारतीय इतिहास पर डा. सत्यकेतु ने अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय प्रस्तुत किया है । उनका दृष्टिकोण सदैव एक सच्चे राष्ट्रवादी का रहा है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अपनी चीजों को उन्होंने बड़ा कर ही देखा है । जो वास्तविक स्थिति थी डा० साहेब ने उसी का प्रतिपादन किया है । पूर्व मध्यकाल पर उनका ग्रन्थ, “भारतीय इतिहास का पूर्व मध्ययुग” भारतीय इतिहास की एक अनुपम धरोहर है । यों तो इस विषय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं । किन्तु कहीं अतिशयोक्ति है और कहीं पूर्वाग्रह । डा० सत्यकेतु ने इन दोनों से बचने का प्रयास किया है । इतिहास लेखन वस्तु परक होना चाहिए यही उनका उद्देश्य था ।

अपने विषय पर, ‘भारतीय इतिहास का पूर्व मध्ययुग’ नामक ग्रंथ बड़ा ही रोचक है । डा० सत्यकेतु ने इसे अत्यन्त ही सरल और सुबोध

सत्यकेतु स्मृति अंक

शली में लिखने का प्रयास किया है। यह पुस्तक बी० ए० के विद्यार्थी से लेकर शोधार्थी तक पढ़ते हैं। इस ग्रन्थ में ७०० ई० से १२०० ई० तक की घटनायें सुनियोजित ढंग से लिपि बद्ध हैं। प्रायः यह माना जाता है कि सम्राट् हर्ष के साथ-साथ भारतीय इतिहास का हिन्दू काल समाप्त हो जाता है। डा० साहव के ही शब्दों में, “हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद उत्तरी भारत में कोई ऐसी राजशक्ति नहीं रह गई, जो विविध राज्यों को जीत कर अपनी अधीनता में रख सके। यशोधर्मा के समान हर्षवर्धन द्वारा की गई विजयें भी कोई स्थिर परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकीं। गुप्त सम्राटों के समय जिस सामन्त-पद्धति का विकास हुआ था, वह अब अपना फल दिखा रही थी।”

हर्षवर्धन के पश्चात् डा० सत्यकेतु ने उत्तरी भारत के विविध राज्यों और उनके मध्य संघर्ष का तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। सातवीं सदी के अन्तिम भाग में राजपूत वंशों का प्रादुर्भाव हुआ। डा० साहव का मत है कि क्षत्रिय कुलों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए इन्हें राजपुत्र या राजपूत कहा गया। इसमें तो तनिक संदेह नहीं है कि इन राजपूत राज्यों के पारस्परिक संघर्ष ने भारत का द्वार विदेशी आक्रान्ता के लिए खोल दिया।

अगले अध्यायों में डा० साहव ने बौद्ध धर्म के उत्थान और पतन पर प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् दक्षिणा पथ के विविध राज्यों के संघर्ष का सजीव विवरण प्रस्तुत किया है। डा० सत्यकेतु की दृष्टि से सुदूर दक्षिण के राज्य भी न बच सके। उन्होंने पल्लव-वंश, चोल साम्राज्य तथा पाण्ड्य और केरल राज्य का वर्णन किया है। अन्त में उन्होंने पूर्व मध्य काल की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डाला है। डा० साहव के अनुसार यह काल अराजकता और अव्यवस्था का था। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता का प्रवेश हुआ और सामाजिक दृष्टि से भी इस युग में संकीर्णता उत्पन्न हुई। डा० साहव ने लिखा है, “भारत के मध्यकालीन इतिहास में विविध राजवंश एक दूसरे के साथ निरंतर युद्ध में व्याप्त रहे। उनके पारस्परिक संघर्ष के कारण वे परिस्थितियां नष्ट हो गईं, जिनसे किसी देश को उन्नति का अवसर मिलता है।”

—प्रो० बिनोदचन्द्र सिन्हा

प्रोफेसर एवं अध्यापक

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तथा पुरातत्त्व
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

डा० सत्यकेतु का राजनैतिक दर्शन

—डा० (श्रीमती) शान्ता मल्होत्रा

डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार डी० लिट् (पेरिस) इतिहास एवं राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्होंने इन दोनों विषयों में उच्च कोटि के अनेक ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने आर्यसमाज के वृहत् इतिहास को सात खण्डों में सम्पादित किया, और इसका अधिकांश भाग उनकी लेखनी से प्रसूत है। यह इतिहास आर्यसमाज व हिन्दी साहित्य को उनकी अद्वितीय देन है।

डा० सत्यकेतु गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातक थे एवं उनका चिन्तन ऋषि दयानन्द की विचार धारा से प्रभावित था। वे अनेक वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी में इतिहास के प्रोफेसर रहे और तत्पश्चात् स्वतंत्र लेखन कार्यरत रहे। वे एक जागरूक बुद्धिजीवी तथा राजनीतिक चिन्तक थे। भारत के स्वातंत्र्य आंदोलन के दौरान वे अमर शहीद भगतसिंह के सम्पर्क में भी रहे एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उत्तर प्रदेश की विधान परिषद् के १९६२ से १९६८ तक सदस्य रहे।

उनका राजनीति में आदर्शवादी एवं मूल्यवादी दृष्टिकोण था। वे अवसरवादी एवं मूल्यविहीन राजनीति के पक्षपाती न थे। आज के भौतिकवादी परिवेश में भारत ही क्या विश्व के अन्य देशों में भी राजनीति में नैतिक मूल्यों का हास देखते हुए भी उनका मूल्य परक राजनीति से विश्वास नहीं उठा था। वे प्रत्येक राजनैतिक समस्या एवं परिस्थिति का विश्लेषण कर उसका रचनात्मकपक्ष समक्ष रखते एवं मूल्यों के आधार पर उसका समाधान प्रस्तुत करते।

देश की तेजी से बदलती हुई विप्लवकारी घटनाओं से वे प्रभावित एवं उद्वेलित होते हुए भी इनको एक संक्रमण काल की समस्याएं समझते हुए देश के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि भारतीय संस्कृति के चिरन्तन मूल्यों की पुनःस्थापना एवं प्रसार से ही भारत

एवं विश्व का कल्याण संभव है ।

डाक्टर सत्यकेतु ऋषि दयानन्द के इस मन्तव्य से सहमत थे कि प्राचीनकाल में आर्य लोग न केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से अग्रणी थे वरन् ज्ञान, विज्ञान, कला, धर्म, संस्कृति में भी सबके शिरोमणि थे । अन्य देशों के लोगों ने विद्या धर्म की शिक्षा आर्यावर्त के आर्यों से ही प्राप्त की थी । अपने एक ग्रन्थ 'दक्षिण पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति' में डाक्टर साहब ने यह स्थापना की है कि प्राचीन समय में दक्षिण पूर्वी एशिया के विविध देश—इण्डोनेशिया, वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, मलेशिया, सियाम, फिलिपीन, श्रीलंका और बरमा आदि—'भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य' के अंग थे । तथा बारहवीं सदी व उसके बाद तक भी भारत का यह सांस्कृतिक साम्राज्य कायम रहा । अपने एक ग्रन्थ 'मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति' में यह स्थापित किया है कि मध्य एशिया का सिन्कियांग (चीनी तुर्किस्तान) प्रदेश आजकल चीन के अन्तर्गत है और रूसी तुर्किस्तान में उजबेक, खिरगिज आदि अनेक सोवियत गणराज्यों की सत्ता है । पर प्राचीनकाल में मध्य एशिया के ये प्रदेश भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य में सम्मिलित थे । अफगानिस्तान उस समय भारत का उसी प्रकार से अंग था जैसे कुरु, गान्धार, केकय आदि जनपद थे । तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में भारत के बौद्ध भिक्षुकों ने न केवल अपने धर्म का ही प्रचार किया अपितु भारतीय संस्कृति द्वारा इन देशों की कला तथा जीवन को भी प्रभावित किया है ।

डाक्टर साहब वैदिक संस्कृति को विश्व की उच्चतम संस्कृति मानते थे । इतिहास लेखक होने के नाते उन्हें एक बार जैन इतिहास लिखने के लिए कहा गया । बहुत अधिक आर्थिक सुविधा के प्राप्त होने की संभावना को डा० साहब ने केवल इसलिए अस्वीकार किया कि वे जैन संस्कृति को वैदिक संस्कृति के समकक्ष अथवा उससे उच्चतर नहीं मानते थे और अपने किसी ग्रन्थ में धनलाभ अथवा किसी भी लाभ के कारण अपनी इस मान्यता के विपरीत लिखने के लिए तैयार नहीं थे । उनकी वैदिक संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी और वे मानते थे कि महर्षि स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति का आधुनिक युग में पुनरुत्थान किया है । वे स्वामी दयानन्द को आधुनिक भारत के सबसे महान् चिन्तक एवं अद्भुत एवं मौलिक राजनैतिक चिन्तक मानते थे । इसी विश्वास के कारण उन्होंने मेरे शोध प्रबन्ध जिसका विषय है 'स्वामी दयानन्द के राजनैतिक विचार' के निर्देशन में गहरी रुचि ली । उनकी मान्यता थी कि धर्म, दर्शन, समाज संगठन, राज्य संस्था और आर्थिक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में जो विचार स्वामी दया-

नन्द ने अपने ग्रन्था में प्रतिपादित किए हैं उनसे न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण विश्व का वास्तविक कल्याण संभव है ।

डा० साहब के मतानुसार “आर्यसमाज की स्थापना करते हुए महर्षि के सम्मुख यह विचार विद्यमान था कि आर्यों के विलुप्त गौरव तथा पराक्रम की पुनः स्थापना की जाए और एक बार विश्व में पुनः उसी प्रकार श्रेष्ठ, सदाचारी व धार्मिक लोगों का प्रभुत्व हो जैसा कि अब से पाँच सहस्र वर्ष पहले था ।” आर्यसमाज के रूप में महर्षि ने किसी नए संप्रदाय व मत का प्रवर्तन नहीं किया था । वे आर्यों के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने के लिए प्रयत्नशील थे, और आर्यसमाज की स्थापना इसी प्रयोजन से की गई थी (डाक्टर सत्यकेतु आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ सं० २१)

आगे वे लिखते हैं “आर्यसमाज के जो दस नियम उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) बनाए थे उनमें छठा नियम यह है “संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।” सम्पूर्ण संसार की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए ही महर्षि ने आर्यसमाज नाम से एक संगठन का निर्माण किया था । उनका यह चरम लक्ष्य था कि संसार के सब निवासी आर्य या श्रेष्ठ होकर एक विश्वव्यापी संगठन में संगठित हो जाएं । साथ ही वे यह मानते थे कि यह महत्त्वपूर्ण कार्य आर्यावर्त भारत द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है । उनका मन्तव्य था कि यह संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है और यही वह सच्चा पारसमणि है जिसके सम्पर्क से लौह रूप अन्य देश सुवर्ण बन जाते हैं । प्राचीन समय में चिरकाल तक भारत और उसके निवासी आर्य लोग राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में विश्व का नेतृत्व करते रहे क्योंकि वे श्रेष्ठ थे । उनका सामाजिक जीवन आदर्श था और वेदों द्वारा प्रतिपादित सदाचरण के नियमों का अविकल रूप से पालन करते थे । महर्षि दयानन्द सरस्वती को कल्पना थी कि आर्यावर्त के लोग एक बार फिर विश्व का नेतृत्व करेंगे । पर यह तभी सम्भव हो सकेगा जब वे सच्चे अर्थों में आर्य हों । (डा० सत्यकेतु, आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग पृष्ठ सं० ३२)

डा० सत्यकेतु के मतानुसार आधुनिक युग में भारत में आर्यसमाज के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा संगठन नहीं बना जिसका कार्यक्षेत्र इतना व्यापक रहा हो और जिसके द्वारा भारत के नव जागरण में इतनी अधिक सहायता मिली हो । उनके अनुसार भारत देश जो आज स्वतंत्र है और एक ऐसे समाज के निर्माण में तत्पर है जो सामाजिक न्याय पर आधारित है

उसका प्रधान श्रेय आर्यसमाज को हो दिया जाना चाहिए क्योंकि सदियों की मोह निद्रा के पश्चात् उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में पुनः जागरण और धार्मिक सुधार के जिन आंदोलनों का सूत्रपात भारत में हुआ वह महर्षि दयानन्द सरस्वती व आर्यसमाज का प्रमुख कर्तृत्व था । ... आर्य-समाज का कार्य क्षेत्र केवल पढ़े लिखे व्यक्तियों तक सीमित नहीं रहा है । वह सच्चे अर्थों में एक व्यापक जन आंदोलन था जिसने सर्वसाधारण जनता में जागृति उत्पन्न की और वह चिर निद्रा से जाग कर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रवृत्त हो गई (आर्यसमाज का इतिहास— सात भागों में प्रकाशित करने की योजना पृष्ठ ३)

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संसार के उपकार एवं मानव समाज के हितकल्याण एवं सुख समृद्धि के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना की थी और यह भी निर्दिष्ट कर दिया था कि 'अविद्या का नाश एवं विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।' भारत की दुर्दशा का मुख्य कारण यही था कि इस देश में अविद्या का अंधकार छाया हुआ था कि इस देश में अविद्या का अंधकार छाया हुआ था । जनता का बहुत बड़ा भाग पूर्णतया निरक्षर था । केवल जन्म से ब्राह्मण वर्ग का ही थोड़ी बहुत शिक्षा पर अधिकार था । परन्तु इस ब्राह्मण वर्ग में संस्कृत भाषा और प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन की जो प्रणाली थी उस द्वारा न तो वेदशास्त्रों का समुचित ज्ञान हो पाता और न ही बुद्धि का प्रयोग कर नए वैज्ञानिक आविष्कार ही किए जा सकते थे । परिणाम स्वरूप भारत की जनता अनेक विध अंधविश्वासों से ग्रस्त थी और समाज में अनेक कुरीतियां प्रचलित हो गई थीं । शिक्षा के अभाव के कारण ही भारत अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को भी कायम न रख सका था । इस दशा में महर्षि दयानन्द ने शिक्षा की एक ऐसी पद्धति प्रतिपादित की थी जो भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के अनुरूप थी, जिसमें प्राचीन वेद-शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ ज्ञान विज्ञान के अध्ययन को भी समुचित स्थान दिया गया था । इस पद्धति के अन्तर्गत विद्या समाज के किसी एक वर्ग तक ही सीमित नहीं थी वरन् समाज के सभी वर्गों को शिक्षा प्राप्ति का समान अवसर एवं सुविधाएं प्राप्त थीं ।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षा पद्धति के अविकल अनुसरण के लिए पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एवं उनके समर्थकों जिनमें लाला मुन्शी-राम प्रमुख थे—गुरुकुलों की स्थापना आरम्भ की । चरित्र निर्माण के क्षेत्र में गुरुकुल शिक्षा पद्धति को डा० सत्यकंतु बहुत महत्वपूर्ण मानते थे । वे

अपने निज के जीवन की सभी उपलब्धियों को गुरुकुल कांगड़ी की ही देन मानते थे—वे कहा करते थे कि यदि गुरुकुल कांगड़ी न होता अथवा मैंने उसमें प्रवेश न लिया होता तो आज मैं भी किसी खेत में हल चला रहा होता ।”

गुरुकुलों में शिक्षक छात्र, छात्राओं के हृदय पटल पर मान्यताएं एवं आदर्श अंकित कर सकते हैं एवं उनके चरित्र निर्माण का कार्य समुचित ढंग से कर सकते हैं। नागरिकों का चरित्र निर्माण ही किसी भी राष्ट्र के निर्माण की आधार शिला होता है। भारत के स्वतन्त्रता आंदोलन में गुरुकुलों के स्नातकों ने एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। आज भी देश की परिस्थितियों को सुधारने के लिए शिक्षा पद्धति को सुधारने की आवश्यकता है। गुरुकुलों की स्थापना एवं उन्हें सुचारु रूप से चलाने की आवश्यकता है। डा० सत्यकेतु गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को सुचारु रूप से कार्य करती हुई एक महत्त्वपूर्ण शिक्षण संस्था के रूप में देखना चाहते थे। इसी भावना से उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद के कार्य भार को संभाला था। अपने इस कार्यकाल में गुरुकुल कांगड़ी में विलुप्त प्रायः अध्ययन अध्यापन के वैदिक आदर्शों की पुनः स्थापना के लिए एवं गुरुकुल कांगड़ी को भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में एक उच्च कोटि की शोध संस्था बनाने के लिए डाक्टर साहव ने अपने स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए अथक परिश्रम किया। तत्पश्चात् भी वे आजीवन गुरुकुल कांगड़ी से किसी न किसी रूप में जुड़े ही रहे, वे गुरुकुल कांगड़ी को वैदिक संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के क्षेत्र में एक अग्रणी संस्था के रूप में देखना चाहते थे। वे चाहते थे कि गुरुकुल से पढ़ कर निकले हुए स्नातक वैदिक संस्कृति के उच्च नैतिक आदर्शों के अनुसार अपना व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन यापन करे तथा इन आदर्शों को देश के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन में स्थापित करने में सक्षम हों।

डा० सत्यकेतु जी ने वैदिक संस्कृति एवं आर्यसमाज की जो अनुपम सेवा की है वह सराहनीय एवं अनुकरणीय है।

—डा० श्रीमती शान्ता महोत्रा (M.A. Phd.)
प्रिंसिपल आर्य गर्ल्स कालेज भ्रम्बाला छावनी
(हरियाणा)

डा. सत्यकेतु और विश्व इतिहास की प्रस्तुति

—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

पिछले दिनों एक मोटर दुर्घटना में डा० सत्यकेतु विद्यालंकार का असायमिक देहावसान हो गया। सत्यकेतु जी इतिहास के उद्भट विद्वान् एवं लेखक थे। 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास', 'प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र' के अतिरिक्त उन्होंने इतिहास की अनेक मान्य पाठ्य पुस्तकें तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे। मौर्य साम्राज्य का इतिहास के लिए उन्हें प्रतिष्ठित 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' से सम्मानित किया गया था। पिछले दिनों उन्होंने सात विशाल खण्डों में 'आर्यसमाज का इतिहास' प्रकाशित किया। इतिहास सम्बन्धी अपने दर्जनों ग्रन्थों के लेखन के कारण वह वर्तमान युग के एक अधिकारी विशेषज्ञ बन गए थे। हिन्दी के इतिहास विषय के वह मूर्द्धन्य प्रवक्ता एवं प्रतिनिधि विद्वान् थे। उनके असामयिक निधन से इतिहास को जो भीषण क्षति हुई है, उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। इसी के साथ यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि हिन्दी इतिहास क्षेत्र में अपने लेखन द्वारा उन्होंने जो अमूल्य योगदान किया है, उसके कारण वह अमर हो गए हैं, परन्तु इसी के साथ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इतिहास-लेखन के क्षेत्र में वह अद्वितीय थे। इस क्षेत्र में उनकी विद्वत्ता, अनुभव एवं क्षमता के अनुरूप वह चाहते हुए भी अपना मनचाहा योगदान नहीं कर सके। वैसा सम्भव हो सकता तो वह एक विशेषज्ञ विद्वान् के रूप में विश्व इतिहास की झलक और भारत की खोज जैसे विषयों का एक प्रामाणिक संस्करण या स्वरूप प्रस्तुत करते।

यह ठीक है कि उन्होंने 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' और 'प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र' सरीखे कुछ प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु स्मरण रखना होगा कि विश्व एवं भारत के इतिहास में भारतीय संस्कृति एवं महापुरुषों का आज तक समुचित मूल्यांकन नहीं हो

नसका है। वर्तमान समय में भारत का प्राचीन इतिहास क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं है। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य अत्यन्त विशाल एवं समृद्ध है, तथापि प्राचीन भारतीय इतिहास के बारे में उपलब्ध सामग्री अपर्याप्त है। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि प्राचीन भारतीय इतिहास शास्त्र से भली भाँति परिचित थे और वे परिवर्तनशील घटनाचक्र को क्रमबद्ध रूप से संकलित करने को समुचित महत्ता देते थे। उनकी दृष्टि में इतिहास की गरिमा इतनी अधिक थी कि उनकी गणना वेदों में की जाती थी, छान्दोग्य उपनिषद में इतिहास की गिनती वेदों में की गई है। महाभारत के अनुसार वेदों का अभिप्राय समझने के लिए इतिहास का अनुशीलन आवश्यक है। नीति ग्रन्थों में राजाओं या शासकों की निर्धारित दिनचर्या में इतिहास का अध्ययन एवं श्रवण अनिवार्य कहा गया है। इस स्थापना के बावजूद यह कटु वस्तु-स्थिति स्वीकार करनी होगी कि विश्व इतिहास में भारत और भारतीय महापुरुषों के समुचित योगदान के सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थरत्न उपलब्ध नहीं हैं, और उनका लेखन आवश्यक है।

अंग्रेज इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथ ने अपने विश्व इतिहास में मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य विस्तार का उल्लेख करते हुए लिखा है—दो हजार साल से भी अधिक समय व्यतीत हो गया जब भारत के प्रथम सम्राट ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहुँ भरते रहे और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं किया।” मौर्य साम्राज्य, महात्मा बुद्ध तथा आचार्य उपगुप्त, भागवत धर्म के प्रवर्तक एवं सभ्यता संस्कृति उन्नायक श्री कृष्ण आदि ने विश्व संस्कृति एवं इतिहास पर अपनी उल्लेखनीय छाप छोड़ी है।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार वर्षों तक इतिहास के प्राध्यापक रहे हैं, छात्रों को इतिहास पढ़ाते हुए वह अक्सर कहा करते थे कि मिस्र के पिरामिडों में सुरक्षित ममियों के साथ भारत का शुद्ध रेशम और मधु (शहद) उपलब्ध हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो कहना होगा कि इन ऐतिहासिक पिरामिडों के निर्माण के समय भारत और मिस्र का सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध सुरक्षित था। इसी तरह हजारों वर्ष पूर्व मध्य एशिया एवं दक्षिण पूर्व के विशाल अंचल में भारत के बौद्ध, वैष्णव एवं शैव चिन्तन के प्रचारकों ने भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन को प्राचीन विश्व में सर्वत्र व्याप्त कर दिया था। इतना ही नहीं, मध्य अमेरिका में प्राप्त

पुरातत्त्व के स्मृति-चिह्नों एवं अन्य सामग्री पर भारतीय परम्पराओं एवं चिन्तन की गहरी छाप दिखाई देती है। प्राध्यापक सत्यकेतु जी विश्व इतिहास में भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन के प्रभाव के समुचित मूल्यांकन के आधार पर विश्व इतिहास के पुनर्लेखन की महत्ता अंगीकार करते थे। इस क्षेत्र में विश्व भर के अभिलेखागारों एवं पुरातत्त्व के संग्रहालयों में बिखरी पड़ी तथा दूसरी अज्ञात सामग्री को खोज कर विश्व इतिहास में भारत की भूमिका के प्रस्तुतीकरण की महत्ता अंगीकार करते थे। कुछ अध्येताओं और शोध विशेषज्ञों की सहायता से सत्यकेतु जी इस दिशा में कुछ कर जाते तो भारत और भारत का इतिहास अमर हो जाता, खेद है कि योग्यता एवं क्षमता के बावजूद उन्हें ऐसा योग नहीं मिल सका।

भारत, उसकी संस्कृति और उसके चिन्तन का विश्व के इतिहास में क्या योगदान है—इस विषय पर चर्चा करते हुए वह प्रायः भावविभोर होकर कहते थे कि हमारी बहुमूल्य पुरातन सम्पदा एवं प्राचीन ग्रन्थ-पाण्डुलिपियां विदेशी नियन्त्रण में पहुँच गई हैं। एक बार एक संगोष्ठी में उन्होंने कहा था—“दूसरे महायुद्ध में मध्य एशिया के क्षेत्र में एक बड़ा विस्तीर्ण टोला मिला, उस टीले में अनेक गुफाएँ मिलीं, जिनका निर्माण अजन्ता-एलोरा की भारतीय गुफाओं के तुल्य था। वहाँ ३५ हजार दुर्लभ संस्कृत पाण्डुलिपियां मिलीं। वे पाण्डुलिपियां विश्व के तीन प्रमुख पुरातत्त्व संग्रहालयों में स्थानान्तरित कर दी गईं। इन पाण्डुलिपियों, दूसरे ग्रन्थों एवं कला तथा पुरातत्त्वों के स्मृति चिह्नों में पता नहीं, कितना भारतीय इतिहास और संस्कृति की गाथा तिरोहित है, कहना कठिन है, सत्यकेतु जी इतिहास के विद्यार्थियों से इस अमूल्य थाती के रहस्योद्घाटन की महत्ता पर जोर देते थे।

एक बार संगोष्ठी में सत्यकेतु जी से पूछा गया उनकी दृष्टि में कौन से भारतीय महापुरुष हैं जिन्होंने विश्व इतिहास पर अपना स्थायी एवं अमर प्रभाव डाला है? प्रश्न सुनते ही वह प्रसन्न हो उठे। कहने लगे—“यह उनका मनचाहा विषय है, साथ ही यह ऐसा विषय है जिस पर इतिहास के अध्येताओं और शोधकर्ताओं को शोध एवं अध्ययन कर अभी बहुत कुछ लिखना है।”

सत्यकेतु जी ने कहा—“विश्व इतिहास में मात्स्य न्याय या अराजक स्थिति को दूर कर समाज को नियमित या नियन्त्रित करने के लिए मनु

महाराज का बड़ा योगदान है। उन्होंने व्यवस्थित शासन द्वारा नियमों एवं व्यवस्थाओं को व्यवस्थित कर प्राचीन विश्व में एक नियमित नियन्त्रित व्यवस्था स्थापित की थी। मानवीय इतिहास में मनु की राज-व्यवस्था अराजक स्थिति को दूर करने में एक सशक्त क्रांतिकारी व्यवस्था बनी, इसलिए विश्व इतिहास में विधिशास्त्री मनु की अद्वितीय देन है।

सत्यकेतु के मूल्यांकन में महात्मा बुद्ध, सम्राट् अशोक और उनके गुरु उपगुरु (तिष्य) का अपूर्व स्थान था। महात्मा बुद्ध ने जो चिन्तन दिया उसे सम्राट् अशोक ने अपने गुरु आचार्य आचार्य उपगुप्त (तिष्य) के सत्परामर्श से विश्व भर में व्याप्त किया। अशोक के समय में स्थविर मोद्गलि पुत्र तिष्य के आयोजन के अनुसार बौद्ध धर्म का देश-विदेश में प्रचार करने का महान् अभियान किया गया, उसका केवल भारत के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में भी बहुत महत्त्व है। इन स्थविरों ने मागध साम्राज्य की अपेक्षा बहुत अधिक बड़ा एक ऐसा धर्म साम्राज्य कायम किया जो कुछ शताब्दियों तक ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों तक स्थिर रहा। दो हजार साल से अधिक समय बीत जाने पर भी यह धर्म साम्राज्य आंशिक रूप से अब तक भी विद्यमान है। दक्षिण भारत के बाद लंका, खेतन, हिमवन्त, यवन देशों तथा सुवर्ण भूमि में उसका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' अनेक उपदेशक मण्डलियां विदेशों में गईं, वे एशिया के व्यापक क्षेत्रों में वर्षों तक धर्म-प्रचार करती रहीं।

विश्व इतिहास में भारतीय चिन्तन के योगदान में महापुरुष श्री कृष्ण की भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सुवर्णभूमि इण्डोनेशिया एवं एशिया के बृहत्तर भागों में श्रीकृष्ण-भागवत धर्म के प्रवर्तक की शैव भागवत, वैष्णव भागवत विचारधाराएं आज भी ओत-प्रोत हैं। द० पू० एशिया के बृहत्तर अंचल में आज भी श्रीराम और श्रीकृष्ण के प्रेरक चरित्रों से जनता प्रेरणा ग्रहण करती है। विश्व इतिहास के सांस्कृतिक चिन्तन में इन भारतीय महापुरुषों के योगदान की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

डा० सत्यकेतु जी की दृष्टि में विश्व के मानचित्र में भारत की महत्त्व-पूर्ण स्थिति संजोने में आचार्य चाणक्य का नाम सर्वोपरि लिया जाना चाहिए। जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र और शस्त्र का प्रयोग कर नन्द-राज के हाथ में पृथ्वी का उद्धार किया। आचार्य चाणक्य ने अपने ग्रन्थ

अर्थशास्त्र में लिखा था—“सारी पृथ्वी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त सीधी रेखा खींचने से जो एक सहस्र योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है।”

(देशः पृथिवी । तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं । योजन सहस्र-परिमाणमतिर्यक् चक्रवर्त्तिकक्षेत्रम्) इसी के साथ आचार्य चाणक्य की दृष्टि में प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है, राजा का अपना प्रिय कुछ नहीं।

प्रजा सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।

नाकमप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥

भौ० अ० १।१६

एक ओर मुद्राराक्षस नामक संस्कृत ग्रंथ में मौर्य साम्राज्य के चक्रवर्ती शासन के प्रधान अमात्य आचार्य चाणक्य की जीर्ण शीर्ण कुटिया का विवरण पढ़ कर दूसरी ओर इतिहासज्ञ स्मिथ के समय विस्तीर्ण भारतीय प्रदेश की सीमा विस्तार को देखकर हृदय को सीख मिलती है कि सच्चे त्याग और तपस्या से ही भारतभूमि की पश्चिमोत्तर सीमा का संरक्षण हुआ था।

प्राध्यापक सत्यकेतु विद्यालंकार विश्व इतिहास में भारतीय महा-पुरुषों के योगदान को बड़ी आस्था और गौरव से सुनाया करते थे, आज सत्यकेतु जी नहीं रहे, उनके चरणों में सच्ची श्रद्धाजलि यही हो सकती है कि पुरातत्त्व, भूगोल एवं एशिया भर में विस्तीर्ण इन महापुरुषों की गौरवगाथा नए इतिहासिक सन्दर्भ में प्रामाणिक ढंग से लिख कर सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत की जाए।

— नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

अभ्युदय, वी-२२, गुलमोहर पार्क,

नई दिल्ली-११००४६

वैदिक दर्शन एवं भारतीय-संस्कृति तथा डा० सत्यकेतु

—ग्राचार्य सत्यव्रत राजेश

डा० सत्यकेतु जी गुरुकुल कांगड़ी के छात्र, प्राध्यापक, कुलपति तथा कुलाधिपति के रूप में अपने बाल्यकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त जुड़े रहे। उन्होंने अपनी अन्तिम साँस भी कुलमाता को ही अर्पण की। वे गुरुकुल, आर्यसमाज तथा महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त थे। वे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में 'वैदिक शोधपीठ' की स्थापना का संकल्प भी अपने साथ ले गए, जिसमें महर्षि दयानन्द की दृष्टि से वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य पर शोध होता तथा नीरक्षीर विवेक होकर उन ग्रन्थों का उज्ज्वल रूप हमारे सामने आता। किन्तु सपने सबके पूरे नहीं होते।

वे विश्वविद्यालय में आते रहते थे। उस समय उनसे जो बात होती उससे प्रतीत होता था कि वे महर्षि दयानन्द द्वारा मान्य दार्शनिक सिद्धान्तों को ही मान्यता देते थे। वे अपने भाषण में भी इन्हीं तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन किया करते थे जिन्हें आर्यसमाज मानता है। वैदिक दर्शन त्रैतवाद को मानता है किन्तु कुछ दार्शनिक एकमात्र प्रकृति को ही तत्त्व मानते हैं। इनके अनुसार चेतनता भी प्राकृतिक तत्त्वों के परिमाण विशेष में मिल जाने का परिणाम है। इनमें चावकि मुख्य है। कुछ प्रकृति तथा जीव इन दो तत्त्वों को मानते हैं। जीव ही प्रगति करके ईश्वर बन जाता है, ऐसा इनका सिद्धान्त है। जैन दर्शन इसी कोटि में आता है। कुछ एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म ही अन्तःकरणावच्छिन्न होने पर जीव तथा अध्यास के कारण जगत् प्रतीत होने लगता है। यह नवीन वेदान्तियों का मत है।

वस्तुतः वस्तु, उसका निर्माता तथा उसका उपभोक्ता इन तीन पर ही समस्त जगद् व्यापार खड़ा है। घट-पट से लेकर समस्त निर्मित वस्तुएं अपनी, अपने बनाने वाले तथा उपयोग में लाने वाले की परिचायक हैं।

संसार का मूल कारण या उपादान कारण प्रकृति है, उसका निमित्त कारण अर्थात् बनाने वाला परमात्मा है तथा उसका उपभोक्ता है जीवसमूह। वैदिक दर्शन इन तीनों तत्त्वों को मानता है। प्रकृति जड़ है तथा जीव एवं ईश्वर चेतन है। इनमें जीव अल्पज्ञ है तथा परमात्मा सर्वज्ञ। स्वयं वेद भी त्रैतवाद का प्रतिपादक है। एक ऋचा में कहा है—

न तं विदाथ य इमा जजान० ॥ ऋ० १०।८२।७ तथा यजु० १७।३१

‘अर्थात् तुम उसको नहीं जानते जिसने इन सब (वस्तुओं) को बनाया है। यहां ‘विदाथ’ क्रिया, न जानने वालों की ओर संकेत करती है, ‘तम् तथा यः’ ये दोनों पद बनाने वाले की ओर इंगित कर रहे हैं तथा ‘इमा (इमानि) जजान’ से पद बनने वाले तत्त्व के द्योतक हैं। न जानने वाले जीव हैं, जिसे जीव नहीं जानता तथा जो इन सब भौतिक वस्तुओं को बनाता है वह ईश्वर है तथा जिसे बनाता अर्थात् नाना रूप देता है वह प्रकृति है।

एक अन्य मन्त्र है जिसमें रूपकालंकार की रीति से त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। मन्त्र—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अग्निं चाकशीति ॥

यहां कहा गया है कि दो पक्षी हैं जो साथ रहने वाले तथा मित्र हैं वे अपने समान वृक्ष पर मिलकर बैठे हैं। उनमें से एक इस वृक्ष के स्वादु फल को खाता है तथा दूसरा न खाते हुए केवल देखता रहता है।

वे दो पक्षी जीवात्मा तथा परमात्मा हैं, वृक्ष प्रकृति है। समानता तीनों में नित्यत्व की है। प्रकृति के मधुर फलों का उपभोग करने वाला जीव है। तथा द्रष्टामात्र परम पिता परमात्मा है। अन्य भी वेद में अनेक मन्त्र हैं। जो त्रैतवाद के विधायक हैं। पुनर्जन्म तथा मुक्ति से पुनरावृत्ति आदि भी वैदिक दर्शन की मान्यताएँ हैं। डा० सत्यकेतु जी उन सब के समर्थक थे।

डा० सत्यकेतु जी भारतीय संस्कृति, जिसे वास्तव में वैदिक संस्कृति कहना चाहिए के अनन्य उपासक थे। वर्णाश्रम व्यवस्था, पंचमहायज्ञ तथा १६ संस्कार भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं। शिक्षक, रक्षक, पोषक तथा सेवक के रूप में क्रमशः अज्ञान, अन्याय, अभाव तथा असहयोग मिटाने रूपी दानवों से राष्ट्र तथा विश्व को बचाने की दीक्षा लेने वालों

को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहा जाता था। कार्य भिन्न होने पर इन चारों वर्णों में आचार की भिन्नता नहीं थी। क्योंकि ब्राह्मण भी आर्य था, क्षत्रिय भी आर्य था, वैश्य भी आर्य था तथा शूद्र भी आर्य था। ये चारों वर्ण गुण कर्म के अनुसार होते थे। सबके लिए प्रगति के द्वार खुले थे। ऊँच नीच तथा छुआछूत का भाव यहाँ था ही नहीं।

जैसे मानव जीवन को कार्य की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया गया है उसी प्रकार आयु की दृष्टि से भी उसके चार विभाग किए गए हैं जिन्हें आश्रम कहते हैं। ये क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास कहलाते हैं। इनमें परोपकार के लिए तैयारी तथा परोपकार के कार्य भी करने होते थे।

पंचमहायज्ञ भी भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनमें कृतज्ञता के भाव समाहित हैं। इनमें ईश्वर, वृद्धजन, विद्वान्, पृथिवी आदि देव तथा जगत् के कुछ प्राणियों के प्रति आभार मानते हुए सन्ध्या-स्वाध्याय, हवन तथा विद्वत्संग, वृद्धजनों के प्रति श्रद्धाभाव तथा उनकी तृप्ति के लिए प्रयत्न, बने भोजन के कुछ भाग को आहृति तथा कुत्ते आदि को देना एवं विद्वान् धर्मात्मा संन्यासी आदि अतिथियों की श्रद्धापूर्वक सेवा करनी होती है। इन्हें क्रमशः ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ तथा अतिथियज्ञ कहते हैं। गृहस्थ को इन्हें नित्य करने का विधान है।

मानव के शरीर तथा आत्म को शुद्ध करने, अच्छे संस्कार डालने, मानसिक तथा बौद्धिक विकास करने तथा शरीर की आरोग्यता आदि की दृष्टि से ऋषियों ने वेदानुकूल जन्म से मरण पर्यन्त करने के लिए १६ संस्कारों का विधान किया है। मानव के निर्माण में इनका भी बहुत महत्त्व है।

इस प्रकार लोक तथा परलोक की उन्नति के लिए सतत जागरूक रहना तथा अपने एवं पराये, हित, मंगल, कल्याण तथा उपकार में रत रहना वैदिक संस्कृति जिसे भारतीय संस्कृति भी कहते हैं, का मूलमन्त्र था। डा० सत्यकेतु उसी के लिए जिए तथा उसी के लिए मरे। उनके जीवन से उसी संस्कृति की सुगन्ध दिग्दिगन्त में फैली थी।

—आचार्य सत्यव्रत राजेश

प्राध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सरस्वती के वरद पुत्र--सत्यकेतु

—सुभाष विद्यालंकार

डाक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान् थे । गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के योग्यतम स्नातकों में उनका स्थान था । गुरुकुल की शिक्षा पूरी कर लेने के बाद वे कुछ समय तक पत्रकारिता के क्षेत्र में काम करते रहे किन्तु उनकी वास्तविक रुचि अध्ययन और अध्यापन में ही थी । अतः वे इतिहास के प्राध्यापक बनकर गुरुकुल आ गये । वे उच्च अध्ययन के लिये पेरिस विश्वविद्यालय गये जहाँ उन्होंने भारत की गोत्र व्यवस्था के सम्बन्ध में शोध प्रबन्ध लिखकर डी० लिट् की उपाधि सम्मानपूर्वक प्राप्त की । पेरिस से लौटकर वे अपना सम्पूर्ण समय अध्यापन में ही लगाना चाहते थे किन्तु तब गुरुकुल की परिस्थितियाँ अनुकूल न होने के कारण उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी । वे मसूरी में रहकर साहित्य साधना में जुट गये । सत्यकेतु जी ने ३६ ग्रन्थों का प्रणयन किया । इनमें से प्रत्येक ग्रन्थ उपयोगिता विषयप्रतिपादन, शैली और साहित्य सौष्ठव की दृष्टि से अनुपमेय है ।

इतिहास के क्षेत्र में डा० सत्यकेतु जी का स्थान अद्वितीय था किन्तु इतिहास के अतिवृत्ति समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य के क्षेत्रों में भी उनकी रचनाओं को उचित स्थान प्राप्त हुआ है । साहित्य साधना और राष्ट्रभाषा हिन्दी में श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना करने के लिये उत्तर प्रदेश सरकार, दिल्ली-प्रशासन, काशीनगरी, प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता और हिन्दी समिति, इन्दौर आदि अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थानों ने उन्हें पुरस्कार आदि से सम्मानित किया था । इतिहास, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र आदि विषयों के उनके ग्रन्थ न केवल उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिये अपितु प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षा देने वाले प्रतियोगियों के लिये भी सहायक हैं । लखनऊ, राजस्थान, बिहार, गोरखपुर, विक्रय, सागर और जबलपुर आदि अनेक विश्वविद्यालयों में उनके ये ग्रन्थ एम०

ए० और बी०ए० के पाठक्रमों में निर्धारित हैं ।

विद्यार्थियों और प्रतियोगियों को ध्यान में रखकर डा० सत्यकेतु ने 'प्रमुख राज्यों के संविधान' ग्रन्थ की रचना की थी । इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण स्थापित हो चुके हैं । इसमें ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रान्स, सोवियतसंघ और स्विटजरलैण्ड इन पाँच देशों के संविधानों का विशद विवेचन सरल और रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है । संसार के संविधानों में इन पाँच देशों की शासन पद्धतियों का अपना-अपना महत्त्व है । स्वतन्त्र भारत के संविधान की रचना करते समय संसार के उन्नत और प्रगतिशील देशों के संविधानों पर ध्यान दिया गया था । ब्रिटिश न्याय व्यवस्था की भांति भारत के लिए ग्रेट ब्रिटेन की शासन व्यवस्था विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण रही । १९४६ के संविधान द्वारा भारत में जो शासन व्यवस्था स्थापित की गई है उसमें ब्रिटिश-लोकतन्त्रीय संस्थाओं को बहुत अंशों में अपनाया गया है । ब्रिटेन के अधीन लंका, बरमा आदि देशों ने भी स्वाधीन होने के बाद ब्रिटिश शासन-पद्धति को ही अपनाया । कैंनेडा, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि औपनिवेशिक देशों में तो ब्रिटिश शासन प्रणाली का ही अनुकरण किया जा रहा है । अमेरिका की शासन पद्धति ब्रिटेन से बहुत भिन्न है । वहाँ संसदीय शासन पद्धति के स्थान पर अध्यक्षीय शासन प्रणाली अपनाई गई है और सत्ता के पृथक्करण का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है । अमेरिका महाद्वीप के अनेक स्वतन्त्र देशों ने अपने संविधान अमेरिकी संविधान के आधार पर ही बनाये हैं ।

स्विटजरलैण्ड के संविधान का विशिष्ट महत्त्व है । वहाँ प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन पद्धति बहुत सफल रही है । इसलिए इस पद्धति का अनुशीलन करने के लिए स्विटजरलैण्ड की शासनविधि महत्त्वपूर्ण है ।

सोवियत संघ में कम्युनिस्ट शासन प्रणाली है । एशिया के विशाल देश चीन तथा पूर्वी यूरोप के पोलैण्ड, हालैण्ड, बल्गारिया, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया हंगरी और पूर्वी जर्मनी आदि कई देशों ने अपनी शासन व्यवस्था रूसी कम्युनिस्ट शासन प्रणाली के आधार पर निर्धारित की है । कम्युनिस्ट देश अब तक रूसी शासन प्रणाली को आदर्श मानते रहे थे, अतः सोवियत संघ के संविधान का अध्ययन अपरिहार्य है ।

आज से दो सौ वर्ष पूर्व हुई फ्रांसीसी क्रान्ति का न केवल यूरोप के देशों को शासनप्रणालियों और विचारधारा पर गहरा असर पड़ा था बल्कि संसार के अनेक देशों पर भी फ्रांसीसी क्रान्ति की विचारधारा का

प्रभाव पड़ा था। फ्रांसोसो शासन पद्धति की अपनी कुछ विशेषताएँ थीं। वहीं संसदीय शासन पद्धति होने के बावजूद ब्रिटेन की भाँति दो प्रमुख राजनीतिक दल नहीं थे। वहाँ अनेक राजनीतिक दलों के कारण कोई स्थायी सरकार नहीं बन पाती थी। फ्रान्सीसी जनता ऐसी राजनीतिक अस्थिरता को देश के लिये हानिकारक नहीं मानती थी। उसकी मान्यता थी कि केवल दो राजनीतिक दलों की सत्ता लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली के अनुरूप नहीं होती। इस दृष्टि से फ्रान्स की संवैधानिक व्यवस्थाओं का ऐतिहासिक महत्व है। इन पर विद्वान् लेखक ने समुचित प्रकाश डाला है।

उपरोक्त पांच देशों के संविधान और इनके अधीन स्थापित शासन-पद्धतियाँ संसार की शासन व्यवस्थाओं की प्रतिनिधि हैं। डा० सत्यकेतु ने विभिन्न देशों के संविधान और शासनपद्धतियों जैसे जटिल और दुरूह विषय को सरल भाषा और रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। 'प्रमुख राज्यों के संविधान ग्रन्थ को भी डा० सत्यकेतु के अन्य ग्रन्थों की भाँति विभिन्न विश्वविद्यालयों में राजनीतिशास्त्र के बी०ए० पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया है।

डा० सत्यकेतु ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों तथा अपने व्यावसायिक अनुभवों के आधार पर रिपोर्ताज शैली में कई उपन्यास भी लिखे जो अत्यन्त लोकप्रिय हुए। चाणक्य पतन और उत्थान, उनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं तो होटल माडर्न और अन्तर्दाह सामाजिक उपन्यास। आर्यसमाज का इतिहास उनकी अन्तिम रचना है जो सात खण्डों में प्रकाशित हुई है। वे अंग्रेजी में आर्यसमाज का संक्षिप्त इतिहास महाभारत के शान्ति पर्व के आधार पर भीष्म के विचार और ऐतिहासिक उपन्यास अशोक भी लिख रहे थे किन्तु नियति को यह स्वीकार न था।

—सुभाष विद्यालंकार

ओ३म्
सामवेद संहिता

भाषा काव्यानुवाद

लेखिका—श्रीमती प्रकाशवती बुग्गा शास्त्री

सामवेद संहिता भाषा काव्य पुस्तक में प्रत्येक मंत्र का भावार्थ कविता में अस्तुत किया गया है। यह सामवेद की पुस्तक कथा व पाठ के लिए सर्वोत्तम साधन है। इस पुस्तक को सरल हिन्दी में कविता में लिखा गया है। यह ग्रन्थ संस्कृत के अनभिज्ञ व्यक्तियों को भी शीघ्र समझ में आयेगी—इस ग्रन्थ का आर्यसमाजों के सत्संगों में सस्वर पाठ, गायन का रसास्वादन सन्तप्त हृदयों को परमानन्द की अनुभूति प्राप्त करा सकेगा। आशा है कि आर्य जनता इस ग्रन्थ का स्वागत करेगी—और लेखिका का यह परिश्रम सफल होगा। लेखिका का एक भजन पुस्तक जिसमें प्रभु भक्ति व शिक्षाप्रद गीतों का संग्रह है। यह भजन पुस्तक 'भक्ति संगीत सुधा' के नाम से सुशोभित है। संगीत प्रेमी लाभ उठावें।

[शुभकामनाएं—दि० आ० प्र० समा

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित :

फोन : 2201159
2210073

विद्या धन सर्वश्रेष्ठ है न भाई बांट सकता है, न चोर
चुरा सकता है।

विश्वम्भर नाथ भाटिया

(प्रबन्धक)

दयानन्द मॉडल स्कूल
विवेक विहार, दिल्ली-११००३२

निवास : एच-१४, कृष्ण नगर, दिल्ली-५१ फोन २२१२०७६

कारों और स्कूटरों के मालिकों

आप १००० रु० का जुर्माना क्यों भरें

क्या आप जानते हैं ?

- कि मोटर वाहन अधिनियम १९८८ की धारा १९० के अधीन जो १ जुलाई से लागू होगी, वाहन प्रदूषण के संबंध में निर्धारित मानकों का उल्लंघन करने पर आपको १००० रु० का जुर्माना देना पड़ सकता है।
- कि केन्द्रीय मोटर वाहन नियमों के नियम ११५ (२) में रखे गए इन मानकों के अनुसार वाहनों के खड़े रहने पर निकलने वाले धुएं में कार्बन मोनो-आक्साइड की मात्रा कारों के मामले में ३ प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। सभी डीजल चालित वाहनों का धुआं तेज गति में ६५ हार्टिज यूनिट से अधिक नहीं होना चाहिए।

क्या आप यह भी जानते हैं ?

- कि केन्द्र सरकार ने वाहन मालिकों को अपने इंजनों की उचित रूप से जांच करने व उन्हें सही कराने के लिए ३ माह का और समय दिया है। यदि आप एक अक्टूबर, १९८९ तक ऐसा करने में असमर्थ रहते हैं और आपका वाहन मानकों का उल्लंघन करता है तो आप मोटर वाहन अधिनियमों के अनुसार १००० रु० के दण्ड के भागी होंगे।

आपके लाभ के लिए

- दिल्ली प्रशासन नवम्बर १९८७ से कारों और स्कूटरों से निकलने वाले धुएं में कार्बन मोनो आक्साइड की जांच करने के लिए शहर के विभिन्न पेट्रोल पम्पों में निशुल्क सुविधा प्रदान कर रहा है।
- लगभग एक लाख वाहनों की जांच की जा चुकी है। इनमें से ४७ प्रतिशत वाहनों के धुएं में निर्धारित स्तर से अधिक मात्रा में कार्बन मोनो आक्साइड पाई गई।

प्रति लिटर अधिक दूरी

- परिवहन निदेशालय के विशेषज्ञ आधुनिक यंत्र की सहायता से वाहनों से निकलने वाले धुएं की जांच करने के बाद धुएं की मात्रा के बारे में प्रमाण पत्र देते हैं और उसे ठीक करने के लिए सुझाव भी देते हैं। यदि जरूरी

हो तो वायु-इंधन अनुपात सही करने के लिए कार्बोरेटर का एडजस्टमेंट निःशुल्क भी किया जाता है।

—कार्बोरेटर के सही एडजस्टमेंट से वाहन प्रदूषण ही कम नहीं होता बल्कि, प्रति लिटर पेट्रोल से अधिक दूरी भी तय होती है जिससे इंधन पर खर्च १०० रु० प्रति माह तक की बचत की जा सकती है।

निःशुल्क प्रदूषण जांच केन्द्र

—आपकी कार या स्कूटर से निकलने वाले घुएं की मात्रा उचित स्तर तक बनाए रखने में सहायता के लिए परिवहन निदेशालय ने दिल्ली में अपने कार्यालयों में प्रदूषण जांच केन्द्र स्थापित किए हैं जो निम्नलिखित हैं—

१. मुख्यालय : ५/६ अण्डर हिल रोड

२. क्षेत्रीय कार्यालय : जनकपुरी इण्डस्ट्रियल सर्विस सेंटर, बी ब्लॉक, जनकपुरी

३. वाहन निरीक्षण यूनिट माल रोड

४. क्षेत्रीय कार्यालय : शेख सराय फेज-२ डी० डी० ए० शापिंग कम्प्लेक्स सेंटर

५. क्षेत्रीय कार्यालय नई दिल्ली ३ तिलक मार्ग

६. वाहन निरीक्षण यूनिट बुराड़ी

इसके अतिरिक्त शहर के विभिन्न भागों में दो चलते-फिरते जांच दल भी कार्य कर रहे हैं।

समय और दिन

—यह सेवा प्रतिदिन (शनिवार और रविवार छोड़कर) सुबह १० से सायं ५ बजे तक उपलब्ध है।

—आप उपरोक्त किसी भी जांच केन्द्र में आ सकते हैं और निःशुल्क जांच सेवा का लाभ उठा सकते हैं।

आपके लाभ के लिए दिल्ली प्रशासन द्वारा दी गई सेवा को सुधारने के लिए यदि आपके पास कोई सुझाव हो तो कृपया लिखें :

जग प्रवेश चन्द्र

मुख्य कार्यकारी पार्षद

दिल्ली प्रशासन

पुराना सचिवालय, दिल्ली-११००५४

ओ३म्

आर्य विद्या मन्दिर

आर्यसमाज प्रताप नगर, दिल्ली-७

स्थापना : जून १९६७

कक्षाएं : नर्सरी, के०जी, प्रथम से पंचम तक (हिन्दी माध्यम अंग्रेजी सहित)

उद्देश्य : विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण, ज्ञान भावना उजागर करने, धर्म शिक्षा, अच्छे नागरिक तैयार करना, छात्रों के व्यक्तित्व का चहुंमुखी विकास करने पर विशेष ध्यान देना ।

उपलब्धियां : अनेक सांस्कृतिक समारोह पुरस्कार, बैंड, वासुरी व पी०टी० आदि ।

पुस्तकालय : बच्चों के लिए अनेक सुविधाएं जैसे—ठंडा पानी, प्रारम्भिक चिकित्सा व फरनीचर आदि ।

अध्यक्ष

व्यवस्थापक

मुख्याध्यापिका

श्री अमीरचन्द्र सभरवाल श्री महाराज कृष्ण सभरवाल

श्रीमती रजिन्द्र कौर

एम०ए०वी०एड०

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज तिलक नगर नई दिल्ली

द्वारा संचालित

दयानन्द आदर्श विद्यालय [मान्यता प्राप्त]

नर्सरी, के० जी, प्रथम से आठवीं कक्षा तक हिन्दी माध्यम अंग्रेजी सहित ।

उद्देश्य : विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण, धार्मिक भावना उजागर करने, अच्छे नागरिक तैयार करने तथा छात्रों के व्यक्तित्व का चहुंमुखी विकास करने पर विशेष ध्यान देना ।

उपलब्धियां : अनेक सांस्कृतिक समारोहों में विशेष पुरस्कार तथा दिल्ली नगर निगम द्वारा प्रतिवर्ष मेधा की परीक्षा में अनेक छात्रवृत्तियां प्राप्त करना ।

स्टाफ, पुस्तकालय, विज्ञान प्रयोगशाला पूर्णतया सुसज्जित हैं ।

शुभ कामनाओं सहित

श्री महाराज कृष्ण प्रदीप प्रिन्टर्स, ६, रामबाग रोड, दिल्ली-७

श्री वैद्य कन्हैयालाल, आर्य दवाखाना, रासबिहारी मार्ग, दिल्ली

श्री हरिश्चन्द्र दुआ, दुआ लाईट हाऊस, गांधी नगर, दिल्ली-३१

श्री महेन्द्र पाल वर्मा, आदर्श ज्वेलर्स, गांधी नगर, दिल्ली-३१

श्री सोहन लाल, पापड़, बड़ियां वाले, लाजपत नगर, नई दिल्ली-२४

श्री भोलाराम सुशीलकुमार, कपड़े वाले, महरोली, नई दिल्ली-३०

श्री आर०आर० सलूजा, महरोली, नयी दिल्ली-३०

श्री लखोराम कटारिया, जे-२, साकेत, नयी दिल्ली-१७

श्री पुष्करलाल आर्य, १२१, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता

मधुर संगीतमय प्रवचन के लिए सम्पर्क करें

वर्तमान समय और विज्ञान की अनुपम एवं अद्भुत देन ।

“जापानी म्यूजिक स्टू मैट” । जिसमें गिटार, प्यानो, बंसरी, हारमोनियम, तबला, ढोलक, डिस्को इत्यादि लगभग ३० से अधिक वाद्य हैं । एक ही व्यक्ति बजाता है एक ही गाता है तथा प्रवचन भी गायक स्वयं ही करता है । आर्यसमाज के उत्सव, कथा व पर्व के अवसर पर, अथवा नामकरण, मुण्डन, विवाह, जन्म-दिन व क्रिया के विशेष अवसर पर उपर्युक्त, इतनी सारी विशेषताओं का एक साथ आनन्द लेने के लिए निम्न पते पर सम्पर्क करें ।

— ब्रजपाल शास्त्री

C-५ A/२५ जनकपुरी, नई दिल्ली-११००५८

रतनचंद आर्य पब्लिक स्कूल

आर्यसमाज वाई-ब्लाक, सरोजनी नगर,
नई दिल्ली-११००२३

यह स्कूल गत १५ वर्षों से आर्यसमाज मंदिर, सरोजनी नगर में सुचारु रूप से चल रहा है। इसका सम्बन्ध आर्य विद्या परिषद् दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ है। श्री रतनचन्द जी सूद इस विद्यालय के चेयरमैन हैं और उनके ट्रस्ट के द्वारा ही यह स्कूल खोला गया था।

इस विद्यालय ने गत तीन वर्षों में बहुत उन्नति की है। यह विद्यालय नई दिल्ली नगर पालिका से मान्यता प्राप्त है। इस स्कूल में नर्सरी, के०जी०, प्राइमरी कक्षाएं चल रही थीं। गत दो वर्षों से कक्षा-६ और ७ भी प्रारम्भ कर दी गयी हैं। इस स्कूल में आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ नैतिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है तथा बच्चों को प्रार्थना मन्त्र, संध्या, हवन आदि भी सिखाये जाते हैं।

श्री रतनचन्द सूद जी के कई लाख रुपए के आर्थिक सहयोग से विद्यालय में १८ कमरों का निर्माण हो चुका है। बहुत शीघ्र ही यह स्कूल कक्षा ८ तक हो जाएगा।

अनिता कपिल
प्रधानाचार्या

रोशन लाल गुप्ता
प्रबन्धक

ओ३म्

आर्यसमाज गांधी नगर, दिल्ली-३१

द्वारा संचालित

आर्य पुत्री प्रा० पाठशाला

(नगर निगम से मान्यता एवं अनुदान प्राप्त)

नर्सरी, के०जी० से प्रथम से पाँचवीं कक्षा तक

हिन्दी माध्यम, अंग्रेजी सहित ।

उद्देश्य :—विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण के साथ-साथ बच्चों को नैतिक शिक्षा एवं राष्ट्रीयता, धार्मिकता तथा राष्ट्रीय एकता के लिए मनःस्थिति का विकास किया जाता है ।

उपलब्धियां :—आर्यसमाज के सभी समारोहों में सक्रिय योगदान एवं नगर निगम से मेधावी छात्रों को विशेष पुरस्कार तथा योग की शिक्षा से सुदृढ़ व स्वस्थ रहने की आदत डाली जाती है ।

॥ ओ३म् ॥

शुभ कामनाओं सहित

श्रीमती नेमवती धर्मार्थ ट्रस्ट

६६-ई, कमला नगर, दिल्ली-७

संस्थापक—श्यामसुन्दर आर्य

फोन : २६१६८७६, २६१४१७५

- * वेद मन्दिर मथूरा में वैदिक मिशनरी विद्यालय के निर्माण में सहयोग ।
- * ग्राम बादली, रोहतक हरियाणा के श्री जगन्नाथ आर्य सेवाश्रम का उद्घाटन
- * निःशुल्क विभिन्न संस्थाओं को प्रचारार्थ जीप द्वारा सहयोग
- * ऋषि के मंतव्यों के प्रचार-प्रसार में तन-मन-धन से सहयोग

सहयोगी संस्थाएँ—

सर्वश्री श्यामसुन्दर अरुणकुमार

सर्वश्री बंसल वायस

२१२२, बहादुरगढ़ रोड, सदर बाजार, दिल्ली-६

६६-ई, कमला नगर, दिल्ली-७

फोन : कार्यालय ७७०८०३, ७७०२१७

फोन : २६१६८७६, २६१४१७५

थोक विक्रेता—लोहा, तार एवं सरिया

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिन्दी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

संपादक : डा० नारायणदत्त पालीवाल

यदि आप चाहते हैं कि बेहतर पढ़ने को मिले तो आपकी इस जरूरत को

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिन्दी अकादमी की साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका पूरा करती है, जो महज एक पत्रिका नहीं पूरी किताब है।

जिसमें वर्ष भर में छः सौ पृष्ठों की साहित्यिक सामग्री उपलब्ध करायी जाएगी,

जिसमें देश के जिम्मेदार लेखक हिस्सेदारी करेंगे।

यह पत्रिका समकालीन साहित्य का रचनात्मक मूल्यांकन और गतिविधियों को प्रस्तुत करती है। एक सौ बावन से अधिक पृष्ठ की इस पत्रिका के एक अंक का मूल्य पांच रुपये, वार्षिक बीस रुपये। आपका सहयोग हमें बेहतर सेवा के लिए और अधिक प्रोत्साहित करेगा।

वार्षिक शुल्क मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट/पोस्टल आर्डर द्वारा इस पते पर भेजें :—

सचिव,

हिन्दी अकादमी, दिल्ली

ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,

आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२

* ओ३म् *

शुभकामनाओं सहित :



आर्यसमाज राणा प्रताप बाग

दिल्ली-११०००७

* ओ३म् *

शुभकामनाओं सहित :

रतनदेवी आर्य कन्या उच्चतम

माध्यमिक विद्यालय

कृष्ण नगर, दिल्ली-११००५१

नेतराम शर्मा
(प्रबन्धक)

श्रीमती ईश्वर देवी धवन
(प्रधाना)

श्रीमती सुशीला गोयल
(प्रधानाचार्या)

उत्तम स्वास्थ्य के लिए
गुरुकुल कांगड़ी फार्मसी, हरिद्वार
की औषधियाँ सेवन करें ।

रोगों से बचाये । स्वस्थ बनाये ॥

गुरुकुल च्यवनप्राश



अब नये
प्लास्टिक पैकिंग
में भी लीजिये

विटामिन 'सी' युक्त
स्वास्थ्यवर्धक
स्वतंत्र संस्करण



गुरुकुल कांगड़ी फार्मसी (हरिद्वार)

शाखा कार्यालय :—६३, गली राजा केदारनाथ, चावड़ी बाजार,
दिल्ली-६ फोन : २६१८७१

ओ३म् बिन्दु बिन्दु विचार

स्व० लालमन आर्य के रचित भजनों कविताओं के अंश

शरीर—यह तन मांटी का स्थूल, बुर्ज कब ढह जाय पता नहीं है ।

मन—मन कंगाली मन धनी, मन कायर मन शेर ।

मन दुखिया और मन सुखी, मन प्यारा मन बैर ।

मां—माता का ऋण संसार में, उतरा न उतर सके है ।

व्यापार—घन खूब कमा आनन्द मना, पर ऐसा कोई अपराध न कर ।

अपना घरबार वसाने में, औरों का घर बरबाद न कर ॥

दहेज प्रथा—होकर सेठ साहूकार, लड़का बेचें सरे बाजार

अपने जायों की कीमत लगाओ नहीं ।

कहा मानो विनाश कराओ नहीं ॥

अछूत—अछूत वह है जिसे छूना नहीं चाहिए जैसे बिजली का तार, जलता 'अंगार, सांप, बिच्छू आदि, लेकिन अच्छा भला इन्सान कैसे अछूत हो सकता है ।

मृत्यु भोज—एक ओर स्यापा होवे, रो रही विधवा नार ।

एक ओर पंचायत बैठी, खा रही जीमन हार ॥

पत्थर का हृदय नहीं फटे ।

इतने अनर्थ तो देख रहे, पर जीमन को तैयार ।

कहे 'लालमन' इस जीमन को बार-बार धिक्कार ॥

पतन से नहीं हटे ॥

मूर्ति पूजा—कोई पत्थर से सर फोड़ रहा ।

जड़ मूरत को कर जोड़ रहा ॥

बालू से तेल निचोड़ रहा ।

कब इससे तेल निकलता मिलता उत्तर साफ नकारों में ।

हिन्दी—इतने साल निकलने पर भी हिन्दी को दुत्कार रहे ।

अंग्रेजी रखने को अपने देश का मान उतार रहे ॥

प्रांत-प्रांत में फूट डालकर, आपस में तकरार रहे ।

हिन्दी वालो जाग उठो मीन ब्रत क्यों धार रहे ॥

गौ—गौ मरती विदेशी राज्य में, अब क्यों मरती स्वराज्य में ।

गौ हत्या विरोधी विधान है ! भगवान पूरा कब होगा ॥

शराब—शराब की बोतल भर रही जो नाश देश का कर रही ।

नाश नशा समान है भगवान पूरा कब होगा ॥

सौजन्य—लालमन आर्य जन सेवा संस्थान

With best compliments from :

ANAND

Phone : Off 236957
Res. 7124999
7224186

AVM TRADERS

House of Resistors, Capacitors
and Semiconductors

1696/7, Mohan Building, Bhagirath Palace,
Delhi-110006

* ओ३म् *

आर्यसमाज सदर बाजार दिल्ली

(स्थापित सन् १८७८)

इस शुभ अवसर पर अपनी शुभकामनाएँ
समर्पित करता है।

लाला किशोरी लाल
(प्रधान)

वैद्य इन्द्रदेव
(मन्त्री)

With best compliments from :

KEMICURA

DISPENSING CHEMISTS

Shop No. 871-867, Ward No. 6, Mehrauli.

Phone : 631159

VENUS Estate Agents

I Road, No. 9, Maharani Bagh,
Mahatma Gandhi Road, New Delhi-110065

Sale, Purchase & Renting of :

Residential, Industrial, Commercial & Farmland

Hello : 2920618, 2926319

NAGPAL Trading Co.

CARSEAT COVERS & ACCESSORIES
For Maruti, Ambassador Fiat Jeep & Gypsy

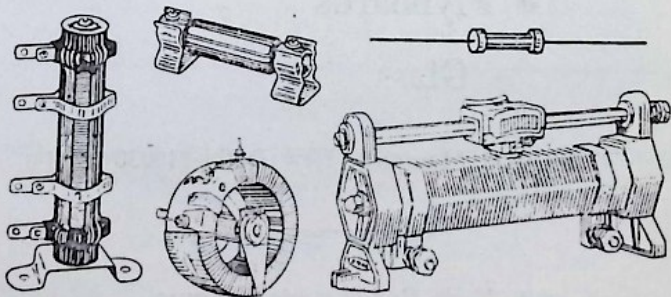
Manufacturers & Sellers of—

Car Seat Covers, Car Stereos, Auto Lights, Solar Films, Carpets, Jeep Hoods,
Car Matting, Rain Covers, Carriers & Fancy Wheel Caps Etc.

Office—Shop No. 2, Zorawar Singh Marg. Near Korla Bridge,
Kashmere Gate, Delhi-110006

STEAD®

**WIREWOUND
RESISTORS
RHEOSTATS
POTENTIOMETERS**



STEAD ELECTRONIC INDUSTRIES®

17, UA, JAWAHAR NAGAR, DELHI-110 007

PHONES: 291-8727, 291-9325, 23-7810

GRAMS: RHEOSTATS TELEX: 031 78168 STED IN

With best compliments from :



KSC

Phone : 6509411

Kalra Sales Corporation

- * Timber
- * Plyboards
- * Glass

893-A/8 Mehrauli, New Delhi-110030

A New But Trusted Name

With Best Compliments from :

M/s Fixwell

Cables, Cords & Components

M/s Fixwell

Fixwell Electrical & Electronic (P) Ltd.

With best compliments from :

Shop 524444
Phones : Resi. 5436828
5432701

S. S. KNITWEARS

Residence :
A-6, Vishal Enclave
New Delhi.

Shop :
20, Narain Market,
Sadar Bazar, Delhi-6

खुशखबरी

पंजाब में ५० वर्षों से सफलतापूर्वक कार्य करते हुए अब दिल्ली में भी
स्थापित आर्यों की गारण्टी युक्त विश्वसनीय दुकान

केदार सन्स ज्वैलर्स

२६४६ बैंक स्ट्रीट, करौल बाग, तई दिल्ली फोन : ५७१८०८६
सोने व हीरे के विशेष शोभनीय व तैयार जेवरात के लिए अवश्य पधारें ।
आर्य परिवारों को विशेष छूट व भ्रातृभाव हमेशा उपलब्ध रहेगा ।

सत्यकेतु स्मृति अंक

२४१

Why more & more people are Buying more & more apartments and houses in eros group's housing schemes ?

- REASON 1. The schemes are located in south of New Delhi in postal zone New Delhi 110044 so close to the entire Social, Cultural, political & business activities which are centred in and around south Delhi. All the Five star Hotels, Cinemas, shopping centres & posh south Delhi colonies are within few minutes reach. The maximum appreciation on investment is always in South of Delh Colonles.
- REASON 2. The nursing Project is located only 500 yards away from DDA Housing Scheme under construction 2/3 Kilometers from Okhla industrial Area 5 Kllometers from Greater Kailash-II, 8 Kilometers from Nehru Place.
- REASON 3. The schemes are dully approved by the Govt. and include all modern amenities like Schools, Clubs, swimming Pool, community centres, shopping centres, Play Grounds Parking spaces etc. etc, providing a decent lliving in a decent environment. A 5 star Hotel and a Golf course is only a Kilometer away.
- REASON 4. The Buildings are already under construction.
- REASON 5. EROS Group believes only in quality construction. Thus a guarantee of Super Construction Speciflca-tions.
- REASON 6. Inspite of all the frills and very close to all prime locations, the prices are low, Only 1/3rd of South Delhi Prices and also there is Rs. 15/-Per SOFT inaugural discount.
- REASON 7. APT SIZES ECONOMY : DRAWING DINING, 2 BEDROOMS 2 TFILETS 745. SQFT. DELUXE : 2 BEDROOMS 1150 SQ. FT. DELUXE : 3 BED-ROOMS -1450 SQ. FT. There is also a choice of three storied complete houses.
- REASON 8. Because of low prices there is a tremendous scope for appreciation in a short period. Because it is

on freehold land, no permission is required for resale, no lease money or Profit sharing in the event of resale.

REASON 9. it is original booking—only 10% Payable as advance, balance on easy Instalments—The company will assist in obtaining loans from Financial institutions from 1.0 lakh to 3.0 lakhs.

AND THEREFORE BEFORE YOU LEAVE FOR YOUR HOLIDAYS BOOK YOUR APARTMENT. YOU MAY FIND THE PRICES HIGHER BY Rs. 25/- PER SQFT ON YOUR RETURN.

IF YOU ARE LAZY YOU WOULD LOSE THE CHNACE SPEED UP

Promoters :

AJAY ENTERPRISES Ltd.

Eros Cinema Building, Jangpura Extn. New Del i-110014

Tel. 694304-5-6, 615482

For further enquiriea & Site visit, contact :

INTERNATIONAL TRADE TOWER

Hotel cum commercial Complex, Nehru Place,

New Delhi. Phone : 6415727

2285555

फोन : 2281111

2280955

मेड आर्टीक

विशेषज्ञ द्वारा आंखों की जांच
करके चश्मा बनवाने के लिए

आधुनिक व आकर्शक नजर व धूर के चश्मों का अनुपम केन्द्र

१८५/११ डी, मेन रोड, मौजपुर, दिल्ली-५३

आवृत्तिक दस्तों में एक मात्र विश्वप्रणीत नाम ...

Sparsh ब्रा
स्पर्श BRA

श्वेता ब्रा
Shvaita BRA

सारिता ब्रा
Saritha BRA

शालिनी ब्रा
Shalini BRA

Groversons

Paris Beauty

पेरिस ब्यूटी

गोवर्त
सन्स

• BRA • PANTIES • UNDERWEAR • BANIAN •

With Best Compliments from :
VINYL PRODUCTS

Manufacturers of : PVC COMPOUNDS & PVC PRODUCTS

Office : 63, Darya Ganj, New Delhi-110002

Phones : 3275778, 3272212, 3276363, 3276087

Telex : 31-65333, 31-62226, Cable ; POLYMER IPTC-IN

Works : 9/51, Kirti Nagar Industrial Area, New Delhi-110015

Phones : 533173, 539389

With Best Compliments from :

Phones 274935
276604

Manoj Electronics

Authorised Dealer :—

- ☐ Onida ☐ Videocon ☐ Sony-Orson ☐ Philips ☐ Optonica
☐ E. C. ☐ Hotline ☐ Canon ☐ M E C T-Series ☐ Konark
☐ Krison ☐ Jawkak ☐ Pearl ☐ Gulmarg ☐ Titan ☐ H.M.T.
☐ Sumeet.

3739, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002

॥ ओ३म् ॥

शुभकामनाओं सहित :



आर्यसमाज दीवान हाल
दिल्ली-६

सूर्यदेव
(प्रधान)

मूलचन्द गुप्त
(मन्त्री)

सत्यकेतु स्मृति ग्रंथ

With best compliments from :



268292

268293

279900

Telex : 031-78090 SBP-IN



Pustak Mahal

(Incorp. HIND PUSTAK BHANDAR)

PUBLISHERS, BOOKSELLERS & ORDER SUPPLIERS

**10-B, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
NEW DELHI-110002**

With Best Compliments from :



Om Prakash Jitendra Kumar & Co.

Wholesale Dealers :—

Ballarpur Industries Ltd. (Paper Divn.)

63, DARYA GANJ, NEW DELHI-110002

Tel. : 270191-91, 271380 Gram : 'OJACO' Telex : 31-62270



देश और विदेश में लोकप्रिय

एम डी एच मसाले

अपनी शुद्धता और श्रेष्ठता के कारण एम.डी.एच. मसाले देश और विदेश में लोकप्रिय हैं। 69 वर्षों से लाखों परिवार इन मसालों के उत्तम स्वाद और सुगंध का आनन्द उठा रहे हैं। आप भी एम.डी.एच. मसालों का प्रयोग करें और देखें यह आपके भोजन को कितना स्वादिष्ट और मजेदार बना देते हैं।



आर्यसन्देश—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान सेड, नई दिल्ली-

R.N.No. 32387/77 Post in N.D.P.S.O.

Licenced to post

on 21, 22-9-89

without prepayment

दिल्ली पोस्टल रजि० नं० डी० (सी०) 759

Licence No. U-139

पूर्व भुगतान बिना भेजने का लाइसेंस नं० यू० 139



दंत मंजन

लौंग युक्त

23 आनुवंशिक जड़ी
बुटियाँ से मिलित,
आपके घम का खरपर



आपके परिवार
के लिये पूर्ण दंत सुरक्षा

दांतों का दर्द, मुँह की दुर्गन्ध, मसूड़ों की
सूजन, ठंडा गर्म पानी लगना, मुँह में छाले
होना तथा दांतों की अन्य बीमारियों का
घरेलू इलाज

प्रतिदिन प्रयोग करें
अपने निकटतम दुकानदार से खरीदे

मन्त्रशिवां द्वी द्वी प्रा. लि.

9/44, इण्डस्ट्रियल एरिया, कीर्ति नगर,
नई दिल्ली- 110015

फोन : 537987, 537341, 539609

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, 15 हनुमान रोड, नई दिल्ली-1, फोन 310150
के लिए श्री सूर्यदेव द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा वैदिक प्रेस, गली
नं० १७, कैलाशनगर, दिल्ली-31 में मुद्रित । रजि० नं० डी० (सी०) 759